हिन्दी रंगमंच का विकास (1940 – 1960) : एक अध्ययन

(इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के विशेष सन्दर्भ में)

THE EVOLUTION OF HINDI THEATRE (1940 - 1960): A STUDY

(WITH SPECIAL REFERENCE TO IPTA & PRITHVI THEATRE)

पीएच. डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध – प्रबंध

शोध निर्देशक

डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी

स्वाती मौर्या

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली -110067

2022

Dated: 30 /06 /2022

DECLARATION

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **"Hindi Rangmanch Ka Vikas (1940 - 1960): Ek Adhyayan (Ipta Evam Prithvi Theatre Ke Vishesh Sandarbh Mein)" [The Evolution of Hindi Theatre (1940-1960): A Study (With Special Reference to Ipta & Prithvi Theatre)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution to the best of my knowledge.

I further declear that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarised in my Thesis, I will be solely responsible for the act.

Swati Maurya

SWATI MAURYA

Name of Student

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 30/06/2022

Certificate

This is to certify that the Ms. **SWATI MAURYA** a bona-fied Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D thesis entitled **"Hindi Rangmanch Ka Vikas (1940 – 1960) : Ek Adhyayan (Ipta Evam Prithvi Theatre Ke Vishesh Sandarbh Mein)" [The Evolution Of Hindi Theatre (1940 – 1960) : A Study (With Special Reference To Ipta & Prithvi Theatre)**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Dr. RAMAN PRASAD SINHA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. Raman Prasad Sinha
Associate Professor
Centre for Indian Languages
SLL&CS
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Prof. OMPRAKASH SINGH
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. सा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / J.N.U
नई दिल्ली / New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn. 4217, (D) 26704217, Telefax: (91-011) 26704217;
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

Scanned with CamScanner

अनुक्रमणिका

क्रमांक संख्या **पृष्ठ संख्या**

भूमिका..... i-v

प्रथम अध्याय : 1940 से 1960 का साहित्यिक – सांस्कृतिक परिदृश्य…….. 1 - 23

द्वितीय अध्याय : इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर : उद्भव और विकास…… 24 - 68

तृतीय अध्याय : इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन…. 69 -160

चतुर्थ अध्याय : इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का नाट्य शिल्प……. 161 - 218

पंचम अध्याय : इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का अभिग्रहण…… 219 - 235

उपसंहार…… 236 - 243

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची…… 244 - 251

भूमिका

प्राय: किसी भी रंगमंच का अपने समकालीन युगजीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शायद इसीलिए रंगमंच को देश - दुनिया में हो रहे राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष के साक्ष्य के रुप में देखा जाता रहा है। इसका कारण यह है कि जैसे – जैसे जनमानस की चेतना में परिवर्तन होता गया, वैसे – वैसे रंगमंच भी अपने स्वरुप तथा कार्यशैली को परिवर्तित और समृद्ध करता चला गया। इसीलिए किसी भी रंगमंच को सम्पूर्णता में समझने के लिए तत्कालीन परिवर्तन के इतिहास को समझना आवश्यक होता है।

यदि हम भारत में नाटक और रंगमंच के इतिहास को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यहाँ संस्कृत नाटक और रंगमंच की एक सुदृढ़ परम्परा थी। इस दौरान नाट्य कथ्य के रुप मे राजा-महाराजाओं की वीरता तथा उनकी प्रेम गाथाओं को केन्द्र में रखते हुए रंगमंच को कुलीन वर्ग के मनोरंजन तक ही सीमित रखा जाता था परन्तु नवीं – दसवीं शताब्दी तक धीरे – धीरे परिस्थितिजन्य विवश होकर नाटक और रंगमंच अपने शास्त्रीय रुप को खोता चला गया और एक लम्बे वर्षों तक लगभग सभी भाषाओं में निरंतर एक रिक्तता ही दिखलाई पड़ती है। इस समयान्तराल में नाटक तथा रंगमंच सामान्य जनता के मध्य लोकशैली के रुप में जीवित रहा।

अपने शास्त्रीय स्वरुप से दूर हो चुके ये नाटक और रंगमंच लगभग सभी भारतीय भाषाओं में एक लम्बे अन्तराल के बाद ब्रिटिश आगमन के साथ अठारहवीं शताब्दी में एक नया जीवन और स्वरुप प्राप्त करते हैं। हिन्दी भाषा भी इससे अछूती नहीं रही। अब नाटक और रंगमंच किसी व्यक्ति विशेष की प्रशंसा या कुलीन वर्गो के मनोरंजन तक सीमित नहीं रहा अपितु उससे कुछ कदम आगे बढ़ते हुए व्यावसायिक रुप ग्रहण करने लगा अर्थात् अब रंगमंच का मार्ग जनसामान्य के लिए प्रशस्त तो किया गया परन्तु टिकट के साथ, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की अधिकांश गरीब जनसंख्या अब भी रंगमंच से दूर रही।

जैसे – जैसे रंगमंच व्यावसायिकता की ओर अग्रसर होता गया, वैसे – वैसे उसमे अश्लीलता और फूहड़पन का भी प्रवेश होता गया, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण पारसी थिएटर है, जो अपने आर्थिक लाभ हेतु ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों को भी अश्लीलता के साथ प्रस्तुत करता था। इसी व्यावसायिक रंगमंच की अश्लीलता के विरोध में हिन्दी भाषा में शौकिया रंगमंडली का जन्म हुआ।

यदि देखा जाये तो हिन्दी भाषा में नाट्य लेखन का प्रारम्भ 19वीं शताब्दी से माना जाता है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को उसका प्रवर्तक। भारतेन्दु जी ही वो व्यक्ति है जिसने पारसी थिएटर के अश्लीलता के विरुद्ध शौकिया रंगमंच को जन्म दिया और नाटक को आम जनता तक पहुँचाया। इन्होने स्वयं अपने रचित नाटकों को अपने मित्र मंडलियों के सहयोग से मंच पर प्रस्तुत किया। लेकिन भारतेन्दु के बाद धीरे – धीरे यह परम्परा जीर्णकाय हो गई।

हिन्दी रंगमंच के इस विकास के दौरान हो रहे उथल – पुथल के मध्य बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में इप्टा (25 मई 1943 ई.) एवं पृथ्वी थिएटर (15 जनवरी 1944 ई.) के स्थापना के रुप में रंगमंच के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। कुछ ही माह के समयान्तराल में उदित दोनों रंगमंडलियों के स्वरुप में भिन्नता होने के बावजूद दोनों का उद्देश्य राष्ट्रहित से जुड़ा था। जहाँ इप्टा का स्वरुप अव्यावसायिक था वहीं पृथ्वी थिएटर एक व्यावसायिक रंगमंडली थी। इन दोनों रंगमंडलियों ने रंगमंच को एक नया आयाम प्रदान किया। इन्होने रंगमंच को न तो मनोरंजन तक ही सीमित रखा और न ही आर्थिक लाभ हेतु ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्रों को अश्लीलता और फूहड़ता के साथ दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया। इन सब के विपरीत इन दोनों संस्थाओं ने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए देश की स्वतंत्रता को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया और इसी उद्देश्य के तहत इन दोनों मंडलियों ने ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध देश की जनता को जागरुक करने हेतु रंगमंच को हथियार बनाया।

इतना ही नहीं इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने देश में उत्पन्न आपदा से पीड़ित लोगों की मदद करने हेतु भी रंगमंच को एक सशक्त हथियार के रुप में इस्तेमाल किया। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण बंगाल का अकाल है। इन्ही अकाल पीड़ितों की मदद हेतु इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के कलाकार अपने मंचन के बाद लोगों के समक्ष झोली फैलाकर खड़े हो जाते और दर्शक अपने सामर्थ्य के अनुसार पीड़ितों के सहयोग हेतु धनराशि प्रदान करते थे। इस एकत्रित धनराशि को इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर अकाल पीड़ितों की मदद हेतु उन तक पहुँचाते थे।

इस शोध का लक्ष्य 1940 से 1960 के दशक के दौरान हिन्दी रंगमंच में हुए क्रांतिकारी परिवर्तन को चित्रित करना है। इस चित्रण के दौरान हिन्दी रंगमंच के विकास में विशेषकर इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के उद्भव और विकास के विश्लेषण के माध्यम से रंगमंच के क्षेत्र में उसके संघर्ष, योगदान तथा उपलब्धियों को सुधिजनों के समक्ष प्रस्तुत करना है।

इस शोध के दौरान सबसे बड़ी समस्या इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित तत्कालीन नाटकों की मुद्रित प्रति प्राप्त करना था, विशेषकर इप्टा द्वारा मंचित नाटकों को। इसका कारण यह है कि इप्टा अपने नाटकों के मंचन हेतु देश के जिस कोने में जाता था, वहाँ की जनता से मिलकर उनकी समस्याओं को सुनता था और फिर उन्ही तत्कालीन समस्याओं को केन्द्र में रखकर अपना नाट्यलेखन करता था और फिर उसके कलाकार एक – दो अभ्यास के साथ ही उस नाटक का मंचन कर देते थे। कभी – कभी तो ऐसा होता था कि बिना किसी अभ्यास के ही उस नाटक को मंचित कर दिया जाता था। इन सब के दौरान वह नाट्यालेख बहुत सटीक और सधा हुआ नहीं होता था कि उसे प्रकाशित करवाया जाये। इन सब के बावजूद 1943 से 1960 के मध्य इप्टा द्वारा मंचित जो भी प्रमुख नाटक प्रकाशित हुए हैं , वह मुझे विभिन्न स्रोतों द्वारा प्राप्त हुए हैं। इप्टा द्वारा मंचित और प्रसिद्ध नाटक '**मैं कौन हूँ' , 'पहेली', 'दलम' , 'जालीदार पर्दे', 'शतरंज के खिलाड़ी'** इत्यादि मुझे नेमिचन्द्र जैन द्वारा गाजियाबाद (कौशाम्बी) उत्तर प्रदेश में स्थापित '**नटरंग प्रतिष्ठान**' से प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त इप्टा द्वारा सर्वाधिक मंचित '**नवान्न**' और '**अन्तिम अभिलाषा**' नाटक मुझे पुस्तकाकार के रुप में '**राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' नई दिल्ली** के प्रांगण में स्थित बुक शॉप से प्राप्त हुआ है। इन सब के अतिरिक्त मैं इप्टा के सशक्त हस्ताक्षर रहे और इप्टा के लिए ज्वलंत नाटक लिखने वाले **राजेन्द्र रघुवंशी** के '**पहेली**' के अतिरिक्त अन्य नाटकों की पांडुलिपियों को प्राप्त करने के प्रयास में उनकी बेटी **ज्योत्सना रघुवंशी** मैम से 29 फरवरी 2020 को उनके आगरा स्थित आवास पर जाकर मिली और इस मुलाकात में मैम ने मुझे यह जानकारी दी कि पिता श्री राजेन्द्र रघुवंशी जी की कुछ नाटकों की अव्यवस्थित पांडुलिपियाँ उनके पास तो थी परन्तु कई बार घर शिफ्ट करते समय उनसे गुम हो गई है। इसलिए कोई पांडुलिपि तो नहीं मिल पायी लेकिन उन्होने अपने स्मृति के आधार पर कुछ नाटकों के कथानक के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मुझे प्रदान की। जिससे मुझे तत्कालीन परिस्थितियों को समझने में काफी मदद मिली।

पृथ्वी थिएटर ने अपने उदय वर्ष 1944 ई. से लेकर 1960 ई. तक केवल आठ नाटक '**शकुन्तला', 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार', 'आहुति', 'पैसा', 'कलाकार**' और '**किसान**' का मंचन पूरे देश में भ्रमण करते हुए किया था। इनमे से '**शकुन्तला**' और '**गद्दार**' नाटक अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त अन्य छह नाटकों का प्रकाशन हुआ है, जो मुझे विभिन्न स्रोतों द्वारा प्राप्त हुआ है। '**दीवार**' और '**पठान**' नाटक मुझे अपने जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय नई दिल्ली के डॉ. भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय पुस्तकालय से प्राप्त हुआ।

इसके अतिरिक्त '**आहुति**' और '**पैसा**' नाटक गाजियाबाद (कौशाम्बी) स्थित **नटरंग प्रतिष्ठान** द्वारा प्राप्त हुए। '**कलाकार**' नाटक मुझे दिल्ली स्थित **संगीत नाटक अकादमी** से प्राप्त हुआ तथा '**किसान**' नाटक इलाहाबाद (वर्तमान में प्रयागराज) स्थित **हिन्दुस्तानी एकेडेमी** पुस्तकालय से प्राप्त हुआ। इन सब के अतिरिक्त मैने अप्रकाशित '**गद्दार**' और '**शकुन्तला**' नाटक की पांडुलिपि को भी प्राप्त करने का प्रयास किया और इसी प्रयास के तहत मैंने **शशि कपूर** की बेटी और पृथ्वी थिएटर की संचालिका रही **संजना कपूर मैम** से भी वार्तालाप करने का प्रयास किया। इसी फोनिक वार्तालाप के दौरान मुझे यह जानकारी मिली कि '**शकुन्तला**' नाटक की पांडुलिपि तो उनके पास भी नहीं है लेकिन '**गद्दार**' नाटक की पांडुलिपि उनके पास सुरक्षित थी परन्तु किसी विद्यार्थी ने ही उनसे नाटक की वह पांडुलिपि पढ़ने के लिए माँगी थी ,जो आज तक उन्हे वापिस नहीं मिली और अब उन्हे स्मरण भी नहीं है कि उन्होने वह पांडुलिपि किसे दिया था।

इन सब के अतिरिक्त **संगीत नाटक अकादमी** नई दिल्ली, कौशाम्बी उत्तर प्रदेश स्थित **नटरंग प्रतिष्ठान** आदि से इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर से संबंधित समाचार पत्रों के कुछ अंश प्राप्त हुए और मुंबई के एन. सी. पी. ए. पुस्तकालय, महाराष्ट्र स्टेट आर्काइब्स, इलाहाबाद स्थित हिन्दुस्तानी एकेडमी इत्यादि से इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर से संबंधित छिटपुट सामग्रियाँ प्राप्त हुई। जिससे अपने शोधकार्य को बेहतर बनाने में मुझे काफी मदद मिली।

प्रस्तुत शोध का प्रथम अध्याय 1940 से 1960 दशक के साहित्यिक – सांस्कृतिक परिदृश्य पर केन्द्रित है। इस अध्याय में तत्कालीन राजनैतिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक चेतना और आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए इस बात पर दृष्टिपात किया जायेगा कि तत्कालीन परिस्थितियाँ जनसामान्य के जीवन को किस प्रकार प्रभावित कर रही थी।

द्वितीय अध्याय इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के उद्भव और विकास पर आधारित है। जिसके अंतर्गत यहाँ विशद विवेचना की गई है कि वह कौन से कारण थे जिसके परिणामस्वरुप मई 1943 ई. में इप्टा एवं जनवरी1944 ई. में पृथ्वी थिएटर का उदय हुआ ? इन दोनों रंगमंडलियों की कार्य करने की पद्धति क्या थी और इनके नाट्य मंचन का उद्देश्य क्या था ? इन सब सवालों की पड़ताल इस अध्याय में की गई है।

इस शोध प्रबंध के तृतीय अध्याय में इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। जिसका आधार तत्कालीन समस्याओं को बनाते हुए इसे चार शीर्षकों में विभाजित किया गया है। ये चारों शीर्षक हैं – औपनिवेशिक स्थिति, विभाजन की समस्या, सामाजिक जागरण एवं समाज सुधार तथा पारिवारिक समस्याएँ।

चतुर्थ अध्याय में इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों के नाट्य शिल्प पर चर्चा करते हुए इनके प्रदर्शनकारी तत्वों पर विचार किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अध्याय में इनके नाटकों की भाषा, संवाद योजना, रंगसंकेत आदि के साथ – साथ इनके रंगमंच के साज –सज्जा , ध्वनि और प्रकाश आदि की विशेषताओं पर भी दृष्टिपात किया गया है।

इस शोध प्रबंध के पंचम अध्याय में इस बात की पड़ताल की गई है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों को तत्कालीन जनता द्वारा किस रुप में ग्रहण किया गया अर्थात् जिस इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर का उद्देश्य ब्रिटिश नीतियों के प्रति भारतीय जनता को जागरुक करना रहा था। क्या तत्कालीन जनता इन दोनों रंगमंच की उस चेतना को आत्मसात कर पा रही थी अथवा नहीं ? इन सब सवालों के जवाब इसी अध्याय में तलाश किये गये हैं । s

उपसंहार के अन्तर्गत हिन्दी रंगमंच के विकास को ध्यान में रखते हुए इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के स्थापना के उद्देश्य, उनके संघर्ष तथा उपलब्धियों का मूल्यांकन किया गया है।

अंत में मैं अपने शोध निर्देशक **डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा सर** को आभार प्रकट करना चाहूँगी। जिन्होने पूरे शोध के दौरान मेरी छोटी- बड़ी सभी त्रुटियों को सुधारते हुए इस शोधकार्य को सही दिशा प्रदान की। सर के ममत्व और आत्मीय सहयोग से ही यह शोध कार्य पूर्ण हो सका।

मैं आभार प्रकट करना चाहूँगी अपने दादा जी **श्री रामसरन मौर्या जी** का, जिन्होने शिक्षा के महत्व को समझते हुए मुझे इलाहाबाद के एक छोटे से कस्बे से निकाल कर उच्च शिक्षा हासिल करने हेतु देश की राजधानी दिल्ली तक पहुँचाया।

इसके साथ ही साथ मैं अपने जीवनसाथी मनीष का भी शुक्रिया अदा करना चाहूँगी, जिन्होने विवाहोपरांत मेरे ऊपर किसी भी प्रकार की घरेलू जिम्मेदारी नहीं आने दी अपितु मुझे अपने शोधकार्य हेतु स्वतंत्र रखा। जिसके परिणामस्वरुप मैं छात्रावास में रहकर अपने शोधकार्य को पूर्ण करने में सफल हो सकी । मनीष के सहयोग के बिना शायद यह असम्भव था।

प्रथम अध्याय

1940 से 1960 ई. का साहित्यिक – सांस्कृतिक परिदृश्य

यदि हम अपने इतिहास को देखते हैं तो हम पाते हैं कि 1940 से 1960 का दौर न सिर्फ भारत के लिए अपितु पूरे विश्व के लिए एक उथल – पुथल का दौर था। यह वह युग था जब विश्व का दूसरा बड़ा युद्ध बिल्कुल अपने अन्तिम पड़ाव पर था और ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे यह युद्ध आज समाप्त हुआ या अभी समाप्त हुआ। इसके साथ ही साथ जहाँ एक ओर शत्रु देश एक-दूसरे पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में लगे हुए थे ,वहीं दूसरी ओर भारतीय राजनीतिक हलचल बिल्कुल नए सिरे से सिर उठाने को बेचैन थी। 1942 ई. में जिन कांग्रेसी नेताओं को बन्दी बना लिया गया था , उस समय की सरकार अब इन सबको बिना शर्त रिहा करके इनसे बातचीत करना चाहती थी। यहाँ की राजनीतिक समस्याओं का हल तलाश करने की मंशा से जनता में अपनी जायज़ माँगों को मनवाने का जोश और उत्साह फिर से मचलने लग गया था। मानो बहुत कुछ परिवर्तित होने के लिए बेचैन हो रहा था। तत्कालीन भारतीय नेताओं और ब्रिटिश सरकार के मध्य चल रही कश्मकश को दर्शाते हुए **'योगराज'** ने अपनी पुस्तक '**थिएटर के सरताज पृथ्वीराज**' में लिखा है कि – **"वर्किंग कमेटी के बड़े - बड़े नेतागणों की बहुत जल्द रिहाई, बम्बई डैक नेवी का रिवोल्ट ..... आज़ाद हिन्द फ़ौज के सहगल, ढिल्लो और शाहनवाज़ पर लालकिला पर मुक़दमा और फिर अंग्रेज ने इस महायुद्ध के बीच ही जान लिया था कि अब उसके लिए भारत पर शासन करना असम्भव है। इसलिए ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ब्रिटिश शासन बहाने तलाश कर रहा हो, यहाँ की समस्याओं को उलझाकर समय माँग रहा हो।"**[1]

1940 से 1960 के इस दौर में हमें भारत के परतंत्र और स्वतंत्र दोनो स्वरुपों के दर्शन हो जाते हैं। इस दौर का परिदृश्य समझने से पूर्व हमें तत्कालीन भारत में चल रहे आन्दोलनों को भी समझना पड़ेगा क्योंकि 1940 ई. के पूर्व की परिस्थतियाँ कहीं न कहीं 15 अगस्त 1947 ई. के बाद एक नए और स्वतंत्र भारत के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी।

---

[1] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण, 2012 , पृ. 86

यदि हम भारतीय इतिहास के राष्ट्रीय आन्दोलनों पर नजर डालते हैं तो हम देखते हैं कि 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय नेताओं ने ब्रिटिशों के विरुद्ध जो राष्ट्रीय आन्दोलन किये थे उसे इतिहासकारों ने तीन चरणों मे विभाजित किया है। प्रथम चरण उदारवादी आन्दोलन का था जिसका समय 1885 – 1905 ई. तक माना जाता है। इस काल में भारतीय नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी, मदन मोहन मालवीय, गोपाल कृष्ण गोखले ,सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि ने ब्रिटिश हुकुमत के समक्ष अपनी माँगों को बड़ी ही विनम्रता से रखा। इन लोगों को ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता पर पूरा विश्वास था। इस दौरान कांग्रेस में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी जिनमें वकील, इंजीनियर, डॉक्टर , प्रोफेसर , लेखक, पत्रकार और साहित्यकार आदि शामिल थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इस दौरान कांग्रेस भारत की आम जनता जैसे किसान, मजदूर, महिलाएँ आदि की आवाज नहीं बन पाई थी। भारतीय नेताओं के प्रार्थना, याचना के बाद भी ब्रिटिश सरकार ने इनकी माँगों पर कोई ध्यान नही दिया और इसी ब्रिटिश उपेक्षा के कारण ही कांग्रेस के भीतर से ही एक नया गुट जो प्रारंभ से ही उदारवादियों की नीतियों का आलोचक था, उभरकर सामने आया। इसी गुट को राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में उग्रवादी चरण कहा गया,जिसका समय 1905 से 1919 ई. तक माना जाता है। इन उग्रवादी नेताओं में लाला लाजपत राय , बाल गंगाधर तिलक , विपिन चंद्र पाल तथा अरविंद घोष आदि प्रमुख थे। इन नेताओं ने स्वराज्य प्राप्ति को ही अपना प्रमुख लक्ष्य एवं उद्देश्य बनाया तथा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उदारवादी साधन जैसे प्रार्थनापत्र , स्मरणपत्र आदि का त्यागकर क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की नीति अपनाई। इस नीति के तहत इन लोगों ने नवीन राजनीतिक साधनों जैसे – हड़ताल , बहिष्कार , प्रदर्शन, असहयोग आदि जन आधारित कार्यक्रमों के प्रयोग पर बल दिया। इस विचारधारा के लोगों ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने पर बल दिया तो इसके साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा पर भी बल दिया। इस विचारधारा के समर्थक बाल गंगाधर तिलक ने राष्ट्रवाद की पहचान हिंदुत्व की भावना से की जिसके परिणामस्वरुप इन्होने 'गणपति महोत्सव' और 'शिवाजी महोत्सव' की शुरुआत की। फलत: यही भावना आगे चलकर सांप्रदायिकता का रूप ग्रहण करता है जिसके कारण लोगों के मध्य वैचारिक संघर्ष बढ़ता है और इन्ही सब कारणों से उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर हुआ एवं ब्रिटिश सरकार को आंदोलन के दमन का अवसर मिल गया।

यद्यपि यह आन्दोलन ब्रिटिशों के द्वारा किसी न किसी तरह दबा दिया गया परन्तु इस दौरान भारत के अन्दर बहुत सी ऐसी घटनाएँ घटित हो चुकी थी जो लोगों के मन पर अपना छाप छोड़ गई और वह घटना थी 1905 में बंगाल का विभाजन , 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना , 1907 में सूरत अधिवेशन में कांग्रेस का विभाजन , 1913 में गदर पार्टी की स्थापना आदि। उग्रवादियों द्वारा प्रारम्भ किया गया

आन्दोलन भारत के भीतर एक ऐसा आन्दोलन था जिसने शिक्षित वर्ग के साथ – साथ जनसामान्य को भी महत्व प्रदान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इन नेताओं ने भारत के आम जनता को भी अपने साथ जोड़ा जोकि उदारवादी नेताओं ने नहीं किया था।

यह सर्वविदित सत्य है कि उदारवादी (नरम दल) और उग्रवादी (गरम दल) नेताओं द्वारा ब्रिटिशों के विरूद्ध चलाया गया आन्दोलन ज्यादा प्रभावशाली तो नहीं रहा परन्तु इन आन्दोलनों ने भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिसकी परिणति हमें देश की आजादी के रूप में आज भी दिखाई पड़ती है।

1919 से 1947 ई. तक के काल को भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के काल का तृतीय चरण या 'गाँधी युग' कहा जाता है। यह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अंतिम चरण था। इस चरण में महात्मा गाँधी स्वतंत्रता आन्दोलन के केन्द्र बिन्दु थे। इस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन ने जनसंघर्ष का रूप धारण कर लिया। राष्ट्रवादियों , क्रांतिकारियों , सैनिकों , किसानों , मजदूरों, सामान्यजन सभी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस दौरान कांग्रेस ने पहले तो ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग और फिर अहिंसात्मक संघर्ष की नीति अपनाई, जिसके तीन निरंतर प्रगतिशील चरण – असहयोग आन्दोलन(1920 – 1921 ई.) , सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930 ई.) और भारत छोड़ो आन्दोलन (1942 ई.) थे। इस दौर में हिन्दू – मुस्लिम मतभेद अपने चरम स्तर पर पहुँच गए थे। परिणामत: 1940 में जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने पृथक राष्ट्र 'पाकिस्तान' की माँग की।

जैसाकि उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि 1940 के बाद से 15 अगस्त 1947 तक का जो दौर था वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का अन्तिम पड़ाव था। यह वही दौर है जब अगस्त 1942 ई. में गाँधी जी के नेतृत्व में 'करो या मरो' नारा के साथ 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रारम्भ हो चुका था। इस आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने सम्पूर्ण देश को अपने आगोश में ले लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि इसका प्रसार देश के प्रत्येक कोने में हुआ और सबसे बड़ी बात इस आन्दोलन में आम – जन की भागीदारी भी खूब रही। फिर चाहे वो युवक हो , महिलाएँ हो , किसान हो या सरकारी अधिकारी। सभी लोगों ने इस आन्दोलन में बढ़ – चढ़ कर हिस्सा लिया।

इस आन्दोलन की आग सम्पूर्ण देश में इस प्रकार फैली कि ब्रिटिश शासन की नींव हिल गई। इसका कारण यह था कि गाँधी जी के द्वारा आन्दोलन प्रारम्भ करने के पूर्व ही विभिन्न वर्गों को कुछ निर्देश

दिये गये थे , जिसका पालन जनता द्वारा काफी हद तक किया भी गया था। गाँधी जी के द्वारा दिये गये निर्देश कुछ इस तरह से थे –

1. सरकारी सेवक अपनी नौकरी न छोड़ें परन्तु कांग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा कर दें।
2. सैनिक अपने देशवासियों पर गोली चलाने से मना कर दें।
3. छात्र पढ़ाई तभी छोड़े , जब आजादी हासिल होने तक अपने इस निर्णय पर अटल रह सकें।
4. यदि कोई जमींदार सरकार विरोधी हो तो कृषक पारस्परिक हित के आधार पर तय किया गया लगान अदा करते रहें किन्तु यदि कोई जमींदार सरकार समर्थक हो तो उसे लगान अदा करना बंद कर दें।
5. राजा – महाराजा जनता को सहयोग करें तथा अपनी प्रजा की संप्रभुता स्वीकार करें।
6. देशी रियासतों के लोग शासकों का सहयोग तभी करें जब वे सरकार विरोधी हों तथा सभी स्वयं को राष्ट्र का एक अंग घोषित करें।

अत: यह स्वत: स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र के समाज का प्रत्येक वर्ग जब किसी भी शासक के नीतियों के विरूद्ध खड़ा हो जाता है तो उस शासक का शासन करना मुश्किल हो जाता है। इस आन्दोलन के साथ भी यही हुआ। गाँधी जी के आवाहन पर भारतीय जनता उनके साथ एकजुट होकर आन्दोलन को सफल बनाने के लिए ब्रिटिश शासन के दबाव से स्वयं को मुक्त कर लिए। एक ओर सैनिकों ने गोली चलाने से मना कर दिया तो दूसरी ओर किसानों ने लगान अदा करना बंद कर दिया इत्यादि। इन्ही सब कारणों से बौखलाया ब्रिटिश प्रशासन गाँधी जी तथा कांग्रेस के मुख्य नेताओं को 'आपरेशन जीरो आवर' के तहत गिरफ्तार कर लिया। इतना ही नहीं ब्रिटिश प्रशासन ने महिलाओं को भी नहीं छोड़ा। उसने सराजिनी नायडू और कस्तूरबा गांधी को गिरफ्तार कर आगा खाँ पैलेस में रखा। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को पटना (बाँकीपुर जेल) में नज़रबंद कर दिया। जय प्रकाश नारायण को गिरफ्तार कर हज़ारीबाग सेंट्रल जेल में रखा गया।

अपने वरिष्ठ नेताओं की गिरफ्तारी के बाद 'करो या मरो' का नारा सम्पूर्ण राष्ट्र मे गूँज उठा , जनता का आक्रोश बढ़ गया। जगह – जगह हिंसक कारवाइयाँ की जाने लगीं। अहमदाबाद , मद्रास , बंगलौर , सहारनपुर आदि में मज़दूरों की हड़तालों से कारखानें बंद हो गए , संचार साधनों को नष्ट कर दिया गया , रेलवे लाइन उखाड़ दी गई, बिजली के तार काट दिए गए , पुलिस स्टेशन , रेलवे स्टेशन , डाकखाने, तथा सरकारी इमारतों में आग लगा दी गई। इन सब कारवाइयों से एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी कि 1940 के बाद का भारत एक ऐसी आग में जल रहा था जिसकी लपटें चारों ओर उठ रही थी और समाज का प्रत्येक वर्ग स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए उसमे जल रहा था।

अब जब सम्पूर्ण देश में स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था और प्रत्येक वर्ग अपने स्तर पर प्रयास कर रहा था तो यह स्वाभाविक सी बात है कि कहीं न कहीं इसका प्रभाव साहित्य, सिनेमा, रंगमंच एवं अन्य विविध कलाओं इत्यादि पर भी पड़ रहा था। शायद यही कारण है कि राजनीति के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में भी नये – नये प्रयोग प्रारम्भ हो गये थे।

1940 से 1960 का काल प्रगति और प्रयोग का दौर है, ऐसा कहना बिल्कुल भी असंगत नही होगा। इस दौर में प्रत्येक क्षेत्र में खूब नये – नये प्रयोग हो रहे थे। फिर चाहे वह राजनीति में हड़ताल, बहिष्कार इत्यादि हो या फिर साहित्य में भाषा,कथ्य या शैली के स्तर पर नया प्रयोग हो।

1940 से 1960 का दौर हिन्दी साहित्य में छायावादोत्तर काल के अर्न्तगत आता है। परन्तु यह दौर अपने पूर्व आधुनिक काल के अन्तर्गत ही भारतेन्दु युग , द्विवेदी युग एवं छायावाद युग देख चुका था और 1936 के बाद से प्रारम्भ हुआ छायावादोत्तर काल को भी अपने नजरों से देख रहा था। यह हिन्दी साहित्य का सौभाग्य था कि आधुनिक काल में नाटक, उपन्यास आदि गद्य विधाओं का उद्भव भी हो चुका था , जहाँ लेखक को अपनी बात रखने का पूरा अवसर प्राप्त होता था।

यह बात सच है कि किसी भी साहित्य को किसी समय सीमा में बाँध देने मात्र से ऐसा नहीं होता कि उसकी कोई प्रवृत्ति उसी समय सीमा के अन्दर अचानक समाप्तप्राय हो गयी और कोई नयी प्रवृत्ति एकाएक उत्पन्न हो गयी। इसके ठीक विपरीत कोई भी प्रवृत्ति अपने परवर्ती रचना में कहीं न कहीं चलती रहती है और कोई नयी प्रवृत्ति अपनी पूर्व की परिस्थितियों की उपज होती है। ठीक ऐसे ही यदि हम 1940 से 1960 का साहित्यिक परिदृश्य देखे तो यह वही वक्त था जब हिन्दी काव्य कई वादों(प्रगतिवाद , प्रयोगवाद) और धाराओं से होकर गुजरा था। इसी दौर में कई जीवन – दृष्टियां तथा काव्य की वस्तु और शिल्प संबंधी मान्यताएं उभरी थी। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक था तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता थी तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियो के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों , मान्यताओं और रचनारुपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रुप से पाँच – छह काव्यधाराएँ उभर कर सामने आती हैं। उन्हें राष्ट्रीय – सांस्कृतिक कविता, क्रमागत छायावादी काव्यधारा या उत्तर छायावाद , वैयक्तिक गीतिकाव्य , प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता कहा जा सकता है। इनमें से राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा भारतेन्दु काल से प्रारंभ होकर द्विवेदी काल , छायावाद काल को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों , स्वरों से युक्त होकर और भी उदार एवं वैविध्यपूर्ण हो गयी। इसके अतिरिक्त अन्य सभी धाराएं प्रस्तुत काल की परिस्थितियों की उपज थी। वे अपने – अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिवार्यता के गर्भ से फूटी थी।

प्रगतिवादी काव्य जिसका समय 1936 – 1943 ई. तक माना जाता है। इस दौर में जो भी रचनाएं हो रही थी उसके केन्द्र में मार्क्सवादी दर्शन था। यह मार्क्सवादी दर्शन एकाएक साहित्य में प्रवेश नहीं कर गया बल्कि इसके लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ जिम्मेदार थी। एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जनसंकट था तो दूसरी ओर रुस में मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था , जो वहां के विषम संकट और संघर्ष से गुजरे जनजीवन को बल दे रहा था और जो सामंतवाद एवं पूंजीवाद की विभीषिकाओं को कुचल कर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज में उत्पन्न अनेक सामाजिक , आर्थिक , धार्मिक , राजनीतिक विसंगतियों और संकटों को देख रहा था तो दूसरी ओर वह रुस के उस समाज को देख रहा था जो इन विसंगतियों और संकटों से गुजर कर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था , जिसमे सामान्य जनजीवन को महत्व प्राप्त हो रहा था , जहाँ नये सुख सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। रुस में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के अन्य देशों में फैलता उसका मार्क्सवादी दर्शन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा केन्द्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति विषम हो रही थी , इसका कारण यह था कि गाँधी जी के नेतृत्व में जो आन्दोलन चलाया जा रहा था उसमे युवा हृदय के विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी क्योंकि गाँधी जी हिंसा के भय से आन्दोलन को बार –बार बीच में ही रोक दे रहे थे। जिसे उमड़ता हुआ जनजीवन सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पा रहा था। अत: उग्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। मजदूरों का आन्दोलन भी जोर पकड़ रहा था। धीरे – धीरे राजनीति में वामपंथी शक्तियों का जोर बढ़ता गया। राजनीतिक दासता एक ओर देश में पूंजीवाद और सामंतवाद की शोषक शक्तियों को प्रश्रय दे रही थी तो दूसरी ओर सामान्य जन के भयावह गरीबी , अशिक्षा , और अपमान की सृष्टि कर रही थी। इसके अतिरिक्त अकाल और युद्ध की भीषण विभीषकाएं भी देश को खा रही थी। अत: उस विषम परिस्थिति में युवकों का हृदय असंतोष और विद्रोह से कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिए उपयुक्त भूमि बन रही थी । अत: ऐसी स्थिति में पूंजीपतियों और शोषक वर्गों के विरूद्ध तथा शोषित वर्गों के समर्थन में साहित्यकारों का कलम चलाना लाज़मी था।

इसी क्रम में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन , शिवमंगल सिंह सुमन , रांगेय राघव, त्रिलोचन जैसे रचनाकारों ने भिन्न – भिन्न विषयों को अपना काव्यवस्तु बनाया।

तत्कालीन भारत में पड़ रहे अकाल को चित्रित करते हुए 'नागार्जुन' ने अपनी कविता "अकाल और उसके बाद" में लिखा है –

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास।

कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास।
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों के गस्त।
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त" ।।

यह कविता तत्कालीन भारत के उस अकाल को समझने के लिए पर्याप्त है जो एक ऐतिहासिक घटना है। यह अकाल कोई प्राकृतिक आपदा नहीं अपितु इंसानों द्वारा पैदा की हुई थी। इसके बारें में **पण्डित जवाहरलाल नेहरु** अपनी पुस्तक **'हिन्दुस्तान की कहानी'** में लिखते हैं - " अकाल पड़ा ....भीषण, दहलाने वाला;ऐसा घोर की बयान से बाहर। मालाबार में, बीजापुर में , उड़ीसा में और सबसे बढ़कर बंगाल के हरे – भरे सूबे में। आदमी , औरत , नन्हे बच्चे हजारों की तादाद में रोज खाना न मिलने के कारण मरने लगे। कलकत्ते के महलों के सामने लोग मरकर गिर पड़ते। उनकी लाशें अनगिनत गाँवों की मिट्टी की झोपड़ियों में और देहातों , सड़कों पर और खेतों में पड़ी थी। यहाँ मौत के पीछे न कोई मकसद था , न कोई हेतु , न उसकी कोई जरुरत थी। यह आदमी के निकम्मेपन और कठोरता का नतीजा था। यह इंसान की पैदा की हुई थी।"[2]

उस समय भारतीय जनता भूख से किस प्रकार तड़प रही थी इसका अंदाजा केदारनाथ अग्रवाल की इस पंक्ति से लगाया जा सकता है –

"बाप बेटा बेचता है भूख से बेहाल होकर,
धर्म , धीरज , प्राण खोकर।"

इतना ही नहीं समय के माँग के अनुसार छायावादी कवियों के भी काव्य स्वर बदले। अब वे भी कोमलता और सौन्दर्यबोध से बाहर निकल प्रगतिवादी कविताएँ करने लगे। निराला जी द्वारा रचित **'कुकुरमुत्ता' (1942ई.)** प्रगतिशील कविता का बेहतरीन उदाहरण है जिसमें उन्होने प्रतीक रुप में पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग को चित्रित किया है, जो छायावादी कवि को भी प्रगतिशील रचनाकार की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। इसके अतिरिक्त निराला द्वारा लिखी गई रचना **'अणिमा' (1943ई.) , 'बेला' (1946 ई.) , 'नये पत्ते' (1946 ई.) , 'अर्चना' (1950 ई.) , 'आराधना' (1953 ई.) , 'गीतगुंज' (1954 ई.)** आदि इसी दौर के हैं। न सिर्फ निराला ने इस दौर में अपनी रचना जारी रखी बल्कि पंत और महादेवी वर्मा ने भी इस दौर में अपनी लेखनी को जारी रखा। पंत की **'ग्राम्या'** (1940 ई.), अन्तश्चेतनावादी रचनाएँ **'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि'** (1947ई.) , **'युगपथ'** (1949 ई.) तथा नवमानवतावादी

[2] अजित पुष्कल/हरिश्चन्द्र अग्रवाल (सं), नाटक के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन,दिल्ली, चौथा संस्करण,2013, पृ.181

रचना **'उत्तरा'** (1949 ई.), तथा **'कला और बूढ़ा चाँद'** (1959 ई.) इसी दौर में आता है। महादेवी वर्मा का **'यामा'** (1940 ई.) , **'दीपशिखा'** (1942ई.) , **'सप्तपर्णा'** (1960 ई.) भी इसी समय में आया था।

कहने का तात्पर्य यह है कि 1936 के बाद हिन्दी साहित्य में जो प्रगतिवादी लेखन की धारा बही उसके केन्द्र में छायावाद का 'मैं' न होकर 'हम' शब्द आ गया था। दूसरे शब्दों में कहे तो इस दौर में व्यक्ति सिर्फ स्वयं के विषय में न सोचकर सम्पूर्ण समाज के लिए सोच रहा था। इस दौर में लेखक शोषित और सर्वहारा वर्ग के समर्थन में पूंजीवाद के विरोध में लिख रहे थे। इसके साथ ही साथ तत्कालीन रचनाकार भारत की अन्य समस्या जैसे भूख , बेरोजगारी और अशिक्षा को भी अपना काव्य विषय बना रहे थे।

वैसे तो प्रयोग प्रत्येक युग में हो रहे थे परन्तु हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद नाम उन कविताओं के लिए रुढ़ हो गया है , जो कुछ नये बोधों , संवेदनाओं तथा उन्हे प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरु – शुरु में तारसप्तक के माध्यम से 1943 ई. में प्रकाशन जगत में आयी और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गई तथा जिसका पर्यावसान नयी कविता में हो गया। जब प्रयोगवादी काव्यधारा हिन्दी साहित्य में चल रहा था, उसी मध्य में (15 अगस्त 1947 ई.) देश को आजादी भी मिली थी। तो स्वाभाविक सी बात है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत की परिस्थितियों में भी परिवर्तन हुआ होगा। स्वतन्त्रता के बाद सत्य और अहिंसा पर टिकी राजनीति का हिंसक , भयानक, क्रूरतम , घिनौना एवं विकृत रुप ही प्रकट हुआ जिसके मूल में सत्ता प्राप्ति की लालसा एवं निरंकुशता का भाव था। रातों रात हुए परिवर्तन में सबसे बड़ा बदलाव नारी की स्थिति में हुआ और अब वह घर से निकल बाहरी जिन्दगी जीने के लिए भी स्वतन्त्र हो गयी थी। स्वतंत्र भारत में लोगों के अन्दर मोहभंग , कुंठा , निराशा, हताशा जन्म ले रही थी। अत: ऐसी स्थिति में इन सब परिस्थितियों का प्रभाव प्रयोगवादी कविता पर पड़ना स्वाभाविक था।

प्रयोगवादी कवियों ने अपने व्यक्तिगत सुख - दु:ख को , अपने व्यक्तिगत संवेदनाओं को नए – नए माध्यमों से व्यक्त किया और उस यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की , जिसे वह भोगता है। दूसरे शब्दों में कहे तो मध्यवर्गीय समाज का हासोन्मुखी जीवन ही प्रयोगवादी काव्य में चित्रित किया गया है। प्रयोगवादी कवियों ने भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता को काव्य में स्थान दिया और जीवन की निराशा, कुण्ठा , अनास्था , जड़ता एवं संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की। दमित कामवासना के चित्र भी इस काव्य में उपलब्ध होते हैं। लघुमानव को पूर्ण गरिमा के साथ प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी इन्ही कवियों को जाता है। इस धारा के प्रमुख कवि – **अज्ञेय ,गजानन माधव मुक्तिबोध , गिरिजा कुमार माथुर , भारत भूषण**

अग्रवाल , कुंवर नारायण , केदारनाथ सिंह , विजयदेव नारायण साही , नेमिचन्द्र जैन , प्रभाकर माचवे , सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि हैं।

नई कविता विषय – वस्तु एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से पुरानी परम्परा से हटकर है। विषयवस्तु की दृष्टि से जहां इसमें नवीनता, मुक्त यथार्थवाद , बौद्धिकता , क्षणवादी जीवन दर्शन एवं लघुमानव की प्रतिष्ठा की गई है , वहीं दूसरी ओर शिल्प की दृष्टि से इनमें नवीन उपमान, प्रतीकात्मकता , बिम्बात्मकता एवं भाषा के नए प्रयोग का रुझान दिखाई पड़ता है।

नई कविता में नयापन है। भाव , विषय-वस्तु , शिल्प सभी दृष्टियों से वह परम्परा से विच्छेद की कविता है। **अज्ञेय** ने शायद इसी कारण इन कवियों को **'नई राहों के अन्वेषी'** का नाम दिया है। नए कवि नवीन मूल्यों की स्थापना करने को उत्सुक है और अतीत को विस्मृत करना चाहते हैं। जैसाकि मुद्राराक्षस ने लिखा है –

आओं हम उस अतीत को भूलें

और आज की अपनी रग – रग के अन्तर को छू लें ।।

नवीनता के प्रति आग्रह रहने के कारण ही नई कविता में नए-नए विषय चुने गये हैं। इस कविता में पहली बार कंकरीट की पोर्च , चाय की प्याली , सायरन , रेडियम की घड़ी , चूड़ी का टुकड़ा, बाथरुम , गरम पकौड़ी , मूत्र सिंचित मृत्तिका के घेरे में खड़ा गधा जैसे विषयों का चित्रण हुआ। उदाहरण –

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में

तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव

धैर्य धन गदहा। (अज्ञेय)

स्वंत्रता के बाद लोगों के भीतर बढ़ती यौन कुंठा को भी इन कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया है। जैसाकि शकुन्तला माथुर की पंक्ति से स्पष्ट है –

बढ़ रही है परिधि मेरे स्तनों की

हसरतें जवान हैं।

आज कह दो इन उंगलियों से

पेश आएं मुनासिब बेरहमी से ।।

ये तो रही बात 1940 से 1960 के दशक में हिन्दी साहित्य के काव्यधारा में चल रही धाराओं की। अब हम बात करेंगें कि इसी दौर में हिन्दी साहित्य के गद्य विधाओं में क्या चल रहा था? हिन्दी साहित्य के नाटक , उपन्यास , कहानी तथा अन्य गद्य विधाओं में रचनाकार किस तरह की रचनाएं कर रहे थे ? तो ज़ाहिर सी बात है कि तत्कालीन भारत की जो परिस्थितियाँ तत्कालीन काव्य रचनाकारों के समक्ष उपस्थित थी , वही परिस्थितियाँ नाटककार , उपन्यासकार, कहानीकार आदि के समक्ष भी थी। इतना ही नहीं कई रचनाकार तो ऐसे थे जो उसी समय में कविता लिखने के साथ – साथ नाटक, उपन्यास और कहानी आदि की भी रचना कर रहे थे।

1940 से 1960 के दौर में परतंत्र भारत और स्वतंत्र भारत की जो स्थितियाँ थी उसे ऊपर दर्शाया जा चुका है कि किस प्रकार तत्कालीन भारत में शोषक या पूंजीपति वर्ग मजदूरों, किसानों आदि का शोषण कर रहे थे और किस प्रकार लोगों में स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु व्याकुलता थी, किस प्रकार देश विभाजन की फुसफुसाहट प्रारम्भ हो चुकी थी? इसके साथ ही साथ किस प्रकार स्वतंत्र भारत में लोगों का मोहभंग हो रहा था और वे यौन कुंठा , निराशा , हताशा आदि की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्ही सब का चित्रण काव्य की तरह गद्य में भी हो रहा था , फ़र्क सिर्फ बात कहने की शैली ,शिल्प और भाषा का था।

यदि हम इस दौर के हिन्दी साहित्य में नाटक की स्थिति को देखें तो यह वही दौर था जिसे नाटक के क्षेत्र में प्रसादोत्तर नाम से जाना जाता है। इस दौर तक नाटक भारतेन्दु और प्रसाद युगीन नाटक को देख चुका था। भारतेन्दु युग में जहाँ तत्कालीन लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र , बालकृष्ण भट्ट , प्रताप नारायण मिश्र आदि ब्रिटिश शोषण का अप्रत्यक्ष निंदा कर रहे थे। वहीं प्रसाद युग में जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं को अपने नाटक का कथ्य बनाते हुए तत्कालीन समस्या को उठाने का प्रयास किया। लेकिन यह बात भी सत्य है कि नाटक एक दृश्य विधा होने के नाते रंगमंच पर मंचित हुए बिना अधूरा होता है। नाटक की सम्पूर्णता उसके मंचन में ही है। परन्तु भारत में 1940 ई. तक हिन्दी नाट्य अभिनय , प्रदर्शन और रंगशालाओं की कोई मजबूत परम्परा नहीं बन पायी थी। ऐसा नहीं है कि इसके पहले नाटकों का मंचन होता ही नहीं था। इतिहास बताता है कि भारतेन्दु युगीन नाटककार पारसी थिएटर के अश्लीलता के खिलाफ नाटकों के मंचन का कार्य प्रारम्भ किये थे और ये लोग काशी में '**बनारस थियेटर**' के नाम से एक रंगमंच को भी स्थापित किये थे। लेकिन यह परम्परा प्रसाद के युग में दम तोड़ चुकी थी। जिसका प्रभाव हिन्दी नाटक पर 1940 ई. तक रहा कि हिन्दी के पास अपना कोई परम्परिक रंगमंच नहीं रहा।

कई दशकों तक निरंतर डगमगाती हुई नाटक की स्थिति में थोड़ा सा मोड़ दूसरे महायुद्ध के दिनों में स्वाधीनता आन्दोलन के अन्तिम चरण में आया। जब 25 मई 1943 ई. में **भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा)** का जन्म देश की आजादी की लड़ाई और विश्व व्यापी फासिस्ट विरोधी आन्दोलन के गर्भ से हुआ। इसी के साथ 1944 ई. में **पृथ्वी थियेटर** की स्थापना भी नाटक को एक नई दिशा प्रदान की।

इप्टा के जन्म के पृष्ठभूमि में बंगाल का अकाल था। यह अकाल दैवीय नही था अपितु मानव निर्मित था , जिसका जिक्र पूर्व में किया जा चुका है। इस अकाल के कारण बंगाल की भुखमरी में तीस लाख से अधिक व्यक्ति काल का ग्रास बन चुके थे। इससे सारे देश में क्रोध था। इसी क्रोध से प्रेरित लेखकों और कलाकारों ने लोगों की दुर्दशा को वाणी दी। नाटक भी इसी भावना से प्रेरित हो रहा था। जीवन में हुई दुर्घटनाओं , अमीरों और गरीबों के बीच बढ़ती हुई दरार ने नए विषय सुझाए। इन परिस्थितियों के बीच 1943 में इप्टा का उदय हुआ तो नाटक थियेटर घरों से निकल कर बाहर आ गया। कहने का मतलब यह है कि इप्टा के कलाकारों ने खुले आकाश के नीचे , बिना किसी साज – सज्जा के हर स्थान पर नाटक खेलने लगे। चाहे वह गलियों का मोड़ हो ,चौगान हो, खलिहान हो या फिर गाँवों और कस्बों के चबूतरें। अर्थात् कहीं न कहीं हिन्दी को एक ऐसा रंगमंच मिल गया जिसमे मंच और दर्शक के बीच की दूरी ही समाप्त हो गई थी।

इप्टा द्वारा 1943 से 1960 ई. के मध्य आधुनिक समस्याओं और घटनाओं जैसे – रेलवे हड़ताल , किसान आन्दोलन , मजदूरों और कलाकारों के जलसे – जुलूस आदि विषयों पर सैकड़ों नाटक कई स्थानों पर खेले गये। इप्टा द्वारा मंचित नाटकों में **'तूने मुझे कम्युनिस्ट बनाया' एवं विजन भट्टाचार्य** का **'नवान्न' (नई फसल) , अली सरदार जाफ़री का 'ये किसका खून है' राजेन्द्र रघुवंशी का 'आज का सवाल' , 'आधा सेर चावल' , 'राजाजी दिल बैठा जाए' , 'घायल पंजाब' , 'लपटों के बीच' , 'प्लानिंग हवेली' , एवं शील का 'बेकारी' , 'संघर्ष' , 'किसान'** आदि शामिल हैं। इतना ही नहीं जिस समय देश में विभाजन को लेकर खून खराबा चल रहा था , उस समय ये कलाकार शान्ति और एकता के नाटक लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे। जिसका उदाहरण **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा लिखित नाटक **'मैं कौन हूँ'** का बार – बार मंचन है।

लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि 20वीं शताब्दी के 5वें दशक में नाट्यकला को बल और शक्ति प्रदान करने वाला , हर प्रांत और भाषा को अच्छे – अच्छे नाटककार , गीतकार कवि और मंच कलाकार देने वाला थियेटर धीरे – धीरे अपने सीमित दृष्टिकोणों के कारण महत्वहीन होता चला गया। इसके अधिकांश

कलाकार जैसे **हबीब तनवीर , जोहरा सहगल , शम्भुमित्रा , बलराज साहनी , दीना गाँधी , शीला भाटिया** आदि इससे अलग होते चले गये।

इप्टा की तरह ही पृथ्वी थियेटर ने भी 1944 से 1960 के मध्य सम्पूर्ण भारत में नाटक को मंचित किया। इस थियेटर का पहला नाटक **नारायण प्रसाद बेताब** द्वारा लिखित **'शकुन्तला'** नाटक था। इसमे पृथ्वीराज कपूर ने स्वयं दुष्यंत की भूमिका निभाई थी। इस नाटक को बहुत भव्य तरीके से मंचित किया गया था परन्तु यह नाटक असफल रहा क्योंकि यह तत्कालीन समस्या पर आधारित नहीं था। इस बात को बहुत ही जल्द पृथ्वीराज ने समझ लिया था। तदुपरांत उन्होने ऐसे नाटकों का मंचन प्रारम्भ किया जो जनता के तत्कालीन समस्या पर आधारित था। इसी कड़ी में इन्होने **'पठान', 'पैसा' (लालचन्द्र बिस्मिल) , 'गद्दार' (इन्द्रराज आनन्द) , 'आहुति' (बिस्मिल) , 'कलाकार' (रामानन्द सागर एवं पृथ्वीराज कपूर) , 'किसान' (शील)** , **दीवार** आदि नाटकों का मंचन किया।

दरअसल हिन्दी नाटक और रंगमंच में एक क्रांतिकारी शुरुआत छठे दशक से प्रारम्भ हुई। जब इप्टा और पृथ्वी थियेटर के बाद भारत के स्वातंत्र्योत्तर दौर में **'केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी' (स्थापना 1953 ई. , दिल्ली) , 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' (1959ई. दिल्ली) , 'भारतीय नाट्य संघ' , 'थियेटर यूनिट' (1959 ई. मुंबई) , 'अनामिका' (1955 ई. कलकत्ता) , 'नया थियेटर' (1959 ई. दिल्ली)** तथा इसी प्रकार की अन्य सरकारी और ग़ैर सरकारी नाट्य संस्थाओं की स्थापना हुई। जो उस समय से लेकर आज भी नाटक और रंगमंच के विकास में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

यह तो रही बात 1940 से 1960 के दौरान भारत में हिन्दी रंगमंच और नये संस्थाओं के उदय की। अब हमें देखना यह है कि इस दौरान हिन्दी साहित्य में नाटक के क्षेत्र में किस प्रकार के नाटक लिखे जा रहे थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि 1940 तक आते – आते हिन्दी नाटक में कुछ परिवर्तन आ चुका था क्योंकि 1938 ई. में भुवनेश्वर द्वारा लिखित लघुनाटक **'ऊसर'** से **'विसंगति नाटक'** की शुरुआत हो चुकी थी। हिन्दी के विसंगति नाटकों पर सर्वाधिक प्रभाव प्रसिद्ध एब्सर्ड नाटककार **सैमुअल बेकेट** के नाटक **'वेटिंग फॉर गोदो'** और **(एडगेम)** का पड़ा और इसी बीच लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी में समस्या नाटक लेखन को भी जन्म दे चुके थे । इन पर अंग्रेजी के **इब्सन** और **बर्नाड शॉ** का प्रभाव था। **'सिन्दूर की होली'** और **'संन्यासी'** नाटक इसके बेहतरीन उदाहरण हैं। इनके साथ - साथ उपेन्द्रनाथ अश्क ने **'स्वर्ग की झलक' (1940 ई.) , 'अंजो दीदी'(1955 ई.), 'कैद'**

और '**उड़ान**' जैसे नाटक की रचना कर रहे थे। इसी दौरान वृन्दावन लाल वर्मा ने '**खिलौने की खोज**' **(1950 ई.)** और **विष्णु प्रभाकर ने** '**डॉक्टर**' **(1958 ई.)** जैसे समस्या प्रधान नाटक की रचना की।

1950 ई. के बाद का समय हमारे यहाँ नाट्य प्रयोग की दृष्टि से विशिष्ट सिद्ध हुआ। दो विश्व युद्धों के बाद पश्चिम जिस भाव परिवर्तन की स्थिति में पहुँचा , वह हमारे देश को भी प्रभावित कर रहा था। यही से मोहभंग की स्थिति के साथ आक्रोश , अपूर्णता का एहसास और व्यक्तित्व के विभाजन की पहचान होना शुरु हुई। 1950 के बाद ऐसी कृतियाँ सामने आयी जो नई दिशा का स्पष्ट संकेत देने का कार्य किया। इनमें **जगदीश चन्द्र माथुर** का **'कोणार्क' (1951 ई.)** उल्लेखनीय है। इसकी रचना आधुनिक नाटक के ऐसे प्रस्थान बिन्दु पर हुई जब हिन्दी नाटक अपनी अपूर्णता के साथ नई प्रयोगधर्मिता के क्षेत्र में उतरने को आकुल थी। माथुर , जयशंकर प्रसाद और नये युग के बीच सेतु बने दिखाई देते हैं। कोणार्क नाटक की पृष्ठभूमि तो ऐतिहासिक है परन्तु हिन्दी नाटक में ऐसा पहली बार हुआ था कि कोई गरीब शिल्पी सत्ता से टक्कर ले रहा था। माथुर ने अपने दूसरे नाटक **'शारदीया' (1959 ई.)** में भी एक ओर इतिहास के कथ्य को पकड़ने की कोशिश की है तो दूसरी ओर युग के उभरते यथार्थ को।

यह सत्य है कि जगदीश चन्द्र माथुर रंगमंच के प्रति जागरुक थे और इन्होने काफी हद तक हिन्दी नाटक की सर्जनात्मक क्षमता और रंगमचीयता को आगे बढ़ाने में सहायता भी की परन्तु नाटक को एक नये मुकाम पर पहुँचाने का कार्य **धर्मवीर भारती** और **मोहन राकेश** ने किया। इन्ही नामों के साथ एक नाम और जोड़ लिया जाये तो वह है – **लक्ष्मीनारायण लाल।** इनका **'अंधा कुआँ'1956 ई. , तथा** '**मादा कैक्टस**'**1959 ई.** में प्रकाशित हुआ था जबकि धर्मवीर भारती का **'अंधायुग' (1955 ई.)** में तथा मोहन राकेश का **'आषाढ़ का एक दिन' (1959 ई.)** में प्रकाशित हुआ था।

इन सभी रचनाओं में अपने तत्कालीन समस्या को एक नये और अनूठे अंदाज में उठाया गया है। अंधायुग नाटक एक युद्ध विरोधी नाटक है। दो – दो विश्वयुद्धों से परिचित नाटककार का उद्देश्य महाभारत कालीन कथा के माध्यम से आधुनिक जीवन संदर्भों की व्याख्या करना तथा प्रत्येक महायुद्ध के उपरान्त पैदा हो जाने वाली विकृतियों , असंगतियों , विघटित आस्थाओं और मूल्यहंता परिस्थितियों का जीवंत चित्रण करना है।

भारत की स्वतंत्रता के बाद सबसे बड़ा बदलाव नारी की स्थिति में हुआ था। अब स्त्री घर से निकल कर बाहरी जिन्दगी जीने के लिए स्वतंत्र हो गई थी। फलत**:** स्त्री – पुरुष संबंधों में परिवर्तन स्वाभाविक था। मोहन राकेश ने अपने नाटक **'आषाढ़ का एक दिन'** में मल्लिका के रुप में एक ऐसी स्त्री

को चित्रित किया है जो नायक को भविष्य में सफल बनाने के लिए उसे उज्जैन जाने के लिए प्रेरित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मोहन राकेश ने परम्परा से चली आ रही स्त्री छवि को एक नया आयाम प्रदान किया। जिस स्त्री पर सदियों से पुरुषों के मार्ग में बाधा बनने का आरोप लगता आ रहा था उस स्त्री को मोहन राकेश ने प्रेरणास्रोत के रुप में स्थापित कर दिया जो शाय़द ही पहली बार हो रहा था।

इसी दौरान उपन्यास के क्षेत्र में भी काफी परिवर्तन देखने को मिल रहा था। 1940 से 1960 का दशक उपन्यास में प्रेमचन्द्रोत्तर युग का था। जिसमें मनोविश्लेषणवादी , उपन्यास लेखन का प्रचलन दिखाई पड़ता है। यह वही दौर था जिसमें **जैनेन्द्र कुमार , इलाचन्द्र जोशी , अज्ञेय , डॉ. देवराज** जैसे मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार अपनी रचना कर रहे थे। इसी दौर में जहाँ जैनेन्द्र ने **'सुखदा' (1952 ई.) , 'विवर्त' , 'व्यतीत' (1953 ई.) , 'जयवर्द्धन' (1956 ई.)** जैसे उपन्यासों की रचना की। वहीं इलाचन्द्र जोशी ने **'संन्यासी' (1940ई.) , 'पर्दे की रानी' (1942 ई.) , 'प्रेम और छाया' (1944 ई.) , 'निर्वासित' (1946ई.) , 'मुक्तिपथ' (1948 ई.) , 'सुबह के भूले' (1951 ई.), 'जिप्सी' (1952 ई.) ,'जहाज का पंक्षी' (1954 ई.)** जैसे उपन्यासों की रचना की । इसी दौर में ही **अज्ञेय** का बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यास **'शेखर :एक जीवनी'** दो भाग में प्रकाशित होता है। पहला भाग 1940 ई. में तो दूसरा भाग 1944 ई. में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में अज्ञेय ने शेखर के मानसिक स्थिति का अंकन बहुत ही मनोवैज्ञानिक तरीके से किया है। इसमे शेखर और उसकी मौसेरी बहन शशि के प्रेम प्रसंगों को चित्रित किया गया है। इस प्रकार के प्रेम को भारतीय समाज ने न पहले स्वीकार्य किया है और न ही अब क्योंकि भारतीय समाज को लगता है कि रिश्ते में भाई – बहन लगने वाले युवक – युवतियों में कामाकर्षण नहीं हो सकता। जबकि मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि किशोरावस्था में विषमलैंगिक कामाकर्षण प्राय: रक्त सम्बन्धियों के बीच ही होते हैं। इनका दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास **'नदी के द्वीप'** 1951 ई.में प्रकाशित होता है। जिसमें रेखा , भुवन और गौरा की प्रेमकथा का वर्णन है।

इन सभी के अतिरिक्त उस दौर में **उदयशंकर भट्ट (सागर लहरें और मनुष्य – 1956 ई. , शेष – अशेष ,1960) , भगवतीचरण वर्मा (टेढ़े मेढ़े रास्ते – 1946 ई. , भूले बिसरे चित्र – 1959 ई.) , वृन्दावनलाल वर्मा (झाँसी की रानी – 1946 ई.) , राहुल सांकृत्यायन (जीने के लिए – 1940 ई. , सिंह सेनापति – 1942 ई. , जय यौधेय – 1944 ई. , मधुर स्वप्न- 1950 ई. , विस्मृत यात्री- 1954 ई.)** जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास लिख रहे थे।

इसी दौर में लगभग यही लेखक कहानी की भी रचना कर रहे थे। यह दौर कहानी में प्रेमचन्द्रोत्तर युग के नाम से जाना जाता है। लेकिन कहानी के क्षेत्र में कई आन्दोलन भी इस दौरान चले थे। जैसे 1956 ई. में **राजेन्द्र यादव , मोहन राकेश और कमलेश्वर** के नेतृत्व में **'नयी कहानी**' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था तो **गंगा प्रसाद विमल** के नेतृत्व में '**अकहानी**' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। इस दौर में **जैनेन्द्र (पाजेब- 1948 ई. , ध्रुवयात्रा -1944 ई.) , यशपाल (तर्क का तूफान – 1944 ई. , फूलों का कुर्ता-1949 ई. , तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ- 1954 ई.) , इलाचन्द्र जोशी (खण्डहर की आत्माएँ-1948 ई. डायरी के नीरस पृष्ठ- 1951 ई.) , अज्ञेय (शरणार्थी-1948 ई. ,अमर वल्लरी-1945 ई.) , उपेन्द्रनाथ अश्क (पिंजरा-1944 ई., बैंगन का पौधा-1954 ई .) , विष्णु प्रभाकर (आदि और अंत- 1945ई. , रहमान का बेटा-1947 ई.) , अमृतराय (तिरंगे कफन- 1948 ई.) , रांगेय राघव (देवदासी- 1947ई. , इंसान पैदा हुआ – 1951 ई.)** आदि लेखक महत्वपूर्ण कहानी लिख रहे थे।

ठीक इसी दौरान आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी , रसवादी आलोचना की लहर आलोचकों के मध्य चल रही थी। जिसके प्रमुख आलोचक **नन्ददलारे वाजपेयी , डॉ. नगेन्द्र , हजारी प्रसाद द्विवेदी , रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान** आदि थे और निबंध के क्षेत्र में **रामचन्द्र शुक्ल** का महत्वपूर्ण निबंध संग्रह '**चिन्तामणि**' भाग एक (1939 ई.) में और '**चिन्तामणि**' भाग दो (1945 ई) मे प्रकाशित होता है। इसके साथ ही साथ इस समय तक साहित्य की अन्य गद्य विधा भी प्रमुखता से लिखी जाने लगी थी। जैसे 1941 ई. में **बाबू श्यामसुन्दर दास** द्वारा लिखित '**मेरी आत्मकहानी**' हिन्दी की प्रथम प्रसिद्ध आत्मकथा माना जाता है। इसके बाद तो हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लिखने का जैसे एक प्रथा सी चल पड़ी थी। पहली महिला आत्मकथा लेखिका जानकी देवी बजाज थी। जिन्होने अपनी आत्मकथा **मेरी जीवन यात्रा** (1956 ई.) नामक शीर्षक से लिखी। इसके साथ ही साथ हिन्दी साहित्य में अब तक जीवनी, संस्मरण , यात्रा वृतांत , रिपोर्ताज आदि विधाओं का भी उदय हो चुका था।

यह कहना बिल्कुल भी गलत नहीं होगा कि 1940 के बाद के दशक में स्त्री लेखिका भी सक्रिय रुप से लेखन कार्य में संलिप्त हुई जो आज तक निरंतर चली आ रही है। महिला लेखिका भी अपने तत्कालीन समस्याओं को बड़ी ही निर्डरता के साथ उठा रही थी। जिसका उदाहरण **मन्नू भंडारी** की कहानी **'मैं हार गई' (1957 ई.)** और **चन्द्रकिरण सौनरेक्सा** की रचना '**आदमखोर**' **(1945 ई.)** आदि है।

साहित्य और फिल्मों का सम्बन्ध तो हमेशा से ही घनिष्ठ रहा है। 1940 से 1960 ई.के दौरान हिन्दी फिल्म और साहित्य जैसे एक – दूसरे के पूरक बन गये थे अर्थात् जो घटनाएँ साहित्य में घट रही थी वही

फिल्मों में भी दिखाये जा रहे थे। भारत में फिल्मों की विकास यात्रा देखें तो इसका पहला युग 1896 से 1930 ई.तक था। यह मूक सिनेमा का समय था जिसमें पहली फिल्म **'राजा हरिश्चन्द्र'** बनी थी । दूसरा युग 1931 में प्रारम्भ होता है जब **आर्देशिर ईरानी** की बोलती फिल्म **'आलम आरा' (1931 ई.)** बनीं। इन दोनों फिल्मों के नाम से ही पता चल रहा है कि इन दोनों दौर में ज्यादातर ऐतिहासिक और पौराणिक फिल्में ही बनती थी। **'आलम आरा'** फिल्म के साथ जैसे ही फिल्मों में ध्वनि का प्रवेश हुआ तो स्वाभाविक सी बात है कि भारत में फिल्में विविध भाषाओं के खांचों में बंट गई क्योंकि भारत बहुभाषी देश है। इसमे चार चाँद तब लग गया जब भारत को आजादी मिली और संविधान लागू होने के साथ – साथ कई भाषाओं को भी संवैधानिक अधिकार प्राप्त हो गये। अत: भारतीय सिनेमा कहते ही विविध भाषाओं में बनने वाली सिनेमा सामने आ जाती है। फिर चाहे वह तमिल , तेलगू , मराठी ,बंगला, उड़िया या हिन्दी आदि भाषा हो लेकिन सच तो यह है कि यद्यपि भारतीय सिनेमा की भाषा अलग – अलग रही हो लेकिन उन सभी की आत्मा एक थी और वह है तत्कालीन समस्या को वाणी देना।

काफी दिनों तक भारतीय भाषाओं की फिल्में आदर्शवाद से उत्प्रेरित होती थी जिसमे बाद में धीरे – धीरे यथार्थवाद की ओर झुकाव बढ़ा। मार्क्सवाद का कुछ असर हुआ तो फिल्मों में शोषण – उत्पीड़न की पोलें खुलने लगीं। हिन्दी साहित्य में जब प्रगतिवाद चरम पर था और **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थियेटर'** पूरे देश में फैल गया था , तभी हिन्दी फिल्मों में भी इस विचारधारा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। **इप्टा** एवं **पृथ्वी थियेटर** के मँजे हुए कलाकार फिल्मों में आए थे। वे निर्माता, निर्देशक, अभिनेता और गीतकार के रुप में सक्रिय हुए थे। इसका बेहतरीन उदाहरण स्वयं पृथ्वी थियेटर के संस्थापक पृथ्वीराज कपूर हैं। इनके अतिरिक्त 1940 से 1960 के दौर में प्रमुख फिल्मकार, अभिनेता थे - महबूब खान , दिलीप कुमार , राज कपूर , बिमल राय , के. ए. अब्बास, गुरुदत्त , देवानन्द आदि। यह दौर इन कलाकारों का चरम युग था। यह दौर न सिर्फ अभिनेताओं के लिए चरम का दौर था अपितु इसी दौर में हिन्दी सिनेमा में अविश्वसनीय सौंदर्य प्रतिमाओं का भी अवतरण हुआ। नर्गिस , मधुबाला , मीना कुमारी , नूतन , वैजयंती माला , वहीदा रहमान , माला सिन्हा आदि अभिनेत्रियों का पदार्पण भी इसी दौर में हुआ।

1946 ई. में जब **ख्वाजा अहमद अब्बास** ने अपनी फिल्म **'धरती के लाल'** और **चेतन आनंद** ने **'नीचा नगर'** का निर्माण किया तो इसी के साथ ही हिन्दी सिनेमा में एक नए युग की शुरुआत हुई। जिसे हिन्दी सिनेमा का स्वर्ण युग कहा गया। जिसका समय 1946 से 1970 ई. तक माना जाता है। इसी दौरान राजकपूर की **'आवारा' , 'बरसात' (1949 ई.) , 'श्री 420' , 'बूटपालिस' , 'जागते रहो' , 'मेरा नाम जोकर'** , गुरुदत्त की **'प्यासा' , 'कागज के फूल' , 'साहिब , बीवी और गुलाम' , 'चौदहवीं**

का चाँद ' **,** बी. आर चोपड़ा की '**नया दौर**' **,** '**कानून**' **,** अब्बास की '**मुन्ना**' **,** '**शहर और सपना**' **,** '**आसमान महल**' **,** '**परदेसी**' **,** बिमलराय की '**दो बीघा जमीन**'(1953 **ई.) ,** '**देवदास**'**(1955 ई.) ,** '**मधुमती**'**(1958 ई.) ,** '**सुजाता**' **, परिवार (1956 ई.) , नौकरी (1954 ई.) ,** महबूब की '**अंदाज**' **,** '**आन**' **और** '**मदर इंडिया**'**(1957 ई.) ,** वी. शांताराम की '**डॉ. कोटनीस की अमर कहानी**' **,** '**दहेज**' **,** '**दो आँखे बारह हाथ**' **(1957 ई.) ,** रमेश सहगल की '**शहीद**' **,** '**फिर सुबह होगी**' आसिफ की '**मुगल – ए – आजम**' **(1960 ई.)** इत्यादि फिल्मों का निर्माण हुआ था।

1940 के दशक में फिल्मी माहौल कुछ गंभीर होने लगा था , पौराणिकता के प्रति आकर्षण कम होने लगा था और फिल्में समकालीन समाज को संबोधित करने लगी थी। इस दौर में फिल्मी नायक को एक पुख्ता रुप देने में जिन गंभीर फिल्मकारों का नाम लिया जा सकता है, उनमें देविका रानी , महबूब खान , नितिन बोस , वी. शांताराम , अमिय चक्रवर्ती, के. ए. अब्बास , केदार शर्मा , कमाल अमरोही और राजकपूर इत्यादि थे। इनमें कुछ फिल्मकार कहीं न कहीं इटली में उभरे नवयथार्थवाद से प्रभावित थे। नवयथार्थवादी फिल्में उस समय की माँग थी क्योंकि दो – दो विश्वयुद्धों से उपजे गरीबी , बेरोजगारी , वर्ग संघर्ष , आजादी की माँग को तत्कालीन साहित्य में उठाया जा रहा था और इन्ही मुद्दों को लेकर इप्टा एवं पृथ्वी थियेटर भी सम्पूर्ण भारत में नाट्य मंचन कर रहे थे। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है कि तत्कालीन कलाकार थियेटर से भी जुड़े हुए थे और वही फिल्मों में भी थे तो उसका प्रभाव फिल्मों पर पड़ना लाज़मी था। तत्कालीन फिल्मकार सिर्फ मनोरंजन के उद्देश्य से फिल्म निर्माण नहीं कर रहे थे अपितु इस दौर में उनका उद्देश्य मनोरंजन के साथ – साथ समाज का कुछ भला करना भी था। लोगों को फिल्म के माध्यम से उचित संदेश भी देना था। अत गाँधीवादी , मार्क्सवादी या समाजवादी प्रभाव फिल्मों में स्पष्ट दिखने लगा था।

1940 के बाद के दशक में फिल्मकारों के मस्तिष्क में भी देश और समाज के प्रति चिंतन हावी था। इस दौर में व्यक्तिगत प्रेम को परिवार और समाज के समक्ष ज्यादा महत्व नहीं दिया जा रहा था, जिसका उदाहरण **बिमल राय** की फिल्म '**देवदास**'(1936 **ई.)** के रुप में देखा जा सकता है। इस फिल्म में देवदास, पारो से अथाह प्रेम करते हुए भी उसे अपनी जीवनसंगिनी नहीं बना पाया क्योंकि उसका परिवार पारो को स्वीकार नहीं कर रहा था। इसका कारण यह था कि देवदास राजघराने से सम्बन्ध रखता था और पारों गरीब होने के कारण उसके समाज की बराबरी नहीं कर पा रही थी अर्थात् वर्ग संघर्ष। **बिमल राय** ने अपनी एक और फिल्म '**दो बीघा जमीन**' के माध्यम से देश में किसानों की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है। यह फिल्म आज भी भूमि अधिग्रहण की मार झेल रहे किसानों की पीड़ा को व्यक्त करता है। **दो बीघा जमीन**

पहली फिल्म थी जिसे **कॉन फिल्म समारोह** में पुरस्कार प्राप्त हुआ था। **ख़्वाजा अहमद अब्बास** की फिल्म '**धरती के लाल**' और **चेतन आनंद** का **'नीचा नगर**' मुल्क की समस्याओं और विभीषिकाओं पर आधारित है। **'धरती के लाल**' फिल्म को अब्बास ने इप्टा के लिए 1946 में बनाई थी। इसकी पृष्ठभूमि बंगाल का अकाल है। बलराज साहनी इस फिल्म के एक महत्वपूर्ण पात्र थे , अपनी फिल्मी आत्मकथा में लिखते हैं – "**एक रात हम कहानी के मुख्य पात्र प्रधान मंडल के कलकत्ता की सड़कों पर भूख से सिसक – सिसक कर प्राण देने की शूटिंग कर रहे थे। दृश्य इस प्रकार था – बूढ़े किसान का शरीर बुखार से तप रहा है। उसकी बूढ़ी पत्नी (उषा सेनगुप्ता) , बड़ा लड़का (बलराज साहनी) , छोटा लड़का (अनवर), बड़ी पुत्रवधू (दमयंती साहनी), छोटी पुत्रवधू (तृप्ति भादुड़ी) और गाँव के कुछ लोग उसके इर्द- गिर्द बैठे हुए हैं। बेहोशी के हालत में बूढ़े किसान को अपनी फसलें याद आती हैं – धान की झूमती हुई फसलें। वह अपने बेटों को दरातियां लेकर जाने के लिए कहता है , 'काटो , जोर से काटो' । वह हंसता हुआ कह रहा है , जैसे मेड़ पर खड़ा कटाई का नजारा देख रहा हो। कितना धान ! कितना ढेर सा धान !!और वह मर जाता है।**"[3] **महबूब खान की 1957 ई.** में प्रदर्शित फिल्म '**मदर इंडिया**' **तो** हिन्दी फिल्म निर्माण के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुई। इस फिल्म को ऑस्कर के लिए भी चुना गया था।

इस दौर में न सिर्फ फिल्मों के विषय चुनाव में परिवर्तन आया अपितु गीत – संगीत में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इस समय सिनेमा की सबसे बड़ी ताकत बनकर उभरा उसका संगीत। 1946 ई. तक सहगल का फिल्म संगीत पर लगभग एकाधिकार बना रहा। उस समय भी के. सी. डे , कानन बाला, खान मस्ताना , अख्तरी बाई फैजाबादी , उमा शशि आदि मौजूद थे पर सहगल के आगे सभी फीके थे। 1937 ई. में पार्श्व गायन की शुरुआत हो जाने के बावजूद अधिकांश नायक – नायिकाएं स्वयं ही अपने गीत गाते थे। इस दौर में गायकों को अभिनेता के रुप में भी पहचान मिल रही थी। जिसके उदाहरण सहगल और सुरेंन्द्र हैं। सुरेन्द्र महबूब की फिल्म **'मनमोहन**' में नायक में रुप में उतारे गये थे।

1947 ई. के बाद अनेक विलक्षण स्वर एकसाथ दृश्यपटल पर उभर कर आए। सहगल के बाद शमशाद बेगम , लता मंगेशकर , मोहम्मद रफी , किशोर कुमार , गीता दत्त, आशा भोसलें आदि गायक गायिका सामने आते हैं। लेकिन बौद्धिक समाज सबसे अधिक इसी गीत – संगीत के लिए हिन्दी सिनेमा को कोसता है कि हर वक्त फिल्मों में गीत कहां से आ जाते हैं । दरअसल यह वही लोग थे जो अपनी जड़ों से टूटकर

[3] मृत्युंजय, सिनेमा के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन,दिल्ली, तृतीय संस्करण,2011, पृ.129

महानगरीय चमक – दमक से आक्रांत विस्थापित होता हुआ अपनी प्रकृति और सभ्यता से दूर पाश्चात्य जूठन के लालच को सर्वोपरि मानकर नकली आधुनिकता को ओढ़ रहा था। वह कैसे समझता कि ऐसा कौन सा मुकाम है भारतीय जनजीवन का , जन्म से लेकर मृत्यु तक , जिसका कोई भी पल गीत – संगीत के माधुर्य और वेदना से अनुरंजित न होता रहा हो। तो ये परम्परा फिल्मों में कैसे न आती , वो भी उस परिस्थिति में जब भारतीय जनता अनेक तरह के कष्टों को झेल रही हो। कहीं न कहीं ये गीत – संगीत थोड़ी देर के लिए ही सही परन्तु उनके कष्टों को भुला देती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि 1940 से 1960 के दौर में हिन्दी सिनेमा भी साहित्य की भांति ही लोगों के तत्कालीन समस्या को वाणी देने का काम कर रही थी। जिसका प्रभाव लोगों पर साहित्य से भी ज्यादा पड़ रहा था क्योंकि साहित्य तो शिक्षित पाठक और सुधीजनों तक ही सीमित रह जाता था परन्तु सिनेमा जन- जन तक पहुँच रहा था।

यदि हम इस दौर के भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य को देखते है तो ऐसा लगता है कि अनेक भाषा , धर्म , जाति , सम्प्रदाय , रीति – रिवाज वाला बहुसांस्कृतिक राष्ट्र (भारत) 1947 ई. के बाद कहीं न कहीं अपना मूल रुप खोने लगा था। प्रत्येक चीजों में विविधता , जो पहले भारत की मजबूती या शक्ति थी , वहीं आजादी के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कमजोरी बनने लगी थी। परतंत्र भारत में जिस भारत के अलग – अलग भाषा , धर्म , जाति , सम्प्रदाय के लोग बिना हिन्दू – मुस्लिम किये एकजुट होकर ब्रिटिशों के खिलाफ लड़ रहे थे , वही आजादी के अन्तिम दौर में और उसके बाद भी हिन्दू – मुस्लिम के नाम पर परस्पर लड़ने लगे थे जो आज भी अनवरत चल रहा है। ये लोग यह भूल गये कि हम सब एक ही राष्ट्र के निवासी हैं। हम सब हिन्दूस्तानी है न कि हिन्दू – मुस्लिम। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन भारत में धर्म और जाति को लेकर सम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये थे जिसका प्रभाव आज भी दिखाई पड़ता है। इसी धर्म के नाम पर ही देश का विभाजन भी हुआ जोकि बहुत दु:खद है। भारत जैसे बहुधर्मी राष्ट्र में धर्म को आधार बनाकर हो रहे संघर्ष के परिणाम को कहीं न कहीं संविधान निर्माता समझ चुके थे। शायद इसी कारण संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतंत्रता का प्रावधान किया गया है कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार जीवन जीने का पूरा अधिकार हैं।

यदि हम भाषा की बात करें तो प्रारम्भ से ही भारत में बहुभाषी संस्कृति रही है। यहाँ अलग – अलग क्षेत्रों में अलग – अलग भाषा का प्रयोग होता रहा है। शायद यही कारण था कि संविधान में इस बात का ध्यान रखते हुए कई भाषाओं को संवैधानिक अधिकार प्रदान किया गया जो समयानुसार आगे ही बढ़ता गया। लेकिन आजादी के बाद हम देखते हैं कि इसी भाषा को आधार बनाकर लोगों ने अलग राज्य की

माँग प्रारम्भ कर दी। जिसके उदाहरणस्वरुप हम 1 अक्टूबर 1953 ई. में गठित आन्ध्रप्रदेश राज्य को देख सकते हैं। यह राज्य स्वतंत्र भारत में भाषा के आधार पर गठित होने वाला पहला राज्य था।

भाषा अनेक आधारों की उपज है। प्रत्येक भाषा किसी न किसी सामाजिक गठन – कबीला , लघुजाति या महाजाति से जुड़ी होती है। यह गठन आर्थिक बुनियाद पर निर्मित होता है। बुनियाद के बदलने पर गठन बदलता है और उसके साथ भाषा भी बदलती है। मध्यवर्गीय समाज के उदय के कारण 1940 से 1960 के दौर में भाषा में भी परिवर्तन दिखाई पड़ रहा था। इस दौर में भाषा सिर्फ संप्रेषण का माध्यम नहीं रह गया था अपितु समाज में उच्चवर्गीय प्रतिष्ठा का प्रतीक बन चुका था। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश भारत में रहते हुए अपने कार्य-काज को सुचारु रुप से चलाने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिये थे। क्योंकि ब्रिटिश यह चाहते थे कि ये भारतीय सिर्फ शरीर और रंग से भारतीय रहें परन्तु विचारों और रहन – सहन से अंग्रेज बन जाये। 1947 ई. के बाद अग्रेंजी और भारतीय भाषाओं या कहें हिन्दी भाषा में एक संघर्ष सा छिड़ गया था। भारतीय समाज का वह वर्ग जो बोलचाल के लिए अग्रेंजी भाषा का प्रयोग करता था , वह स्वयं को श्रेष्ठ तथा अन्य को कमतर आंकने लगा। जिसके कारण भारतीय समाज में एक भाषायी खाई बढने लगी थी जिसका प्रभाव आज भी दिखाई पड़ रहा है।

भाषा को लेकर बढ़ते दरार और खाईयों के बावजूद भारतीय भाषाएँ निरंतर विकसित होती रही क्योंकि इसी दौर में प्रत्येक भारतीय भाषाओं में बहुतेरे साहित्य रचे जा रहे थे , रंगमंच विकसित हो रहा था , फिल्मे बन रही थी , कार्यलयी कार्य अग्रेंजी के साथ – साथ हिन्दी और अन्य प्रांतीय भाषाओं में हो रहे थे। कहने का तात्पर्य यह है कि संविधान के माध्यम से ही सही लेकिन भारतीय भाषाओं को मजबूती प्रदान करने का प्रयास चल रहा था।

इस दौर में यदि हम रहन – सहन और खान – पान की शैली देखें तो कहीं न कहीं पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दिखाई पड़ता है। हम यह नहीं कहते कि सम्पूर्ण भारतीय समाज पाश्चात्य सभ्यता के आगोश में आ गया था परन्तु यह सच है कि भारतीय समाज का कुछ वर्ग या कहें उच्च वर्ग अपने परम्परिक परिधान का त्याग कर अग्रेंजों की भांति सूट – बूट पहनने लगे थे , अपने घरों को पाश्चात्य शैली के अनुसार सजाने लगे थे , खान – पान की शैली भी काफी हद तक परिवर्तित हो गई थी। अब यह वर्ग जमीन पर बैठकर खाना खाने के बजाय कुर्सी – मेज का प्रयोग करने लगे थे , जो आज तक चला आ रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 1940 के बाद अधिकांशत: आजादी के बाद भारत में एक ऐसे समाज का उदय हो रहा

था जो प्रत्येक चीजों में पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण कर रहा था। जिसका जिक्र तत्कालीन साहित्य और सिनेमा दोनों में ही किया जा रहा था।

रीति – रिवाज और तीज – त्यौहार के मामले में तो भारत हमेशा से ही अव्वल रहा है। यहाँ प्रत्येक धर्म और जाति के लोगों का अपना अलग – अलग रीति – रिवाज और त्यौहार है। जिसे वे पूरी आजादी के साथ मनाते भी हैं। इतना ही नहीं भारत में तो अधिकांश प्रांत का अपना – अपना लोकनृत्य , लोकनाट्य , लोकगीत भी है , जो उन्हे एक अलग पहचान देती है। ये लोकगीत , लोकनाट्य और लोकनृत्य न सिर्फ उनके मनोरंजन के साधन है अपितु उनके प्रत्येक भावनाओं के अभिव्यक्ति का माध्यम भी हैं फिर चाहे वह सुख हो या दु:ख। यह परम्परा 1940 से 1960 के दौर में भी चलता रहा। आजाद भारत में एक परिवर्तन दिखा ई पड़ता है कि 26 जनवरी (गणतंत्र दिवस) , 15 अगस्त (स्वतंत्रता दिवस) और 2 अक्टूबर (गांधी जयंती) को राष्ट्रीय पर्व के रुप में घोषित किया गया। यह राष्ट्रीय पर्व भारतीयों को भाषा, धर्म , जाति इत्यादि से ऊपर उठाती है और प्रत्येक भारतीय चाहे वह हिन्दू हो , मुस्लिम हो , सिक्ख हो , ईसाई हो , सभी इसे राष्ट्रीय पर्व के रुप में मनाते हैं। जबकि अन्य त्यौहार और रीति- रिवाज प्रांतीयता और भाषा , धर्म, जाति इत्यादि के बंधन से बँधा हुआ है।

1947 ई. के बाद भारतीय समाज में लोगों का जीवन स्तर भी सुधर रहा था। परतंत्र भारत में ब्रिटिशों द्वारा प्रताड़ित जनता जब आजाद भारत में प्रवेश करती है तो उसे शासक के रुप में एक ऐसा भारतीय नेता सत्ता पर आसीन मिलता है , जो आशावादी नीतियों के साथ लोक कल्याणकारी कार्यों हेतु पंचवर्षीय योजनाओं को लाता है। यह एक आर्थिक आयोजन था, जिसके अन्तर्गत पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सीमित प्राकृतिक संसाधनों का कुशलतम उपयोग किया जाता है। आजादी के बाद जब पहली बार भारत में 1 अप्रैल 1951 ई. में इस पंचवर्षीय योजना को लागू किया तो इसका उद्देश्य आर्थिक संवृद्धि , आर्थिक व सामाजिक असमानता को दूर करना , गरीबी का निवारण तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना था। इसी के तहत प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गई थी जिससे कृषि की स्थिति में सुधार लाने का प्रयास किया गया था। यह योजना काफी हद तक सफल रही थी क्योंकि इस योजना ने लक्ष्य से आगे बढ़कर 3.6 प्रतिशत विकास दर को हासिल किया था। इस योजना के दौरान राष्ट्रीय आय में 18 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। तो दूसरे पंच वर्षीय योजना (1956 – 1961 ई.) में उद्योगों और खनिजों को उच्च प्राथमिकता दी गई थी। इसका उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना था। इसी योजना के तहत वृहत उद्योग जैसे – दुर्गापुर , भिलाई , राउरकेला के इस्पात कारखाने लगाये गये थे। जिसमें लोगों को नौकरियां भी मिली। इन प्रयासों से

भारतीय जनता की स्थितियों में थोड़ा सा सुधार तो हुआ परन्तु ऐसी परिस्थिति नहीं बन पायी जिसका सपना भारतीय जनता नए भारत निर्माण या स्वतंत्र भारत के लिए देखी थी। जिन उद्देश्यों को लेकर पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई थी , कहीं न कहीं वह आज भी पूरी होती नहीं दिख रही है क्योंकि आज भी एक तरफ जहां आर्थिक और सामाजिक असमानता बरकरार है तो वहीं दूसरी तरफ गरीबी और बेरोजगारी का आलम भी कम नहीं हुआ है। शायद इन्ही असफलताओं के कारण लोगों का सत्ता से मोहभंग होने लगा था। इन सब कमियों के बावजूद भी हम ये कहेगें कि परतंत्र भारत की अपेक्षा स्वतंत्र भारत में परिस्थितियाँ काफी कुछ बदल रही थी। बस उसकी गति बहुत धीमी थी , शायद उसका कारण वर्षों की गुलामी रही हो ।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि 1940 से 1960 ई. का दौर भारत के लिए एक उथल – पुथल का दौर रहा है। 1940 ई. के बाद '**भारत छोड़ो**' आन्दोलन के साथ स्वतंत्रता आन्दोलन अपनी अन्तिम अवस्था में हिन्दू – मुस्लिम मतभेद का शिकार हो गई जिसका परिणाम 15 अगस्त 1947 ई. में आजादी के साथ भारत एवं पाकिस्तान के विभाजन के रुप में आज भी देखा जा सकता है। परतंत्र भारत में ब्रिटिशों के शोषण के खिलाफ लड़ते हुए भारतीयों ने आजाद भारत के रुप में एक ऐसे भारत का सपना देखा था , जहां समानता, शिक्षा , रोजगार इत्यादि पर सबका अधिकार हो। परन्तु स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय जनता को ये सब सपने सच होते प्रतीत नहीं हो रहे थे इसका कारण सत्ता के प्रति लोलुपता था। शायद यही कारण था कि लोगों का शासन के प्रति मोहभंग हो रहा था। इसके साथ ही साथ लोगों में कुंठा, निराशा**,** हताशा जन्म ले रही थी। जिसे अपना काव्य विषय या उपन्यास , कहानी का कथ्य बनाकर साहित्यकार रचनायें कर रहे थे । उनकी रचनाएं ऐतिहासिकता तथा पौराणिकता को छोड़ कर इस दौर में जनता के तत्कालीन समस्याओं को वाणी दे रहे थे। इतना ही नहीं , इन्ही समस्याओं को केन्द्र में रखकर इप्टा एवं पृथ्वी थियेटर जैसे रंगमंच थियेटर के घेरे से बाहर निकल देश के प्रत्येक कोने में घूम – घूम कर खेत , खलिहान , गली ,चौगान इत्यादि स्थानों पर अपने नाटकों की प्रस्तुति दे रहे थे। इन नाटकों और रंगमंच को और मजबूती प्रदान करने का कार्य तत्कालीन दौर में उदित हो रहे संस्थान जैसे संगीत नाटक अकादमी , राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय इत्यादि ने किया। उस दौर में इप्टा एवं पृथ्वी थियेटर के कलाकार स्वयं को सिर्फ थियेटर तक ही सीमित नहीं रखा अपितु ये कलाकार सिनेमा के क्षेत्र में जाकर फिल्मकार , अभिनेता , संगीतकार आदि की भूमिका भी बेहतरीन ढंग से निभा रहे थे। इस दौर में बनने वाली फिल्मों के केन्द्र में भी वही शोषण , गरीबी , भुखमरी , अकाल , अशिक्षा , बेरोजगारी , देशविभाजन ही था , जो तत्कालीन साहित्य में भी उठाया जा रहा था। इसी दौर में धर्म को लेकर जो सम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हुए उसे भी साहित्य और फिल्मों में बखूबी उठाया

गया। भाषा के स्तर पर इस दौर में अग्रेंजी शिक्षा को वर्ग प्रतिष्ठा का प्रतीक बना दिया गया था। तत्कालीन समाज में मध्यवर्गीय उदय के कारण भाषा और रहन –सहन को लेकर एक पाश्चात्य सभ्यता की लहर चल पड़ी थी। लोगों में पाश्चात्य सूट – बूट पहनने और मेज- कुर्सी पर खाने का चलन इसी सभ्यता की ओर इंगित करता है। दूसरे शब्दों में यदि हम कहें कि 1940 से 1960 ई. का दौर भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता का मिश्रित युग था,फिर चाहे वह साहित्य हो , फिल्म हो या रहन- सहन , खान –पान, वेष – भूषा हो , तो यह असत्य नहीं होगा।

दूसरा अध्याय

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर : उद्भव और विकास

जैसाकि यह सर्वविदित सत्य है कि किसी भी संस्था या संगठन की स्थापना एकाएक या रातोंरात नहीं हो जाती अपितु वह वर्षों की सोच और परिश्रम का प्रतिफल होती है। ठीक इसी प्रकार '**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' की स्थापना भी अकस्मात् या रातोंरात नहीं हुई। इनके स्थापना के पीछे भी कई लोगों की सोच और वर्षों का परिश्रम कार्य कर रही थी। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों के स्थापना के पीछे भी एक लम्बा इतिहास रहा है।

'**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' का उदय काल लगभग एक ही है। जहाँ '**इप्टा**' की स्थापना 25 मई 1943 ई. को हुई थी वहीं '**पृथ्वी थिएटर**' की स्थापना 15 जनवरी 1944 ई. को हुई थी। दोनों के स्थापना वर्ष से स्पष्ट है कि इनके उदय के मध्य कुछ ही महीनों का अन्तराल है और यह समयान्तराल स्पष्ट कहता है कि इन दोनों संगठनों के समक्ष एक ही प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ विद्यमान थी। ये दोनों संगठन एक ही दौर से गुजर रहे थे तो ज़ाहिर सी बात है कि इनके समक्ष समस्याएँ भी समान रही होगीं। अब प्रश्न उठता है कि आखिर वो कौन सी परिस्थितियाँ या समस्याएँ थी जो इन दोनों संगठनों के समक्ष अपना विकराल रुप धारण किये हुए खड़ी थी ?

हमारा इतिहास साक्षी है कि 1940 ई. के बाद का दौर न सिर्फ भारत के लिए अपितु पूरे विश्व के लिए बेहद उलझा हुआ और नाजुक दौर था। यह वही दौर था जब भारतीय जनता का स्वतंत्रता संग्राम बहुत कठिन हालात से गुजर रहा था। दूसरे विश्वयुद्ध के विनाश ताण्डव, ब्रिटिश साम्राज्यवादी शोषण और यूरोप के फासीवादी कुकर्मों के परिणामों को भी भारतीय जनता झेल रही थी। विदेशी शासकों के षड्यंत्रों के चलते सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिक दंगों की झड़ी सी लग गई थी। इन्ही स्थितियों के चलते बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। यह अकाल दैवीय नहीं बल्कि मानव निर्मित था। इस अकाल के पीछे विदेशी शासक और देशी कालाबाजारी करने वाले तत्व सीधे तौर पर जिम्मेदार थे। इस अकाल के बारें में **पण्डित जवाहरलाल नेहरु** ने अपनी पुस्तक '**हिन्दुस्तान की कहानी**' में लिखा है – **"अकाल पड़ा..... भीषण , दहलाने वाला ; ऐसा घोर कि बयान से बाहर। मालाबार में , बीजापुर में , उड़ीसा में और सबसे बढ़कर बंगाल के हरे – भरे सूबे में। आदमी , औरत नन्हे बच्चे हजारों की तादाद में रोज खाना न मिलने के कारण मरने लगे। कलकत्ते के महलों के सामने लोग मरकर गिर पड़ते। उनकी**

लाशें अनगिनत गाँवों की मिट्टी की झोपड़ियों में और देहातों , सड़कों पर और खेतों में पड़ी थी। यहाँ मौत के पीछे न कोई मकसद था , न कोई हेतु , न उसकी जरुरत थी। यह आदमी के निकम्मेपन और कठोरता का नतीजा था। यह इंसान की पैदा की हुई थी।"[4]

अत: देश में उत्पन्न उपर्युक्त परिस्थितियों के मध्य प्रगतिशील संस्कृतिकर्मी, रंगकर्मी, कलाकार एवं बुद्धिजीवी वर्ग कैसे शान्त बैठ सकते थे ? शायद इसीलिए चालीस के दशक की शुरुआत से ही, 1936 ई. में मुम्बई में प्रतिभाशाली लेखकों ने मिलकर प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन यानी प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) नाम से एक साझा मंच बनाया। **ख़्वाजा अहमद अब्बास, मुल्कराज आनन्द , सरदार ज़ाफरी** और **राजेन्द्र सिंह बेदी** जैसे नामचीन लेखक इस मंच के चमकते सितारे थे। लेखकों की भांति अन्य कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों एवं रंगकर्मियों ने भी अपने – अपने स्तर पर एक व्यापक लोकतांत्रिक सांस्कृतिक आंदोलन की लहर को उत्पन्न किया।

इन प्रगतिशील संस्कृतिकर्मियों, रंगकर्मियों एवं कलाकारों ने देश में उत्पन्न हुए विषम परिस्थितियों का तमाशा देखने के बजाय ब्रिटिश शोषण, फासीवाद, विदेशी लूट, साम्प्रदायिकता, बंगाल के अकाल जैसी समस्याओं को अपने कलाओं के माध्यम से चुनौती देना प्रारम्भ किया। इस दौरान भारत के अलग – अलग प्रांतों के कलाकार अपने – अपने स्तर पर शोषण एवं अकाल के विरूद्ध संघर्ष करते हुए जनसाधारण को जागरुक करने का प्रयास कर रहे थे। इसी प्रयास क्रम में कुछ नौजवान लेखक, कवि, कलाकार (**ज्योति बसु , निखिल चक्रवर्ती , रेनू राय एवं चिन्मोहन सेहानबीस**) ने मिलकर 1940 ई. में **'यूथ कल्चरल इंस्टीट्यूट'** बनाया। इनके अतिरिक्त **श्यामनाथ सिन्हा, सुनील चटर्जी** एवं विश्वविद्यालय के कुछ छात्र जैसे – **जॉलीमोहन कौल, सुब्रता बनर्जी, सुनील सेन , हरकुमार चतुर्वेदी, रामकृष्ण मुखर्जी, सुजाता मुखर्जी, रामागोस्वामी, उमा चक्रवर्ती, कमल बोस , दिलीप रॉय , चित्रा मजूमदार, मोहित बनर्जी, तरुण मुखर्जी** आदि इस संस्था से जुड़े हुए थे। इस संस्था का मुख्य कार्य विचार गोष्ठी , नाट्य , नृत्य और गायन प्रस्तुत करना था।

स्वतंत्रता आन्दोलन, जागरण और संस्कृति कर्म इत्यादि क्षेत्र में बंगाल सदैव ही देश को दिशा दिखाने वाला प्रांत रहा है। अत: इस नए सांस्कृतिक जागरण में हमेशा की तरह बंगाल ने एक बार पुन: देश का नेतृत्व किया। बंगाल के **विनय रॉय** ने अकाल पीड़ितों के लिए धन संग्रह हेतु एवं देश में स्वतंत्रता की चेतना जागृत करने हेतु 1942 ई. में **'बंगाल कल्चरल स्क्वायड'** नामक मंडली की स्थापना की। इसमे

[4] अजित पुष्कल/हरिश्चन्द्र अग्रवाल (सं),नाटक के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन,दिल्ली, चौथा संस्करण,2013, पृ.181

विनय रॉय के अतिरिक्त **उषा, रेवा राय,** पंजाब के **प्रेमधवन** और बिहार के ढोलक वादक **दशरथ लाल** भी थे। इस मंडली की विशेषता यह थी कि इसने अपनी स्थापना के साथ ही जबरदस्त कार्य करना प्रारम्भ किया और देश के प्रत्येक प्रांत में भ्रमण करते हुए अपने सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से धन एकत्रित करने का कार्य किया। यह मंडली अपने नाटकों के माध्यम से बंगाल के लोगों का दु:ख, दर्शक का दु:ख बना देती थी। इस बात का अंदाजा हम इससे लगा सकते हैं कि पंजाब दौरे पर इस मंडली ने लगभग ढाई लाख रुपये एकत्रित किया था, जो उस समय अपने आपमें एक बड़ी धनराशि थी। यह मंडली नाट्य मंचन तो करती ही थी, साथ ही साथ गीतों के माध्यम से भी देश की दशा को जनता के समक्ष प्रस्तुत करती थी। **वामिक जौनपुरी** के जिस गीत ने उस समय देश में तहलका मचा दिया, वो गीत था –

"पूरब देश में डुग्गी बाजी, फैला दु:ख का जाल।

दु:ख की अग्नि कौन बुझाए, सूख गए सब ताल।

जिनके हाथों ने मोती रोपे, आज वही कंगाल -

रे साथी , आज वही कंगाल।

भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल।"

यह स्क्वायड अपने कार्यपद्धति के कारण इतना प्रभावशाली साबित हुआ कि यह देश के जिस भी स्थान पर जाता , वहीं पर इस तरह की मंडली बन जाती थी। एक बार यह स्क्वायड आगरा गया और अपने कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया। इसी स्थान पर **दशरथ लाल** के गीत '**अब तो आय गए क्रान्ति के जमनवा, जागो हो ललनवा ना'** को दर्शकों द्वारा खूब पसंद किया गया। इस कार्यक्रम और इस मंडली की सादगी, प्रभावशीलता से इप्टा के सशक्त हस्ताक्षर रहे **राजेन्द्र रघुवंशी** अत्यधिक प्रभावित हुए । इन्होने अपनी आत्मकथा (जो अभी भी अप्रकाशित है) में '**बंगाल कल्चरल स्क्वायड'** के बारें में लिखा है कि - "**विनय रॉय के कार्यक्रम को देखा तो समझ में आ गया कि रंगमंच का कैसे सरलीकरण हो और कैसे इसे जनजागृति का साधन बनाया जाए। कैसे कलारुपों में नयी विषय वस्तु को रखकर सामयिक बनाया जाए और कैसे कला को साम्राज्यवादियों और समाज के शत्रुओं के विरुद्ध शस्त्र के रूप में उपयोग किया जाए।"**[5] रघुवंशी जी पर इस स्क्वायड का इतना प्रभाव पड़ा कि इन्होने अप्रैल 1942 ई. में **विशन खन्ना** के साथ मिलकर '**आगरा कल्चरल स्क्वायड'** नाम से एक जनोन्मुखी

[5] नेमिचन्द्र जैन (सं), 'नटरंग', खंड-18, अंक 71, सितबंर- 2003, पृ.27

सांस्कृतिक संस्था की स्थापना की। इस मंडली का पहला प्रदर्शन उसी वर्ष 1 मई 1942 ई. को बेकर पार्क (अब सुभाष पार्क) में हजारों श्रमिकों के, विशेष रुप से फौजी वर्दी बनाने वाले दर्जियों के समक्ष हुआ। इनके द्वारा मंचित पहला नाटक था –'**आज का सवाल**' जो उस समय पूरे शहर में चर्चा का विषय बना।

इन जन कलाकारों एवं मंडलियों की सांस्कृतिक गतिविधियों में तत्कालीन भारत की असंख्य शोषित – पीड़ित साधारण जन की मुक्ति की उत्कट आकांक्षा अभिव्यक्ति पा रही थी। मुक्ति के लिए भारतीय जनता की छटपटाहट का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब अगस्त 1942 ई. में गाँधी जी ने '**भारत छोड़ो आन्दोलन**' का बिगुल बजाया था तब समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों ने उनका साथ दिया फिर चाहे वो युवक हो या महिलाएँ , किसान हो या सरकारी अधिकारी, देशी रियासतें हो या मुस्लिम समुदाय के लोग। इन सभी वर्गों का आन्दोलन में उतरना उस समय अपने आप में बहुत बड़ी बात थी। यह दौर स्वतंत्रता संग्राम के भीतर से उत्पन्न हुआ एक विराट देशव्यापी जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन का था। '**बंगाल कल्चरल स्क्वायड**' की तरह '**आगरा कल्चरल स्क्वायड**' भी लोगों के मध्य घूम-घूम कर **विनय रॉय** का दिया गीत '**भूखा है बंगाल रे साथी**' गाते हुए अकाल पीड़ितों के लिए धन एकत्रित करने लगा। इस गायक मंडली में **रांगेय राघव** भी थे, जो स्वयं राजनीतिक घटनाओं पर उद्बबोधक गीत लिखने के साथ- साथ सामूहिक रूप से गाते भी थे। '**बापू बोल-बोल-बोल , जिन्ना बोल-बोल-बोल , ये है देश की पुकार**' जैसे गीत को **रांगेय राघव** ने समूह में गाया था। लेकिन 1943 ई. में जब इप्टा की स्थापना हुई तो **राजेन्द्र रघुवंशी** ने '**आगरा कल्चरल स्क्वायड**' का विलय उसी में कर दिया।

बंगाल से शुरु हुआ यह सांस्कृतिक आन्दोलन आगरा के साथ - साथ देश के कोने - कोने में अपना प्रभाव दिखाने लगा था। बंगाल से अनुभव प्राप्त **निरंजन सेन** द्वारा दिल्ली में सांस्कृतिक दल का गठन किया गया, इसमे **सरला गुप्ता** भी शामिल थी। लखनऊ में **रशीद जहां** के नेतृत्व में प्रगतिशील नाटकों के मंचन हेतु '**ग्रुप थिएटर**' का गठन किया गया। आन्ध्र में भी किसान संगठन के साथ लोक कला को नए रुप में प्रस्तुत करने हेतु जागरुक कलाकार प्रवृत्त हुए।

इस आंदोलन के दौरान ही प्रत्येक क्षेत्र के तत्कालीन संस्कृतिकर्मियों ने यह महसूस किया कि वे जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं , वह समस्या सिर्फ एक प्रांत या क्षेत्र की समस्या नहीं है अपितु लगभग पूरे भारत देश की समस्या है। इसलिए उन्हे एक ऐसा मंच चाहिए था जो सिर्फ एक प्रांत या क्षेत्र की आवाज न बनकर सम्पूर्ण देश की आवाज को बुलन्द कर सके और उनके आंदोलन को मजबूती प्रदान कर सके।

अत: ज़ाहिर सी बात है कि बिना मजबूत संगठन के किसी व्यापक आंदोलन की, जो स्थायी भी हो, कल्पना ही असंभव है। यही कारण था कि उस दौर में भारत के तमाम संस्कृतिकर्मियों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा यह महसूस किया जाने लगा था कि '**अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'** की भांति एक राष्ट्रीय स्तर का '**जननाट्य संघ'** भी गठित किया जाये। सभी क्षेत्र के बुद्धिजीवी इस बात से सहमत थे कि प्रदर्शनकारी कला माध्यमों के द्वारा ही साधारण अशिक्षित जनता से सम्पर्क साधा जा सकता है।

अत: संस्कृतिकर्मियों, रंगकर्मियों एवं कलाकारों के इसी एहसास और आवश्यकता ने देश के प्रत्येक कोने से प्रगतिशील व्यक्तियों को एक मंच पर एकत्रित किया और यह मंच था तत्कालीन बम्बई (अब मुम्बई) में मारवाड़ी विद्यालय का एक हॉल। जहाँ कला के प्रत्येक क्षेत्र (लेखन, संगीत - गायन, नृत्य, नाट्य, अभिनय, चित्रकारी इत्यादि) से जुड़े हुए लोगों ने एक साथ एकत्रित होकर 25 मई 1943 ई. को '**भारतीय जननाट्य संघ**' **(इप्टा IPTA – इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन)** की स्थापना कर, राष्ट्रीय स्तर पर एक संगठन के देखे हुए अपने सपने को मूर्त रूप प्रदान किया।

25 मई 1943 ई. को इप्टा की स्थापना हुई इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि सारे प्रतिनिधि इसी दिन एकत्रित हुए और एकाएक इसकी स्थापना कर दिये। 25 मई की औपचारिक समारोह के पूर्व ही वो सारे प्रतिनिधि जो '**भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा)'** को बनाने में रुचि रखते थे, एक स्थान पर एकत्रित हुए और प्रत्येक उस मुद्दे पर बातचीत किये जो जननाट्य संघ की स्थापना के लिए आवश्यक था। उदाहरण के लिए – जननाट्य संघ के प्रबन्धन में क्या - क्या कठिनाईयां हो सकती है ? जननाट्य संघ द्वारा मंचित किये जाने वाले नाटक, जो लिखे जायेगें वो किस प्रकार का होगा? कहने का अर्थ यह है कि उस नाटक के केन्द्र में समाज का कौन सा वर्ग होगा, समाज के किस प्रकार की समस्याओं को नाटक के केन्द्र में रखा जायेगा इत्यादि?

इप्टा का यह नामकरण देश के महान वैज्ञानिक **डॉ. होमी जहांगीर भाभा** ने किया था। इन्होने ही **रोमेन रोलैण्ड** की प्रसिद्ध पुस्तक **'पीपुल्स थिएटर**' से प्रभावित होकर 1942 ई. में **सुश्री अनिल डिसिल्वा** को यह नाम सुझाया था। अनिल डिसिल्वा, सिलोन (बरास्ता बंगलौर) की युवा पत्रकार थी। **'इप्टा'** का प्रतीक चिह्न मशहूर चित्रकार **चित्तप्रसाद** ने अपनी पेटिंग '**कॉल ऑफ द ड्रम्स'** से तैयार किया था। इप्टा का सूत्रवाक्य है – "**पीपुल्स थिएटर स्टार्स द पीपुल अर्थात् जनता के रंगमंच का असली नायक जनता है।"**

'इप्टा' की स्थापना के साथ ही 25 मई 1943 ई. को बम्बई के उसी मारवाड़ी हॉल में **'इप्टा'** का प्रथम सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसके सुसंचालन एवं सुव्यवस्था के लिए कुछ पदाधिकारियों को भी नियुक्त किया गया था। **'इप्टा'** का पहला अध्यक्ष तत्कालीन ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के महामंत्री, एक सुधारवादी श्रमिक नेता **एन. एम. जोशी** को बनाया गया। **सुश्री अनिल डिसिल्वा** को महामंत्री तो **ख़्वाजा अहमद अब्बास** को कोषाध्यक्ष तथा **विनय रॉय** और **के. टी. चंडी** को संयुक्त महामंत्री बनाया गया था।

इन पदाधिकारियों के नियुक्ति के बाद इप्टा के प्रांतीय इकाईयों जैसे – बम्बई इप्टा, दिल्ली इप्टा, बंगाल इप्टा, पंजाब इप्टा, उत्तर प्रदेश इप्टा, कर्नाटक इप्टा इत्यादि के लिए भी औपचारिक रुप से समितियों का गठन किया गया क्योंकि इप्टा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार इस नाट्यान्दोलन को पूरे देश में फैलाना था। जैसाकि यह सच है कि किसी भी आन्दोलन को एक सही दिशा की आवश्यकता होती है और उसे सही दिशा देने के लिए उचित व्यक्ति का प्रतिनिधि के रुप में चुनाव उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि जब राष्ट्रीय स्तर पर **इप्टा** का गठन हुआ था तो प्रांतीय स्तर पर **इप्टा** के ईकाईयों का गठन क्यों किया गया ? जहाँ तक मुझे प्रतीत होता है और मैं इस बात को मानती भी हूँ कि देश के नागरिकों की अधिकांश समस्याएँ एक समान होती है लेकिन भारत की भौगोलिक संरचना भिन्न-भिन्न होने के कारण कुछ राज्यों की अपनी विशेष समस्याएँ भी होती है जो उसे अन्य राज्यों से अलग करती है। अत: किसी प्रान्त विशेष की समस्याओं को जितने बेहतर तरीके से वहाँ के भुक्तभोगी लोग समझ सकते हैं शायद ही कोई अन्य क्षेत्र का व्यक्ति उसे समझ पाये। **इप्टा** का तो उद्देश्य ही था तत्कालीन समस्याओं को केन्द्र में रखकर नाट्य मंचन करना। अत: **इप्टा** की प्रांतीय इकाईयां अपने प्रांत की तत्कालीन समस्याओं को बखूबी समझ सकती थी।

इप्टा के स्थापना के साथ ही बम्बई के मारवाड़ी हॉल और दामोदर हॉल में जो सम्मेलन प्रारम्भ हुआ था, उसके अध्यक्ष **प्रो. हीरेन मुखर्जी** थे। सम्मेलन सुबह साढ़े आठ बजे से प्रारम्भ होकर रात्रि तक चलता रहा। सुबह के सत्र् में राष्ट्रीय एवं प्रांतीय स्तर पर समितियों का गठन तथा संकल्पपत्र प्रस्तुत किया गया। इसके साथ ही **प्रो. हीरेन मुखर्जी** ने सम्मेलन में शामिल लोगों को सम्बोधित करते हुए अपने वक्तव्य लोगों के समक्ष रखे। 25 मई 1943 ई. को बम्बई में **'इप्टा'** के पहले सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए जो कुछ प्रोफेसर मुखर्जी ने उस समय कहा था, उसकी गूँज आज भी है। जिसका जिक्र करते हुए **ज़ावेद अख्तर** ने अपने एक लेख **'जननाट्य आन्दोलन की नयी भूमिका'** में लिखा है कि उन्होने कहा था – **" मैं चाहता**

हूँ कि आप सब, जो कुछ भी हमारे भीतर सबसे अच्छा है , उसे अपनी जनता के लिए अर्पित कर दें, जो इतने लम्बे अरसे तक दबाकर रखी गयी थी पर जो अब अपने असली रुप में शानदार ढंग से वापस आ रही है। लेखक और कलाकार आओ, आओ अभिनेता और नाटककार, तुम सारे लोग, जो हाथ और दिमाग से काम करते हो, आओ और अपने आपको स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय का वीरत्वपूर्ण समाज बनाने के लिए समर्पित कर दो और अगर हम कोई उद्देश्य वाक्य चाहते हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि मेहनतकश इस जमीन का नमक है और उसकी नियति में साझेदार बनना ही हमारे ज़माने का सबसे बड़ा विजय अभियान है।[6]"

इस प्रकार प्रो. हीरेन मुखर्जी के वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि कला के प्रत्येक क्षेत्र के लोगों से आवाहन कर 25 मई 1943 ई. को **'इप्टा'** की स्थापना तो कर दी गई। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि 25 मई 1943 ई. को स्थापित होने वाली **इप्टा** आखिर है क्या ? क्या यह कोई संस्था है या संगठन या फिर इप्टा एक आन्दोलन है ?

इस प्रश्न का जवाब भिन्न-भिन्न लोगों ने अपने – अपने तरीके से देने का प्रयास किया है। इप्टा के पचास वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में **राजेन्द्र रघुवंशी** के पुत्र **जीतेन्द्र रघुवंशी** ने कई विद्वानों द्वारा लिखे गये लेखों को एक पत्रिका में संकलित कर संपादित किया। इस संकलन में **जावेद अख्तर** जी का भी एक लेख था। **जावेद अख्तर** ने अपने लेख – **'जननाट्य आंदोलन की नयी भूमिका'** में लिखा है कि – **"इप्टा संगठन से ज्यादा एक आंदोलन रहा है। संस्कृतिकर्मियों का एक ऐसा व्यापक और साझा मोर्चा, जिसने भारतीय जनता की संस्कृति की रक्षा की , अनेकों सफल लड़ाईयां लड़ी। इप्टा भारतीय जनता की पीड़ा की सच्ची अभिव्यक्ति रहा है। अपने स्थापना वर्ष 1943 से लेकर लगातार डेढ़ दशक तक देश का नृत्य – संगीत , रंगमंच से जुड़ा शायद ही कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति हो , जो इस आंदोलन से न जुड़ा हो – बलराज साहनी , पृथ्वीराज कपूर , ख्वाज़ा अहमद अब्बास , सलिल चौधरी, शैलेन्द्र , प्रेमधवन, भूपेन हजारिका, उदयशंकर , रविशंकर , दुग्गल, ऋत्विक घटक, अमर शेख, तोप्पिल भासी, दीना पाठक, शबाना आजमी, राजेन्द्र रघुवंशी , नेमिचन्द्र जैन इत्यादि - इन नामों की लम्बी फेहरिस्त है।"[7]**

---

[6] जीतेन्द्र रघुवंशी (सं), भारतीय जननाट्य संघ (Golden And Going Strong – 1992-94) , इप्टा नेशनल कमेटी प्रकाशन, आगरा, पृ.14-15

[7]वही

इप्टा के सक्रिय सदस्य और फिल्म अभिनेता **ए.के. हंगल** के अनुसार – **"इप्टा एक महत्वपूर्ण गैर व्यावसायिक दल है।"**[8]

'इप्टा' पर हमेशा यह प्रश्न उठता है कि क्या इप्टा किसी पार्टी का संगठन है? ये सच है कि इप्टा को मजबूत रुप प्रदान करने में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता **पी. सी. जोशी** का बहुत बड़ा हाथ था। वह कला – संस्कृति को सामाजिक राजनीतिक बदलाव का मजबूत जरिया मानते थे। अपने विचारों की वजह से संस्कृतिकर्मियों के बीच वे काफी लोकप्रिय थे। मगर दूसरी ओर यह भी एक बड़ा सच है कि इप्टा किसी पार्टी की शाखा नहीं थी। प्रख्यात अभिनेता **बलराज साहनी** ने कहा था कि – **"भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) न तो किसी राजनीतिक पार्टी से संबद्ध है , न किसी गुट से। यह एक ऐसा संघ है , जहां सभी राजनीतिक दलों और गैर राजनीतिक लोगों का स्वागत है। इस संघ के सदस्य बनने की एक मात्र शर्त है – देशभक्ति, अपनी जनसंस्कृति पर गौरव।"**[9]

ऐसा आज भी देखा जा सकता है कि इप्टा किसी पार्टी विशेष की शाखा नहीं है। अगर ऐसा होता तो आज भी इप्टा के वार्षिक सम्मेलन में अलग- अलग क्षेत्रों में काम करने वाले अनेक सांस्कृतिक संगठन , कलाकार, स्वतंत्र बुद्धिजीवी , सामाजिक कार्यकर्ता , साहित्यकार आदि इसके समारोह में शिरकत नहीं करते।

इप्टा क्या है? इस बारें में जिक्र करते हुए **'ज़ोहरा सहगल'** ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि **"इप्टा एक स्वयंसेवी संगठन था जिसका मक़सद पैसा कमाना न होकर समाज के मौजूदा शासकों के अन्याय के ख़िलाफ़ कलाकारों की आवाज को एक मंच मुहैया कराना था। चाहे वह गीत हों , कविताएँ हों, बैले हों या नाटक – सभी का मक़सद अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज उठाना था। उस दौर का हर कलाकार जिसका थोड़ा-बहुत भी नाम हो, इप्टा में शामिल था। कलाकार इप्टा की ओर इस तरह खिंचे चले आते थे जैसे मधुमक्खियाँ शहद की ओर। संगठन में कला के हर क्षेत्र की बड़ी सी बड़ी शख्सियतें शामिल थी।"**[10]

इन सभी बातों के आधार पर तो यही लगता है कि इप्टा कला के प्रत्येक क्षेत्र के लोगों का एक ऐसा समूह था जो एक साथ संगठित होकर, एक जनान्दोलन के रुप में अपने पथ पर अग्रसित हो रहे थे। इप्टा

---

[8] सत्यनारायण नाटे का समाचार पत्र में प्रकाशित लेख - 'शीर्षक - एक आंदोलन, एक परम्परा,एक विरासत', जनसत्ता, दिनांक - 21मई 1995, पृ. 3

[9] वही, पृ.2

[10] ज़ोहरा सहगल, क़रीब से मंच और फ़िल्मी पर्दे से जुड़ी यादें, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण,2013, पृ. 92

को मात्र एक संस्था, संगठन या जनान्दोलन के रुप में देखने की अपेक्षा इन सभी के मिश्रित स्वरुप में देखना अधिक उचित होगा क्योंकि बिना संगठित हुए किसी भी जनान्दोलन को सफल नहीं बनाया जा सकता और बिना किसी जनान्दोलन या सामाजिक कार्य के, यूँ ही संगठित होना भी उचित बात नहीं है।

इप्टा के उद्देश्य

जैसाकि हम सभी जानते हैं कि किसी भी संस्था या संगठन के स्थापना के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। इप्टा की स्थापना के पीछे भी बुद्धिजीवियों के कई उद्देश्य निहित थे और उन्ही उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संस्कृतिकर्मी, रंगकर्मी, लेखक और कलाकार आदि सभी मिलकर निरंतर प्रयास कर रहे थे जिसमे काफी हद तक वे सफल भी हुए थे। इप्टा की प्रथम महासचिव **सुश्री अनिल डिसिल्वा** ने इसका उद्देश्य निर्धारित करते हुए कहा था कि- "**इप्टा, जनता में विश्व की प्रगतिशील शक्तियों के साथ मिलकर साहस और निश्चय के साथ अपने दुश्मन के विरुद्ध संघर्ष का उत्साह पैदा करें तथा उसमें यह विश्वास बनाये रखें कि एकजुट ताकत के रुप में वह अजेय है।**"

इसके अतिरिक्त इप्टा के कई अन्य उद्देश्य और भी थे ,जो निम्नलिखित है

1.बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिए धन जुटाना

जब **'इप्टा'** की स्थापना 1943 ई. में हुई थी तो स्मरण करिए यह वही दौर था जब द्वितीय विश्व युद्ध अपने अन्तिम दौर में था और भारत के भीतर चल रहे स्वतंत्रता संग्राम भी कहीं न कहीं अपने अन्तिम चरण की ओर अग्रसर था। 1942 ई. में गाँधी जी के नेतृत्व में '**अग्रेंजो भारत छोड़ो**' आन्दोलन का जो आगाज़ हुआ था उससे ब्रिटिश हुकूमत पूरी तरह से बौखला उठी थी। दूसरी ओर बर्मा पर जापान का कब्जा हो जाने के कारण वहां से चावल का आयात बंद हो गया था। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश शासन ने अपने सैनिकों के लिए चावल की जमाखोरी करना प्रारम्भ कर दिया। जापान के आक्रमण के डर से बंगाल में नावों को नष्ट किया जाने लगा था और इसी कारण आपूर्ति व्यवस्था ठप हो गई जिससे बंगाल में अकाल जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई। बाजार में चावल की कमी के कारण कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। कीमत में बेतहाशा वृद्धि के कारण गरीब भारतीय जनता अनाज खरीदने में लाचार हो गई और बंगाल की जनता भुखमरी के कगार पर आ खड़ी हुई। प्रतिदिन बंगाल में हजारों की संख्या में लोग भूख के कारण मरने लगे थे।

ऐसी परिस्थति में एक ऐसा संगठन जिसका मकसद ही तत्कालीन समस्याओं पर आधारित नाटकों का मंचन करना था और अपने उस मंचन द्वारा देश के किसी एक कोने की समस्या से पूरे देश की जनता को परिचित कराना था, वह संगठन बंगाल के इतनी बड़ी समस्या के प्रति असंवेदनशील कैसे हो सकता था ? अत: **विजन भट्टाचार्य** ने बंगाल के अकाल को केन्द्र में रखकर '**नवान्न**' जैसा बेहद खूबसूरत नाटक लिखा, जिसे इप्टा के कलाकारों द्वारा बार – बार कई स्थानों पर मंचित किया गया। इसके अतिरिक्त **राजेन्द्र रघुवंशी** जो आगरा से सम्बन्ध रखते थे, इन्होने बंगाल पीड़ितो के लिए धन संग्रह हेतु **रांगेय राघव** की डायरी से दुर्भिक्ष पीड़ित परिवार की गाथा निकाली और एकांकी '**आधा सेर चावल**' लिखा। यह सत्य घटना पर आधारित एकांकी थी क्योंकि **रांगेय राघव** बंगाल में अकाल के दौरान डॉक्टरों के खेमे के साथ बंगाल गये थे और उस त्रासदी को अपने आँखों से देखा था और उसी घटना को अपने डायरी में लिखा था। यह एकांकी जब मंचित किया गया तब उसके मंचन ने दर्शकों के दिलो-दिमाग को इस क़दर झकझोर डाला कि अधिकांश दर्शक बिना कुछ बोले अकाल पीड़ितों के लिए यथाशक्ति सहयोग करने लगे। इप्टा के कलाकार नाटक के मंचन के बाद दर्शकों से बंगाल के अकाल पीड़ितों के मदद हेतु यथाशक्ति धनराशि दान देकर सहायता करने की अपील करते। इप्टा के कलाकार देश के कोने – कोने में जाकर अपने नाटकों एवं गीतों के माध्यम से बंगाल के अकाल पीड़ित लोगों की मनोदशा को देश के हर नागरिक तक पहुँचा रहे थे। ताकि भारत के दूसरे प्रान्त की जनता भी बंगाल की जनता के दु:ख को अपना दु:ख समझ कर उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ी हो सके।

2. स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति भारतीय जनता को जागृत करना –

'**इप्टा**' का उद्देश्य रंगमंच, संगीत तथा नृत्य के माध्यम से आम समाज में जागरुकता फैलाना था। तत्कालीन नाट्य संस्थाएँ सिर्फ अपने शहर के विकास तक सीमित रहती थी जबकि '**इप्टा**' अपनी शाखाओं के माध्यम से देश के कोने-कोने तक फैला हुआ था और वहाँ की तत्कालीन समस्याओं को केन्द्र में रखकर नाटकों का मंचन करता था। इप्टा अपने नाटकों में ही उस समस्या के कारण को इंगित करने का प्रयास करता था जिससे अशिक्षित जनता को ये बात समझ में आ जाये कि वे लोग जिन समस्याओं से परेशान है, उसका असली जिम्मेदार कौन है और जहाँ तक सम्भव होता इप्टा उस समस्या को दूर करने का रास्ता भी नाटकों के माध्यम से ही इंगित कर देता।

3. कला के विविध रुपों को प्रोत्साहन देना –

'इप्टा' के स्थापना का एक उद्देश्य भारत में रंगमंच, संगीत, नृत्य एवं अन्य ललित कला-विधाओं और साहित्य के विकास को प्रोत्साहन देना था। शायद इसी उद्देश्य के कारण **'इप्टा'** के साथ लेखक, गीतकार, संगीतकार, चित्रकार, कलाकार इत्यादि एकसाथ एकजुट हुए थे और किसी भी कार्यक्रम को सफल बनाने में सबका महत्वपूर्ण योगदान होता था जिसे सभी एक स्वर में स्वीकार भी करते हैं। **'इप्टा'** की स्थापना का यह काल सांस्कृतिक पुनर्जीवन तथा मोर्चे पर व्यापक दृष्टिकोण तथा खुले चिन्तन का काल था, जहाँ मात्र लिखने की ही बेचैनी नहीं थी बल्कि लेखकों, बुद्धिजीवियों तथा संस्कृतिकर्मियों के अनुभवों से नाटकों को समृद्ध करने की समझदारी भी थी। **'इप्टा'** ने लम्बे मंचीय नाटकों के अलावा **नुक्कड़ नाटक**, **एकांकी** मंचन तथा **बैले** आदि भी मंचित किये हैं। 1943 से 1947 ई. के मध्य इप्टा ने **शांति वर्धन** तथा **नागेश** द्वारा नृत्य निर्देशित एवं **रविशंकर, विनय रॉय** और **अभिनी दास गुप्ता** द्वारा संगीतबद्ध छह बैले किये हैं। **'इप्टा'** के द्वारा महाराष्ट्र की लोककलाओं जैसे लावणी, पोवाडा, तमाशा आदि की भी प्रस्तुतियाँ की गई हैं। यह इप्टा के संगीत दल के सदस्यों की ही देन है जिन्होने **प्रेमधवन, शंकर शैलेन्द्र** द्वारा लिखित एवं **कनु घोष** द्वारा संगीतबद्ध देशभक्ति गीतों को लोकप्रियता दिलवाई। इप्टा के ही सदस्य बंबई में **शांति बर्धन, सचिन शंकर, रविशंकर तथा नरेन्द्र शर्मा** ने भारतीय शास्त्रीय परम्परागत तथा लोकनृत्यों को आधार बनाकर एक नई नृत्य शैली को जन्म दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि **'इप्टा'** ने सिर्फ मंचन पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं किया अपितु रंगमंच को परम्परागत लोकशैली से जोड़ने के साथ – साथ संगीत, नृत्य इत्यादि कलाओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

4. ब्रिटिश शोषण एवं नीतियों का विरोध करना –

'इप्टा' की स्थापना का एक उद्देश्य ब्रिटिश शोषण एवं उनकी नीतियों का रंगमंच के माध्यम से विरोध करना था। इस सांस्कृतिक आन्दोलन ने प्रदर्शनात्मक कलाओं के माध्यम से समकालीन यथार्थ को चित्रित किया। तत्कालीन दौर में इप्टा ही वह रंगमंच था जो थिएटर की चहारदीवारी से नाटक को बाहर निकाल कर किसानों, मजदूरों, महिलाओं या यूँ कहे कि उपेक्षित वर्गों के मध्य लेकर गया। यह संगठन अपने नाटकों के द्वारा ही समाज के सभी वर्गों के लोगों को ब्रिटिश नीतियों से अवगत कराता था। उदाहरण के लिए- तत्कालीन ब्रिटिश शासकों द्वारा धर्म को आधार बनाकर हिन्दू- मुस्लिम के नाम पर भारतीय जनता को परस्पर लड़ाने का प्रयास किया जा रहा था और इसी आधार पर देश विभाजन की फुसफुसाहट भी प्रारम्भ हो गई थी। ऐसे नाजुक वक्त में **'इप्टा'** ही वह संगठन था जो देश के कोने- कोने में जाकर भारतीय जनता

को यह बताने का प्रयास कर रहा था कि धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता एवं दंगे फैलाने का काम ब्रिटिशों की '**फूट डालो राज करो**' नीति का एक हिस्सा है। अत: हम भारतीय को आपस में समझदारी से काम लेना चाहिए न कि ब्रिटिशों के चाल को कामयाब बनाने में उनकी मदद करनी चाहिए। इसी प्रकार इप्टा ब्रिटिशों के अन्य नीतियों का विरोध भी नाटक के माध्यम से ही करता था।

इप्टा का ढाँचा एवं कार्यपद्धति

अव्यावसायिक ढाँचा

नाटक को थिएटर से बाहर निकाल कर उसे आम जनता के मध्य गाँव - गाँव, गली – मोहल्ले, खेत - खलिहान तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही '**इप्टा**' के संस्थापकों ने इसका ढाँचा ग़ैर व्यावसायिक रखा क्योंकि यदि इप्टा भी अपने समकालीन थिएटरों की भाँति शो देखने के लिए टिकट का प्रावधान कर देता तो इसके मंचन भी कुछ दर्शकों तक ही सीमित हो जाते। परन्तु इप्टा का तो उद्देश्य ही था नाटक को जन-जन तक पहुँचाना।

'**इप्टा**' अपने जन्मकाल से ही एक ऐसा अव्यावसायिक नाट्य संगठन था, जिसमे कला के विविध क्षेत्रों के लोग अपनी इच्छानुसार शामिल होकर देश के विकास में अपना योगदान देने का प्रयास कर रहे थे। अव्यावसायिक होने के कारण ही इसमे किसी भी कलाकार को वेतन देने की परम्परा नहीं थी। शायद इसी कारण इप्टा के कलाकार अपने आजीविका के लिए अन्य कार्यो में भी संलग्न थे। जिसका जिक्र **ज़ोहरा सहगल** ने अपनी आत्मकथा में करते हुए लिखा है कि – "**हम लोग दिन में अपने- अपने कामों को निपटाने के बाद शाम को मिला करते थे और सामाजिक सरोकारों के लिए सबमें ऐसा जज़्बा होता था कि इप्टा के लिए अपना समय देने में किसी को भी कोई गुरेज़ नहीं होता था।**"[11]

'**इप्टा**' के कलाकारो द्वारा अन्य क्षेत्रों में कार्य करने के कारण ही **'इप्टा'** पर यह आरोप भी लगता है कि उसके अधिकांश सदस्य सीरियल, फिल्म इत्यादि क्षेत्र से जुड़े होने के कारण रंगमंच की तरफ ध्यान कम देते थे। शायद इसी आरोप के जवाब में इप्टा के राष्ट्रीय अध्यक्ष रह चुके **कैफ़ी आज़मी** कहते हैं कि

[11] ज़ोहरा सहगल, करीब से मंच और फ़िल्मी पर्दे से जुड़ी यादे, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 93

– "अगर इप्टा अपने रंगकर्मियों को पैसा नहीं देता है तो इन रंगकर्मियों को फिल्मों एवं सीरियलों से जुड़कर आजीविका कमाने का हक है।"

'इप्टा' के अव्यावसायिक होने के कारण ही यह अपने तत्कालीन थिएटर की भांति अपने नाटकों का मंचन किसी थिएटर के अंदर न करके इसके कलाकार अपने शो को खेत- खलिहान, गली- मुहल्ले, सड़कों और नुक्कड़ो पर अर्थात् प्रत्येक उस स्थान पर करते थे, जहाँ देखने वाले जमा हो सकें। अगर यह थिएटर भी व्यावसायिक होता तो इन्हे ऐसे स्थानों पर मंचन की आवश्यकता ही न पड़ती।

कार्यपद्धति

जैसाकि यह बात सर्वविदित सत्य है कि कोई व्यक्ति हो या संगठन, सभी का अपना कार्य करने की एक पद्धति होती है। ठीक उसी प्रकार **इप्टा** का भी कार्य करने की एक पद्धति थी। **इप्टा** के संस्थापकों द्वारा इप्टा के किसी भी कार्य को सुव्यवस्थित एवं सुचारु रुप से करने के लिए कुछ पदाधिकारियों जैसे अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, महासचिव, कोषाध्यक्ष इत्यादि का गठन किया जाता था। ये पदाधिकारी, संगठन द्वारा सौंपे गये कार्यों को पूरी जिम्मेदारी से करते थे। यह केन्द्रीय समिति संगठन का कामकाज सम्भालने के साथ ही साथ प्रत्येक वर्ष या दो- तीन वर्ष बाद इप्टा का अधिवेशन भी करवाती थी जिसमे अध्यक्ष और उपाध्यक्ष इत्यादि का नामांकन भी हुआ करता था।

1943 ई. में इप्टा की स्थापना के साथ ही इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ था। उसके बाद 1944 ई. में दूसरा और 1945 ई. में तीसरा अधिवेशन भी बम्बई में ही हुआ था। 1946 ई. में इसका चौथा अधिवेशन कोलकाता में हुआ था। तत्पश्चात् इसका अधिवेशन दो वर्ष बाद 1948 ई. में अहमदाबाद में हुआ तथा छठवाँ अधिवेशन 1949 में इलाहाबाद में हुआ था। इस अधिवेशन के बाद चार वर्ष का अन्तराल दिखाई पड़ता है और 1953 ई. में पुन: इसका सातवाँ अधिवेशन बम्बई में हुआ। जबकि इसका आठवाँ अधिवेशन 23 दिसम्बर 1957 से 1 जनवरी 1958 ई. तक दिल्ली के रामलीला मैदान में हुआ था।

इप्टा के इन अधिवेशनों में पदाधिकारियों के चुनाव के साथ- साथ, इप्टा द्वारा किये गये कार्यों का मूल्यांकन भी किया जाता था। इसके साथ ही साथ यह भी देखा जाता था कि इप्टा के जिन उद्देश्यों को पिछले अधिवेशन में निर्धारित किया गया था उसकी प्राप्ति कहाँ तक हो पायी है। इन सम्पूर्ण मूल्यांकन के बाद ही आगे की रणनीतियाँ तैयार की जाती थी। इन अधिवेशनों में भारत के कोने- कोने से कलाकार एक स्थान पर एकत्रित होते थे और अपने अभिनय क्षमता को दुनिया के समक्ष प्रस्तुत करते थे।

इप्टा के कलाकार परस्पर मिलकर किसी भी नाटक को सफल बनाने मे यथाशक्ति अपना योगदान देते थे। जैसाकि इप्टा में विभिन्न कला क्षेत्र के लोग जुड़े हुए थे, अत: कहीं न कहीं वो अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ होते थे और वो इस संगठन में अपने रुचि एवं कार्यकुशलता के अनुसार ही कार्यों का चयन कर लेते थे। उदाहरण के लिए – जैसे कोई लेखक है तो वह अधिकांशत: लेखनी का कार्य चुनता था, कोई नृत्य में महारथी है तो वह अन्य कलाकारों को नृत्य का प्रशिक्षण दिया करता था। कोई गीतकार है तो वह नाटक के लिए जन गीत रचता था इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संगठन से जुड़े लोगों पर किसी प्रकार का कोई दबाव नहीं रहता था, वो अपने रुचि के अनुसार अपने कार्यों का चयन कर लेते थे।

चूँकि इप्टा में किसी भी कलाकार को वेतन नहीं दिया जाता था । इसलिए ये कलाकार अपनी आजीविका चलाने हेतु अन्य स्थानों पर भी कार्य करते थे। अत: इप्टा समिति की ओर से इन कलाकारों को यह आजादी होती थी कि नाटक के रिहर्सल हेतु नाटक में शामिल कलाकार आपस में बात करके एक-दूसरे के सुविधानुसार कभी भी नाटक का रिहर्सल कर सकते थे बशर्ते नाटक के रिहर्सल पर उसका कोई नकरात्मक प्रभाव न पड़े , जिससे नाटक मंच पर कमजोर दिखाई पड़े।

इप्टा में पृथ्वी थिएटर की भांति कलाकारों के साथ अनुबंधन जैसी कोई परम्परा नहीं थी। इस थिएटर में यह परम्परा बिल्कुल भी नहीं था कि कोई भी कलाकार इप्टा में काम करते समय किसी अन्य स्थान पर काम नहीं कर सकता जैसाकि पृथ्वी थिएटर में था। यहाँ पर कलाकारों से इस प्रकार का कोई समझौता या करार नहीं किया जाता था। शायद इसका कारण इप्टा द्वारा कलाकारों को कोई वेतन न देना था।

इप्टा के कलाकार इप्टा के आदर्श सूत्रवाक्य **'पीपुल थिएटर स्टार्स द पीपुल'** को सदैव याद रखते थे और उसी के मार्गदर्शन में अपने गीत, नृत्य और रचनाओं को प्रदर्शन स्थल के जनता की आकांक्षाओं के अनुसार निर्मित करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इप्टा के कलाकार पहले से रचे रचाये नाटकों को जनता पर नहीं थोपते थे अपितु ये कलाकार जहाँ जाते थे वहाँ की समस्याओं को लेकर आशु (एक्सटम्पोर) नाटकों की रचना करते थे। जिस स्थान पर ये पहुँचते थे, वहाँ की समस्याओं को लोगों से मिलजुल कर समझते थे, उन समस्याओं को नाटक की शक्ल में ढालते थे, पात्र निर्धारित करते थे और रिहर्सल करते थे। इसके बाद ही वहाँ की समस्या आधारित नाटक को मंचित करते थे।

इप्टा का बिखराव

'इप्टा' की शुरुआत भारत में प्रगतिशील सांस्कृतिक पुनर्जागरण की शुरुआत थी। बिना किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि इप्टा जिस सांस्कृतिक आंदोलन का सूत्रपात बना था, उस तरह के सांस्कृतिक आंदोलनों के विश्व इतिहास में कुछ गिने- चुने ही उदाहरण हैं। इप्टा ने देश को महानतम लेखक, गीतकार, संगीतकार, कलाकार एवं नाटककार दिए। इप्टा ने भारतीय थिएटर को एक नई पहचान और मुकाम प्रदान किए लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि इप्टा का सुनहरा दौर भी 1947 ई. के आते- आते बीत चुका था। वह सांस्कृतिक आंदोलन, जो देश की जनता की आंकाक्षाओं और उम्मीदों को आत्मसात किए था, उनको गौरव और आदर्श प्रदान करता था, वह बहुत तेजी से बिखरा। इस बिखराव के बारें में इप्टा की सक्रिय सदस्य रही **ज़ोहरा सहगल** ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि – **"1947 के दौरान इप्टा के कुछ लोगों को सरकार की ओर से परेशान किए जाने के वाक़ये हुए, कुछ खास नाटकों पर रोक लगा दी गई, कलाकारों को गिरफ्तार किया गया। उस समय देश में अन्तरिम सरकार थी और जवाहरलाल नेहरु उसके उपाध्यक्ष बनाये गए थे। मैं भी उसी दौरान इप्टा की उपाध्यक्ष चुनी गई थी। मैनें पण्डित नेहरु को एक चिट्ठी लिखी और उन्हे इप्टा के सदस्यों के साथ हो रही ज्यादतियों के बारें में बताते हुए उनसे मदद की गुज़ारिश की। हालाँकि उन्होने बहुत ही जिम्मेदराना जवाब देते हुए कहा कि उन्हे कलाकारों के साथ हो रहे व्यवहार के बारें में पता नहीं था और वह देखेंगे कि इस बारें में क्या किया जा सकता है और हुआ भी वही, कुछ समय बाद ही इप्टा की ये दिक्कतें खत्म हो गईं। बावजूद इसके धीरे-धीरे इप्टा का असर कम होता गया, शायद इसलिए क्योंकि इसके बहुत से कलाकार फिल्मी दुनिया में काफ़ी मशहूर हो चुके थे और अब उनमें बिना बदले में कुछ मिले इप्टा के कामों में खटने का जज़्बा बाकी नहीं रहा था। कई सारे लोगों को लगता था कि इप्टा पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का असर है और क्योंकि ये लोग इस राजनीतिक विचारधारा से इत्तेफ़ाक़ नहीं रखते थे सो वे इसे छोड़कर चले गए।"**[12]

इसके अतिरिक्त इप्टा के बिखराव के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह है – **'देश की आजादी'**। जब 1947 ई. में देश आजाद हुआ तो इप्टा का मुख्य एजेण्डा ही स्वत: समाप्त हो गया और वह एजेण्डा था विदेशी शोषण- शासन के विरुद्ध सांस्कृतिक आंदोलन करना। देश की जनता की मुक्ति का सवाल अब

[12] ज़ोहरा सहगल, क़रीब से, मंच और फ़िल्मी पर्दे से जुड़ी यादें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 93

कोई मुद्दा ही नहीं रह गया था इसलिए इप्टा भी अपने आपको लक्ष्य विहीन महसूस करने लगी। देश के बँटवारे और कम्युनिस्ट आंदोलन के बिखराव ने भी इप्टा पर काफी नकरात्मक प्रभाव डाला।

पृथ्वी थिएटर

एक ही दौर में उदित हुए दो नाट्य संगठनों (**इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर**) में जहाँ इप्टा कई लोगों की सोच एवं परिश्रम की उपज थी, वहीं '**पृथ्वी थिएटर**' की स्थापना **पृथ्वीराज कपूर** द्वारा देखे गये सपने का मूर्त रुप था या यूँ कहे कि नाट्य कला को देश के जन-जन तक पहुँचाने का एक अकेले व्यक्ति का प्रयास था। वैसे तो औपचारिक रुप से **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना **15 जनवरी 1944 ई**. को पृथ्वीराज कपूर द्वारा बम्बई के ऑपेरा हाउस इलाके में बनी इमारत '**रॉयल ऑपेरा हाउस**' में किया गया था। इस थिएटर का मोटो था – '**कला देश की सेवा में।**'

कला के प्रति प्रेम और सम्मान का अंदाजा पृथ्वीराज के इसी बात से लगाया जा सकता है जब उन्होने एक स्थान पर कहा है कि **" मेरे लिए कला एक तड़प है, स्पन्दन है, जीवन है। मैं चाहता हूँ कि कला जनजीवन का दर्पण बनें जिसमे वह अपने आपको देख सके, सँवार सके, सुन्दर बन सके और उन्नति कर सके। अत: सच्ची कला वह है जो जीवन को सही मायने में चित्रित करे – कला समाज की अवस्था का प्रतिबिम्ब है।"**[13]

लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि 15 जनवरी 1944 ई. को जब पृथ्वीराज कपूर ने **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की थी, तब वह अपने फिल्मी जीवन अर्थात् सिनेमा जगत के शिखर पर विराजमान थे। पृथ्वीराज कपूर उन दिनों मे सुपरस्टार कहे जाने वाले अभिनेता थे। अब स्वाभाविक सी बात है कि एक सुपरस्टार को फिल्म में अभिनय करने के लिए अच्छा भुगतान भी मिलता रहा होगा। फिर ऐसे क्या कारण थे कि पृथ्वीराज कपूर ने फिल्मों के साथ – साथ रंगमंच जैसे कठिन मार्ग पर चलने का निर्णय लिया। जबकि सच्चाई यह है कि उस दौर में इन्हें फिल्मों के काम से ही समय नहीं मिलता था।

कुछ विद्वानों का मानना है कि पृथ्वीराज कपूर को प्रारम्भ से ही थिएटर से बहुत लगाव था। शायद इसलिए उन्होने **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की होगी लेकिन पुन: यही प्रश्न उठता है कि यदि उनके भीतर

[13] जानकीबल्लभ शास्त्री, नाट्य सम्राट श्री पृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर,प्रथम संस्करण, अगस्त 1974, पृ. 56

रंगकर्म के प्रति इतनी अटूट निष्ठा थी तो रंगकर्म के प्रति यह संबंध इप्टा के साथ कार्य करते हुए भी कायम हो रहा था। 1943 ई. में जब इप्टा की स्थापना हुई थी तो पृथ्वीराज कपूर भी उसमें बहुत सक्रिय थे और अन्य लोगों की भाँति वह भी इप्टा में काम करने के लिए फिल्मों से किसी न किसी तरह समय निकाल ही लेते थे। अत: जब पृथ्वीराज कपूर इप्टा में रहकर रंगकर्म के प्रति अपने लगाव के कारण रंगमंच को आगे बढ़ाने का कार्य कर ही रहे थे फिर यूँ अचानक से उनके सामने पृथ्वी थिएटर की स्थापना की आवश्यकता क्यों आन पड़ी ? अत: यहाँ पर इन प्रश्नों के निराकरण के लिए हमें पृथ्वीराज कपूर के प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक हो जाता है –

ज़ोहरा सहगल की आत्मकथा **'क़रीब से, मंच और फिल्मी पर्दे से जुड़ी यादें'** के कुछ तथ्थों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज कपूर के जीवन पर उनके दादा जी **केशवमल,** पेशावर के एडवर्ड्स कॉलेज के **प्रोफेसर जयदयाल** के अतिरिक्त उनके स्कूल के प्रिंसिपल की पत्नी **नोराह रिचर्ड** का काफी प्रभाव रहा है।

सिनेमा का सर्वश्रेष्ठ **'दादा साहब फाल्के'** पुरस्कार प्राप्तकर्ता पृथ्वीराज कपूर का जन्म **3 नवम्बर 1906 ई**. को रावलपिंडी और पेशावर के बीच बसे **तहसील लियालपुर** के एक छोटे से गाँव **समुंदरी** में हुआ था। इनके पिता बशेसरनाथ कपूर पुलिस इंस्पेक्टर थे और माँ एक गृहिणी थी। जब पृथ्वीराज कपूर केवल तीन वर्ष के थे, तभी इनकी माँ का देहान्त हो गया था। इसलिए इनका पालन- पोषण इनके दादा – दादी ने किया क्योंकि इनके दादा केशवमल को यह डर था कि उनका बेटा बशेसरनाथ दोबारा विवाह कर लेगा और वह नहीं चाहते थे कि उनका पोता सौतेली माँ के पास रहकर पले – बढ़े और हुआ भी वही, बशेसरनाथ कपूर ने जल्द ही दोबारा विवाह कर लिया। इनके दादा दीवान केशवमल अनुशासन के मामले में बहुत सख्त थे। वह पेशावर के समुंदरी कस्बे के तहसीलदार थे। केशवमल बहुत दयालु प्रवृत्ति के व्यक्ति थे शायद इसीलिए उनके आस-पास के लोग उन्हे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे। केशवमल पड़ोसियों एवं रिश्तेदारों का दु:ख सुख में बहुत साथ दिया करते थे। वह धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति थे और इसीलिए अपने परिवार और अपने मानने वाले लोगों को सब जन एक समान वाले लोकतांत्रिक संस्कारों पर चलने पर बल देते थे। सभी धर्मों का समान आदर भी करते थे। वह हिन्दू धर्म ग्रन्थ रामायण, गीता, महाभारत इत्यादि पढ़ने के साथ- साथ कुरान, बाइबिल आदि भी पढ़ा करते थे। इसमे कोई शक नहीं कि पृथ्वीराज के जीवन पर दादा केशवमल जैसे ओजस्वी व्यक्ति का प्रभाव सबसे ज्यादा पड़ रहा था। पृथ्वीराज की समुंदरी में बितायी हुई जिंदगी बहुत सीधी-सादी थी, वहां चारों ओर खेत ही खेत थे और कुछ नहीं। शायद इसीलिए भैंस का तबेला उनका पहला मंच बना, जहाँ उन्होने रामायण और महाभारत के प्रसंगो और दृश्यों की

प्रस्तुति की। समुंदरी ही वह स्थान है जहाँ इन्होने अपने दादा केशवमल द्वारा दरियादिली और इंसाफ की पुख्ता समझ विकसित की। उस दौर का तो छोड़िए आज भी लोग मालिक और नौकर के बीच भेदभाव किया करते है लेकिन पृथ्वीराज को हमेशा यह सिखाया गया कि किस तरह से उन्हे अपने नौकरों से भी प्रेमपूर्वक व्यवहार करना है। शायद यही संस्कार **पृथ्वी थिएटर** के गठन के बाद पृथ्वीराज को अपने समूह के लोगों के बीच इतना लोकप्रिय बनाया। कई नौकरों के होते हुए भी पृथ्वीराज अपने बचपन में रोज शाम को पूरी एस्टेट में रोशनी करने के लिए ख़ुद कई सारे कैरोसिन लैंप साफ़ करके जलाते थे, मैदान में कबड्डी मेहतर जाति के बच्चे के साथ मिलकर खेलते थे। उनके हृदय में सभी धर्म और जाति का समान आदर करने का बीज इसी घर में अंकुरित हुआ था। जो सम्पूर्ण जीवन उन पर प्रभावी रहा और यह प्रभाव उनके दादा जी की देन थी।

पृथ्वीराज कपूर जब थोड़ा बड़े हुए तो उनके दादा जी ने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने हेतु उनका दाखिला समुंदरी कस्बे के एक विद्यालय में करा दिया। पृथ्वीराज इसी स्थान से शिक्षा प्राप्त करने के साथ – साथ रंगमंच का ककहरा भी सीखा। पृथ्वीराज ने बचपन में ही अभिनय की दुनिया में कदम रख दिया था। जब ये आठ वर्ष के थे तब पहली बार मंच पर अपने अभिनय का जादू बिखेरा। इन्होने उस समय **'सत्य हरिश्चन्द्र'** नामक नाटक में एक छोटे बच्चे **गनपत** की भूमिका निभाई थी। यह भूमिका बहुत छोटी थी, इस नाटक में इन्हे हरिश्चन्द्र की पत्नी शैव्या से सिर्फ यह कहना था कि रोहिताश्व को सर्प ने डँस लिया है। इस छोटी सी भूमिका को इन्होने इतने नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया कि दर्शकों ने खूब सराहा और एक दर्शक तो इन्हे एक रुपया का इनाम भी दिया, जो उस समय एक बच्चे के लिए बहुत उत्साहवर्द्धन का कार्य किया।

पृथ्वीराज कपूर के अभिनय की यह यात्रा जो विद्यालय से प्रारम्भ हुई अब रामलीला मंडली तक पहुँच आया। उस समय हुआ कुछ यूँ कि समुंदरी कस्बे में जो रामलीला हुआ करता था, उसका प्रबंधन कार्य वहीं के कुछ बड़े – बुर्जुग देखते थे। 1920 ई. के आस – पास की बात है रामलीला प्रबंधन समिति के सदस्यों के मध्य किसी बात को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया और रामलीला मंचन का भविष्य अधर में लटक गया। रामलीला मंचन को विवादों में उलझता हुआ देखकर पृथ्वीराज कपूर ने एक बहुत ही बड़ा साहसिक कदम उठाया और अपने कुछ मित्रों के साथ मिलकर प्रबंधन का कार्यभार स्वयं सम्भाल लिया। इस रामलीला में इन्होने राम की भूमिका निभाने का निश्चय किया परन्तु एक समस्या यह उत्पन्न हो गई कि बहुत तलाश करने के बाद भी लक्ष्मण के किरदार के लिए कोई हिन्दू लड़का नहीं मिल सका। तब पृथ्वीराज कपूर ने अपना साहस दिखाते हुए एक मुस्लिम लड़का **'हबीब'** को लक्ष्मण की भूमिका के लिए चुन लिया

। यह कदम स्वयं में एक साहसी कदम था कि इन्होने हिन्दू धर्म से सम्बन्धित कार्य के लिए मुस्लिम लड़के का चुनाव किया और एक बार भी यह नहीं सोचा कि इस कार्य के लिए वे लोगों के आक्रोश का भी शिकार हो सकते हैं। लेकिन खुशी की बात यह है कि समुंदरी कस्बे में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ अपितु पृथ्वीराज के इसी साहस के बाद वहाँ हिन्दू- मुस्लिम मिलकर रामलीला करने लगे थे।

समुंदरी कस्बे के विद्यालय में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पृथ्वीराज कपूर ने पेशावर के '**किंग एडवर्ड कॉलेज**' में प्रवेश लिया। इस कॉलेज से इन्होने स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की। यही वह संस्थान था जहाँ से पृथ्वीराज कपूर को अभिनय के क्षेत्र में एक नई दिशा प्राप्त हुई क्योंकि यहीं पर **प्रोफेसर जयदयाल** से इनकी मुलाकात हुई थी। उस समय प्रोफेसर जयदयाल '**ड्रैमेटिक सोसाइटी**' के इन्चार्ज थे। प्रो. जयदयाल ने पृथ्वीराज कपूर से हुई अपनी पहली मुलाकात के बारें में अपनी पुस्तक '**आई गो साउथ विद पृथ्वी थिएटर्स**' में जिक्र किया है। दरअसल बात यह है कि एक बार पृथ्वीराज अपने पिता बशेसरनाथ के साथ प्रो. जयदयाल से मिलने गए थे। तब वह विज्ञान पढ़ना चाहते थे परन्तु प्रो. साहब के उत्साहित करने पर उन्होने कला के विषय पढ़ना सुनिश्चित किया। आगे उन्होने लिखा कि अगर पृथ्वीराज विज्ञान पढ़ते तो शायद इंजीनियर या डॉक्टर बनते पर यह रंगमंच के लिए बहुत बड़ी हानि होती और रंगमंच एक बेहतरीन कलाकार हमेशा के लिए खो देता।

प्रोफेसर जयदयाल के सम्पर्क ने पृथ्वीराज कपूर को अभिनय का एक विस्तृत फलक प्रदान किया। स्कूल में नाट्य मंचन और रामलीला में अभिनय के दौरान पृथ्वीराज को वर्ष में एक ही बार अभिनय करने का अवसर प्राप्त होता था परन्तु प्रोफेसर जयदयाल के सम्पर्क में इन्हे अभिनय का खूब अवसर प्राप्त हुआ। इसके साथ ही साथ पृथ्वीराज कपूर, **प्रोफेसर जयदयाल** के साथ मिलकर अभिनय की नई तकनीक सीखने लगे और प्रो. साहब ने भी इनके हुनर के हर पहलू को तराशने का कार्य किया। इस सीखने की प्रक्रिया में पृथ्वीराज कॉलेज के मंच पर अपने अभिनय का जादू बिखेरने लगे। **प्रोफेसर जयदयाल** ने इन्हे एक के बाद एक अनेक अग्रेंजी नाटक के मंचन में उतारा। **प्रो. जयदयाल** द्वारा निर्देशित, **लेडी ग्रेगरी** द्वारा लिखित नाटक '**स्प्रेडिंग द न्यूज**' और **आर. एल. साहनी** द्वारा लिखित नाटक '**दीना की बारात**' में इन्होने अभिनय किया। इसके अतिरिक्त **सिंजी** द्वारा लिखित '**राइडर्स टू द सी**' नामक एकांकी में इनका '**नोरा**' का किरदार बेजोड़ था, जिसे दर्शकों ने खूब सराहा और तभी से इनका नाम दर्शकों की ज़ुबान पर छा गया। रंगकर्म के प्रति इतनी सक्रियता के कारण इन्हे जल्द ही '**कॉलेज एमेच्योर ड्रामेटिक क्लब**' का सेक्रेटरी बना दिया गया।

जब पृथ्वीराज कपूर अभिनय के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे थे तो उस समय वह समाज में फैले एक सोच को भी बदल रहे थे क्योंकि तत्कालीन समाज का यह मानना था कि सभ्य और संस्कारी घर के बच्चे नाच – गाना नहीं करते अर्थात् तत्कालीन समाज अभिनय को हेय दृष्टि से देखता था। पृथ्वीराज कपूर ने अपने अभिनय के माध्यम से लोगों के इसी सोच को बदलने का प्रयास किया। इनका मानना था कि अन्य कलाओं की भाँति अभिनय भी एक कला है और भारत तो कलाओं का सम्मान करने वाला देश हमेशा से ही रहा है , तो अभिनय को इतनी हेय दृष्टि से देखना क्या उचित है ? उस समय पेशावर के समाज में अदाकार होना या बनना बड़े शर्म की बात मानी जाती थी। यहाँ तक की पृथ्वीराज कपूर का परिवार भी अदाकारी को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था। इस हिन्दू पठान परिवार के अनुसार – "**समाज के भटके हुए लोगों से बने दर-दर भटकने वाले भांड और नौटंकी करने वाले बिगड़ैल लोगों के झुंड से अदाकार लोगों का ताल्लुक होता है।**"[14]

जब पृथ्वीराज कपूर 17 वर्ष के थे और **एड्वर्ड कॉलेज** में पढ़ाई कर रहे थे तभी इनका विवाह **राजसरनी मेहरा (रमा)** से हुआ। एड्वर्ड कॉलेज से स्नातक करने के बाद इन्होंने 1927 ई. में कानून की पढ़ाई के लिए लाहौर के '**लॉ कॉलेज**' में प्रवेश लिया। लेकिन 1928 ई. में लॉ के प्रथम वर्ष में ही ये अनुत्तीर्ण हो गये। यह दौर पृथ्वीराज के लिए नाजुक दौर था क्योंकि परिवार की जिम्मेदारियों का बोझ भी बढ़ता जा रहा था। अब तक पृथ्वीराज एक बच्चे के पिता भी बन चुके थे।

लाहौर में कॉलेज के दौरान ही पृथ्वीराज ने फिल्मों में काम करने का मन बना लिया था और जब अपने अदाकार बनने की योजना के बारें में अपने पिताजी बशेसरनाथ को बताया तो वह गुस्से में आग-बबूला हो गए। उन्होने पृथ्वीराज को उस समय जो शब्द बोला था, उसका जिक्र करते हुए **मधु जैन** ने अपनी पुस्तक में लिखा है – "**वह बमक उठे – 'कंजड़' – क्या तुम बस यही बनना चाहते हो ?**"[15]

पिता के क्रोधित होने के बावजूद पृथ्वीराज 1929 ई. में मात्र दो सौ रुपये लेकर फिल्मों में अपनी किस्मत आजमाने कलकत्ता शहर गये। यह दो सौ रुपये उन्हे **कौशल्या खन्ना** ने दिया था,जिसे पृथ्वीराज प्यार से माता जी पुकारते थे। कौशल्या खन्ना, पृथ्वीराज के पिता की रिश्ते की बहन थी और पृथ्वीराज ने बचपन में बहुत सारा वक्त उन्ही के साथ बिताया था। उस दौर में भारत में फिल्में सिर्फ दो भाषाओं में बनती थी – बंगला और हिन्दी। बंगाल के लिए बंगाली भाषा में और बाक़ी भारत के लिए हिन्दी में। बंगाली

[14] मधु जैन (लेखक), कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फ़िल्मी सफर, शिवानी खरे (अनु.),पेंगुइन बुक्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण,2010, पृ.4

[15] वही, पृ.3

फिल्म में अभिनय के लिए ज्यादातर बंगाली कलाकार ही चुने जाते थे। ऐसी परिस्थिति में पृथ्वीराज को फिल्मों में काम पाने के लिए थोड़ा मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा था। उस समय कलकत्ता में **'फिल्म लीग'** नाम की एक संस्था थी। जो फिल्म कम्पनियों और कलाकारों के बीच एजेंट का काम करती थी। पृथ्वीराज भी एक रुपया शुल्क देकर **फिल्म लीग** के सदस्य बन गये। इतना सब कुछ करने के बाद भी पृथ्वीराज को कलकत्ता में असफलता और निराशा ही हाथ लगी। शायद इसीलिए पृथ्वीराज ने कुछ ही महीनों में कलकत्ता छोड़कर बम्बई जाने का निर्णय लिया।

फिल्मों में अभिनय करने का सपना और कलकत्ता की निराशा लिए जब **पृथ्वीराज कपूर** बम्बई पहुँचे तो उनके पास पचहत्तर रुपये ही शेष बचे थे लेकिन संयोगवश इस शहर ने उन्हे हताश नहीं किया और दो-तीन दिन में ही उन्हे काम मिल गया। बम्बई के **मेट्रो सिनेमा** के सामने जिस कश्मीर होटल में पृथ्वीराज ठहरे थे, वहाँ के मैनेजर से पूछने पर पता चला कि यहाँ सबसे नजदीक **'इंपीरियल स्टूडियो'** है। इस स्टूडियो का मालिक **अर्देशिर ईरानी** थे, जिन्हे हिन्दूस्तान की पहली बोलती फिल्म **'आलमआरा'** बनाने का खिताब प्राप्त है। इस स्टूडियो में पृथ्वीराज को बतौर एक्स्ट्रा काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। जिस फिल्म में इन्हे सर्वप्रथम बतौर एक्स्ट्रा काम करने को मिला था , वह मूक फिल्म थी- **'चैलेंज (1929 ई.)।'** इसके अतिरिक्त इन्होने 1929 ई. में ही **अर्देशिर ईरानी** की फिल्म **'वेडिंग नाइट'** और **'दावपेंच'** जैसी फिल्मों में भी बतौर एक्स्ट्रा काम किया। यह ज्यादातर अवैतनिक था। लेकिन पृथ्वीराज के किस्मत में बतौर एक्स्ट्रा काम करना नहीं लिखा था। उनकी किस्मत को कुछ और ही मंजूर था।

अपने काम के तीसरे दिन जब पृथ्वीराज एक्स्ट्रा की कतार में खड़े थे , तभी वहाँ से गुजरती एक यहूदी हीरोइन **एर्मली** (कहीं – कहीं एर्मलाइन) की नज़र इन पर पड़ी। **एर्मली** उस समय **'रंजीत टॉकीज'** में बेताज रानी की हैसियत रखती थी। पृथ्वीराज शारीरिक सौन्दर्य के धनी तो थे ही, अत: उनकी सुन्दरता को देखकर एर्मली ने **'इंपीरियल फिल्म कंपनी'** के मालिक एवं निर्माता **अर्देशिर ईरानी** से कहा कि इस युवक को उनकी अगली फिल्म का नायक बनाया जाये। इस प्रकार **'सिनेमा गर्ल (1930 ई.)'** नामक फिल्म में **पृथ्वीराज** को **एर्मली** के नायक के किरदार के लिए चुना गया। बस फिर क्या था, इस फिल्म के बाद से पृथ्वीराज नाम सिनेमा जगत के लिए एक ऐसा नाम बना जो कई वर्षों तक फिल्मी जगत् में राज करता रहा। मूक फिल्म से अपना सफर प्रारम्भ करने वाले पृथ्वीराज सवाक् फिल्म, टेक्नीकलर फिल्म और 70 एम. एम. तक का सफर तय किया। इसके बाद तो नायक के रुप में ये प्रसिद्ध होते चले गये और अब इन्हे पचहत्तर रुपये प्रति माह के हिसाब से वेतन भी मिलने लगा। लेकिन अभी भी इनकी मुश्किले कम होने का नाम नहीं ले रही थी क्योंकि अब इन्होने अपनी पत्नी

और बच्चों को भी बम्बई बुला लिया था, जिसके कारण यह तनख़्वाह सिर्फ परिवार के खर्चें में खत्म हो जाता था।

इन फिल्मों के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने **आलमआरा , सिकंदर, शेर-ए-अरब, द्रौपदी, दगाबाज़ आशिक** इत्यादि फिल्मों में भी अपने दमदार अभिनय से दर्शकों की खूब तारीफे बटोरे लेकिन '**इंपीरियल कम्पनी**' में अभी काम करते हुए दो वर्ष भी नहीं बीते थे कि पृथ्वीराज बेचैन हो उठे। उनका ध्यान बार-बार थिएटर की ओर ही जा रहा था। अत: 1932 ई. में पृथ्वीराज कपूर सिनेमा छोड़कर '**ग्रांट एंडरसन थिएट्रिकल कम्पनी**' में शामिल हो गये। यह थिएटर कम्पनी अधिकांशत: अग्रेंजी नाटकों का मंचन करती थी लेकिन इस कंपनी की विशेषता यह थी कि इसके निर्देशक '**ग्रांट एंडरसन**' अग्रेंज और हिन्दुस्तानी कलाकारों को एक साथ मंच पर लेकर आए। यह कम्पनी कभी- कभी हिन्दुस्तानी ग्रन्थों जैसे **मृच्छकटिकम्** इत्यादि को अग्रेंजी में रुपांतरित कर तत्पश्चात् इसे पुन: मंचित करती थी लेकिन कम्पनी का ज्यादातर बल **शेक्सपियर** और **बर्नाड शॉ** के नाटकों को अभिनीत करने पर था। पृथ्वीराज कपूर इस थिएटर कम्पनी में काम करते हुए **हैमलेट** में **लार्टस**, **रोमियो एंड जूलिएट** में **रोमियो**, **जूलियस सीज़र** में **कॉसियस** और **मृच्छकटिकम** नाटक में **चारुदत्त** की भूमिका को निभाया करते थे। इस कम्पनी के साथ काम करते हुए इससे जुड़े सारे कलाकारों की जिन्दगी बहुत मुश्किलों भरी हो गयी थी। यह कम्पनी देश के प्रत्येक कोने में घूमते हुए मंचन करती थी और कभी – कभी तो ऐसा होता था कि दौरों पर सिर्फ चना खाकर पेट भरना पड़ता था। आखिरकार एक दिन **ग्रांट एंडरसन** को धन के अभाव में कलकत्ता शहर में अपनी कम्पनी को बंद करना पड़ा।

जहाँ तक हमें लगता है इस कंपनी को बंद करने के पीछे धनाभाव के साथ – साथ एक कारण भाषा भी रही होगी क्योंकि यह कंपनी अधिकांश नाटक अग्रेंजी भाषा में मंचित करती थी और भारत में इस भाषा को समझने वाले बहुत कम दर्शक रहे होगें। अत: कम दर्शक होने के कारण यह कंपनी अपने आर्थिक उद्देश्य को भी पूरा करने में असफल रही होगी। जिसके कारण **ग्रांट एंडरसन** को मजबूरन यह कंपनी बंद करनी पड़ी होगी। कंपनी तो बंद हो गई लेकिन इसने **पृथ्वीराज** को काफी प्रभावित किया। पृथ्वीराज पर इसका सर्वप्रथम प्रभाव यह था कि - प्रो. जयदयाल से सम्पर्क टूटने के बाद अग्रेंजी नाटकों का जो साथ छूटा था वह **एंडरसन कंपनी** के माध्यम से एक बार पुन: जुड़ गया था। इसी **एंडरसन कंपनी** के अनुभव ने **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार की। एंडरसन की सांगठनिक क्षमता और अनुशासन ने पृथ्वीराज को अत्यधिक प्रभावित किया। उस समय पृथ्वीराज इस कंपनी में प्रबंधन का कार्य देखते थे। यहीं से इन्होने सांगठनिक और प्रबंधकीय क्षमता को विकसित किया।

जब **ग्रांट एंडरसन थिएट्रिकल कम्पनी** कलकत्ता में बंद हो गयी तो उसके कुछ अग्रेंज कलाकार इंग्लैड चले गये लेकिन पृथ्वीराज कपूर कलकत्ता में ही रुक गये और वहीं पर फिल्म कम्पनी **'न्यू थिएटर्स'** में शामिल हो गये। जिस कलकत्ता से कभी पृथ्वीराज को असफलता हाथ लगी थी, आज वही कलकत्ता उन्हे कामयाबी के शिखर पर बैठा रहा था। उस समय कलकत्ता सिनेमा में **देबकी बोस, नितिन बोस, पी. सी. बरुआ, ए. आर. करदार और हेमचन्द्र** जैसे लोग अर्थपूर्ण और सामाजिक मुद्दे पर सार्थक सिनेमा का निर्माण कर रहे थे।

कलकत्ता में **देबकी बोस** और अन्य फिल्म निर्माता पृथ्वीराज कपूर के बम्बई सफलता से परिचित थे। अत: इन लोगों ने अपने कई फिल्मों में पृथ्वीराज को मुख्य भूमिका के लिए चुना। **देबकी बोस** द्वारा निर्देशित फिल्म **'सीता' (1933 ई.), 'विद्यापति' (1937ई.) एवं 'राजरानी मीरा'(1933 ई.)** में पृथ्वीराज ने मुख्य किरदार निभाया लेकिन ये सभी फिल्में नायिका प्रधान थी। इस रंगकर्मी की फ़िल्मी ज़िंदगी में कलकत्ता एक मील का पत्थर साबित हुआ। इस शहर ने उन्हे अपने अदाकारी को संवारने का अवसर उपलब्ध करवाया। सात वर्ष के अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान पृथ्वीराज ने लगभग दर्जन भर फिल्मों में काम किया। इनमे कई फ़िल्में ऐसी थी जो इन्हे प्रसिद्धि के द्वार पर ला खड़ा किया। **'न्यू थिएटर'** ने इन्हे ऐतिहासिक किरदार से निजात दिलवायी। उस समय **नितिन बोस** जैसे निर्माता भी थे जो समसामयिक मुद्दे को लेकर भी फिल्में बना रहे थे। **नितिन बोस** द्वारा निर्देशित फिल्म **'प्रेसिडेंट' (1936 ई.) और 'दुश्मन'** तथा बरुआ की फिल्म **'मंजिल' (1936ई.)** इत्यादि में भी पृथ्वीराज ने महत्वपूर्ण किरदार निभाया था।

इसी बीच बम्बई भी फ़िल्मों का सक्रिय गढ़ बन चुका था। **रंजीत मूवीटोन, कोहिनूर फ़िल्म कंपनी, मिनर्वा मूवीटोन, वाडिया मूवीटोन** जैसे स्टूडियो भी खूब फिल्में बना रहे थे। अत: पृथ्वीराज 1939 ई. में पुन: बम्बई वापस आ गये और **चंदुलाल शाह** के **रंजीत मूवीटोन** में शामिल हो गये। रंजीत नाम की यह फिल्म कंपनी उस समय प्रथम श्रेणी की फिल्में निर्मित करती थी। इस कंपनी ने मासिक वेतन के आधार पर पृथ्वीराज को अनुबंधित किया। अनुबंधन के बाद कोई भी कलाकार दूसरे कंपनी के साथ काम नहीं कर सकता था। पृथ्वीराज इस कंपनी के साथ मिलकर **'अधूरी कहानी', 'पागल', 'आज का हिन्दुस्तान', 'सजनी'** आदि फिल्में बनायी। पृथ्वीराज पहले ऐसे कलाकार थे जिन्होने सितारों को तनख्वाह पर रखने की परम्परा को तोड़ा और स्वयं को किसी भी स्टूडियों के साथ काम करने के लिए आजाद किया। सम्भवत: पृथ्वीराज फिल्म जगत् के पहले ऐसे कलाकार थे जिन्होने फ्रीलांसर के रुप में काम करना शुरु किया क्योंकि उस समय द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था और अनुबंधन के आधार पर कंपनी

के मालिक कलाकारों का शोषण कर रहे थे। इसलिए इन्होने अनुबंधन की प्रणाली को तोड़ना उचित समझा । पृथ्वीराज कपूर ने एक फ्रीलांसर के रुप में अन्य कंपनियों के साथ भी फिल्में बनायी। और वे फिल्में थी – **'सिकंदर', 'उजाला', 'राजनर्तकी', 'देवदासी', 'महारथी कर्ण', 'गौरी', 'विक्रमादित्य', 'बाल्मीकि', 'पृथ्वीराज-संयोगिता'** आदि। **'सिकंदर'** फिल्म के लिए पृथ्वीराज को सबसे ज्यादा याद किया जाता है। इस फिल्म के बाद पृथ्वीराज एक ऐसे मशहूर हस्ती बन गये कि वह जिधर भी जाते , लोग कहते , **'वो देखो सिकंदर जा रहा है।'**

फिल्मों की सफलता को देखते हुए यह कहना बिल्कुल भी अनुचित नहीं होगा कि 1943 – 1944 ई. तक पृथ्वीराज एक महानायक के रुप में स्वयं को स्थापित कर चुके थे। फिल्मों में इतनी सफलता के बाद भी थिएटर के प्रति उनका लगाव कम नहीं हुआ था। **थिएटर,** पृथ्वीराज का पहला प्यार और कभी न मिटने वाला जुनून था जबकि फिल्म उनकी रोजी-रोटी थी। 1943 -1944 ई. का समय भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का अन्तिम दौर था,जिसमे अग्रेंजो **'भारत छोड़ो आन्दोलन'** के तहत गाँधी जी **'करो या मरो'** का नारा दे चुके थे। स्वतंत्रता प्राप्ति की इस जनाकांक्षा का प्रभाव फिल्मों पर भी पड़ना लाज़मी था। फिल्म निर्माता अपने फिल्मों में भी इस जनाकांक्षा को प्रतिबिम्बित कर रहे थे लेकिन एक व्यावसायिक क्षेत्र होने के कारण फिल्मों की अपनी कुछ सीमाएं होती थी जिसको निर्माता पार नहीं कर पाते थे। और इन्हीं सीमाओं के कारण निर्माता खुलकर ब्रिटिश हुकूमत का विरोध नहीं कर पा रहे थे। जिसका दु:ख एक नायक होने के कारण पृथ्वीराज को बहुत हो रहा था। अत: वह कुछ अलग करने के लिए बेचैन हो उठे।

धीरे-धीरे पृथ्वीराज को यह एहसास होने लगा था कि आजादी की जनाकांक्षा को पूर्ण रुप से अभिव्यक्त करना है तो उसके लिए सबसे उचित माध्यम रंगमंच ही होगा क्योंकि पृथ्वीराज **प्रोफेसर जयदयाल** और '**ग्रांट एंडरसन थिएट्रिकल कंपनी**' के साथ काम करने के दौरान अपने अनुभव से यह जान चुके थे कि रंगमंच क्या कर सकता है ? उन्हे यह पता था कि रंगमंच ही वह माध्यम है जिसके द्वारा जनता से सीधे संवाद स्थापित किया जा सकता है। शायद यह भी एक कारण था जो पृथ्वीराज को **पृथ्वी थिएटर** स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। **देवदत्त शास्त्री द्वारा संपादित ग्रन्थ 'पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रन्थ' में संकलित ओंकार शरद का लेख 'पृथ्वी'** में यह जिक्र किया गया है कि एक बार पृथ्वीराज कपूर ने 1946 ई. में कहा था कि – "**पृथ्वी थिएटर का निर्माण मैंने इसलिए किया है कि**

रंगमंच के माध्यम से हिन्दुस्तान की आम जनता को शिक्षित व राष्ट्र के लिए जागरुक कर सकूँ ताकि इस विदेशी हुकूमत का जुआ उतार कर जनता फेंक सके।"[16]

इसके अतिरिक्त **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना के पीछे एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है जिसका जिक्र **मधु जैन** ने अपनी पुस्तक '**कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फ़िल्मी सफ़र**' में किया है कि – "**तीस और चालीस का दशक हिन्दुस्तानी थिएटर के लिए बिल्कुल बंजर था। शौकीन सोसाइटी, स्कूलों और कॉलेजों के पास, पश्चिमी नाटकों को अपनाने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नहीं था या जो लोकथिएटर था भी वह महाकाव्यों और धार्मिक गीतों के साथ- साथ मिथकों और किंवदंतियों के लंबे भावपूर्ण खंडों से सजा हुआ था। अपने बचपन में पृथ्वीराज अक्सर कोरिंथियन कंपनी के अदा किये हुए आगाहश्र के नाटकों को देखते थे। उर्दू के आधुनिक माने जाने वाले ये नाटक बड़े पैमाने पर पश्चिमी कथा साहित्य पर आधारित होते थे लेकिन पृथ्वीराज कपूर इस तरह के थिएटर को लेकर बिल्कुल भी सहज नहीं थे। इन नाटकों में नायक मंच पर अपनी मौत के मिनट भर के अंदर उठकर खड़ा हो जाता था और दर्शक द्वारा फ़रमाइश किये हुए गीतों को गाने लगता था। उस समय तक पारसी नाटक कंपनियाँ भी सिनेमा के ईजाद के कारण बेकार हो गई थी। बंगाल और महाराष्ट्र के अपवादों को छोड़कर पेशेवर थिएटर गायब हो गये थे। अत: ऐसे समय में पृथ्वीराज का नज़रिया फ़र्क था उन्हे एक राष्ट्रीय थिएटर की दरकार थी, ऐसी ज़बान में जो देश भर में समझी जा सके।**"[17]

पृथ्वीराज को थिएटर का शौक तो बचपन से ही था लेकिन थिएटर से उनका पहला परिचय बड़ा अटपटा था। बचपन में एक बार वे '**महाराजा हरिश्चन्द्र** और **तारामती**' नामक नाटक देख रहे थे। इस नाटक में तारामती अपने बेटे के शव को लेकर अन्तिम संस्कार के लिए श्मशान घाट पर जाती है वहाँ उसके पति राजा हरिश्चन्द्र '**कर**' लेने के कार्य पर नियुक्त थे। गरीबी के कारण तारामती '**कर**' देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की परन्तु हरिश्चन्द्र बिना '**कर**' लिए अन्तिम संस्कार करने से मना कर दे रहे थे। तब तारामती अपने दु:ख को एक गीत के माध्यम से प्रकट करती है और वह गीत दर्शकों को इतना पसंद आता है कि एक बार और का शोर होने लगता है। तत्कालीन पारसी थिएटर के परम्परा के अनुसार दर्शकों का दिल रखने के लिए तारामती को बार- बार वह गीत गाना पड़ता है। यही बात नन्हे पृथ्वीराज को चुभ गई

---

[16] देवदत्त शास्त्री (सं), पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रन्थ, किसलय प्रकाशन, इलाहाबाद, ओंकार शरद का लेख 'पृथ्वी', पृ.7

[17] मधु जैन (लेखक), कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फ़िल्मी सफर, शिवानी खरे (अनु.), पेगुइन बुक्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण,2010, पृ. 28-29

कि किसी माँ के दर्द को समझने के बजाय दर्शक उनसे गीत को बार – बार गाने के लिए बोल रहे हैं और एक कलाकार को केवल लोगों की दिलजोई के लिए बार-बार गाना भी पड़ रहा है। यह कैसी विडम्बना है। अत: उस समय उनके बालमन ने जो निर्णय लिया था उसका वर्णन योगराज ने अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज**' में करते हुए कहा है कि **" पृथ्वीराज कपूर ने निर्णय लिया कि वो थिएटर अवश्य करेंगे, लेकिन ऐसा नहीं। वो तो ऐसा थिएटर करेंगे जो जीवन के निकट से निकटतम हो, जो प्रत्येक दर्शक को अपने गिरेबाँ में झाँकने पर मजबूर करे। मौजूदा समाज को आईना दिखाए, उसे अपनी त्रुटियाँ सुधारने का अवसर दे। सिर्फ दर्शकों की दिलजोई के लिए थिएटर नहीं करेंगे।"**[18]

अब यहाँ दो प्रश्न उठ सकता है। पहला प्रश्न यह कि जब पृथ्वीराज के मस्तिष्क में अपने थिएटर की स्थापना का विचार इतने दिनों से था तो फिर उन्होने 1944 ई. में ही इसकी स्थापना क्यों की, उसके पहले क्यों नही **?** दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि सिनेमा के बढ़ते प्रभाव के कारण जब पृथ्वीराज ने **'**ग्रांट एंडरसन थिएट्रिकल कंपनी**'** की असफलता का हश्र अपने आँखों से देखा था तो फिर स्वयं के थिएटर स्थापना का विचार कहाँ तक उचित था **?**

प्रथम प्रश्न का जवाब जहाँ तक मुझे लगता है, यह हो सकता है कि –1943 - 44 ई. तक पृथ्वीराज कपूर स्वयं को एक महानायक के रुप में स्थापित कर चुके थे और आर्थिक रुप से भी सुदृढ़ हो चुके थे। व्यवहारिक रुप से यह सत्य है कि किसी भी काम को प्रारम्भ करने के लिए सर्वप्रथम धन की ही आवश्यकता होती है जो फिल्मों मे काम करने के पूर्व उनके पास नहीं था। रही बात दूसरे प्रश्न की तो इसका जवाब यह हो सकता है कि यद्यपि ग्रांट एंडरसन कंपनी बंद हो गई थी परन्तु इसका तात्पर्य यह बिल्कुल भी नहीं है कि इसके कारण कलाकारों के कला पर कोई नकरात्मक प्रभाव पड़ा हो। इस कंपनी ने पृथ्वीराज के अंदर एक अलग ही आत्मविश्वास को उत्पन्न किया था और वह आत्मविश्वास था – पृथ्वीराज में जनमत का सीधा सामना करने की क्षमता में वृद्धि। इसके पूर्व जब पृथ्वीराज फिल्मों में अभिनय करते थे तो वहाँ पर जनता से सीधे सामना न होकर पर्दे तक ही सीमित रह जाते थे। इसके अतिरिक्त **एंडरसन कंपनी** ने ही पृथ्वीराज को अग्रेंजी नाटकों के माध्यम से अपने असाधारण कला को शिक्षित वर्ग की नजरों में चढ़ाने का अवसर प्रदान किया क्योंकि तत्कालीन समाज अपितु वर्तमान समाज भी अग्रेंजी भाषा को सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानता है और पृथ्वीराज इस **एंडरसन कंपनी** में अभिनय के माध्यम से ही उस समाज के दर्शकों के

[18] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 74

दिलों में अपना स्थान बना पाये थे। जबकि इसके विपरीत उस समय फिल्मों की भाषा केवल हिन्दी और बंगला थी। पृथ्वीराज को यह महसूस हो चुका था कि आम जनता के दिलो तक पहुँचना है तो उसी भाषा का प्रयोग करना होगा जिस भाषा को भारत की आम जनता समझ सके न कि केवल अग्रेंजी का।

दूसरी बात पृथ्वीराज एक महानायक होने के कारण इस बात को बखूबी समझ रहे थे कि फिल्मों में तो दर्शक उन्हे सिर्फ पर्दे पर ही देखते हैं लेकिन रंगमंच के दौरान दर्शक उन्हे अपने सामने साक्षात् देख सकते हैं तो ज़ाहिर सी बात है कि जनता अपने महानायक को मंच पर अभिनय करते हुए जरुर देखना चाहेगी, वो भी पूरे उत्साह के साथ। वह इस बात से भी परिचित थे कि रंगमंच के माध्यम से एक बड़े वर्ग के समक्ष ब्रिटिश शोषण के विरूद्ध जन जागरुकता फैलाने में फिल्मों की अपेक्षा नाट्य मंचन में ज्यादा आसानी होगी। अत: रंगमंच की सफलता की दृष्टि से पृथ्वीराज द्वारा ऐसे वक्त में जब वह आर्थिक रुप से सुदृढ़ता प्राप्त कर चुके हो और एक महानायक की छवि भी स्थापित कर चुके हैं तो 1943- 44 ई. एंडरसन कंपनी के बुरे अनुभव और सिनेमा के बढ़ते प्रभाव के कारण भी **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना के बारें में सोचना या साहस करना किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं था।

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त पृथ्वी थिएटर की स्थापना के पीछे एक तात्कालिक कारण **'शकुन्तला'** नाटक भी था, जिसका जिक्र **मधु जैन, ज़ोहरा सहगल, योगराज टंडन, जानकीबल्लभ शास्त्री** इत्यादि लेखकों ने अपने पुस्तकों में भिन्न- भिन्न तरीके से किया है। **मधु जैन** ने अपनी पुस्तक **'कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फ़िल्मी सफर'** में एक स्थान पर लिखा है कि - **" इसकी (पृथ्वी थिएटर) की शुरुआत संयोग से हुई थी। एक दोस्त की मदद करने के लिए पृथ्वीराज ने 15 जनवरी सन् 1944 ई. में पृथ्वी थिएटर की शुरुआत की थी। पृथ्वीराज किसी को न नहीं कह सकते थे, खासकर बेचारे और लाचार लोगों को। एक उदास शायर 'बेताब' जी ने पृथ्वीराज से मदद माँगी। उसे वी. शांताराम ने 'शकुंतला' का एक आसान रुप लिखने का काम दिया था। शांताराम को उनका काम पसंद नहीं आया और उन्होने दूसरे लेखक को लिखने का काम दे दिया। पृथ्वीराज ने नाटक के लिए लेखक को पैसा दिया और बॉम्बे में एक निर्माण की तैयारी में जुट गये।"**[19]

पृथ्वी थिएटर की स्थापना को लेकर **'शकुंतला'** नाटक के बारें में ऐसा ही कुछ ज़िक्र करते हुए **ज़ोहरा सहगल** ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि – " **हुआ यूँ कि उनका (पृथ्वीराज का) एक**

[19] मधु जैन (लेखक), कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फ़िल्मी सफ़र, शिवानी खरे (अनु.), पेंगुइन बुक्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण,2010, पृ. 27

लेखक दोस्त बहुत परेशानहाल उनके पास आया और कहा कि उसने हिन्दुस्तानी में शकुन्तला नाम का एक नाटक लिखा है मगर जिस निर्देशक ने स्क्रिप्ट लिखने को कहा था अब उसने उसे लेने से मना कर दिया है। पृथ्वी जी ने कहा कि वह ख़ुद वह नाटक करवाएँगे और बतौर एडवांस उस लेखक दोस्त बेताब जी को 101 रुपये दे दिए। इस तरह बिना पहले से किसी तरह की तैयारी के 15 जनवरी 1944 ई. को पृथ्वी थिएटर तैयार हो गया।"[20]

'शकुन्तला' नाटक और पृथ्वी थिएटर की स्थापना के इसी घटना को लेकर ऐसा ही कुछ वर्णन करते हुए **जानकीबल्लभ शास्त्री** ने अपनी पुस्तक '**नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर**' में लिखा है कि – जब शांताराम ने चन्द्रमोहन को दुष्यन्त के रुप में लेकर शकुन्तला का विज्ञापन किया तो **'फिल्मइण्डिया'** के सम्पादक **बाबू राव पटेल** ने **शांताराम** की आलोचना करते हुए लिखा था कि आज फिल्मी दुनिया में एक अकेला पृथ्वीराज ही ऐसा कलाकार है जो दुष्यन्त की भूमिका में जँच सकता है, खरा उतर सकता है, फिर यह क्या बकवास है?[21]

जहाँ तक हमें प्रतीत होता है कि **बाबू राव** द्वारा की गई यह टिप्पणी पृथ्वीराज को **पृथ्वी थिएटर** स्थापित कर उसी नाटक को मंचित करने की प्रेरणा देती है जिसे शांताराम ने लेखक **'बेताब'** से लेने के लिए मना कर दिया था।

इसी घटना को **मधु जैन** ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि – "**शांताराम ने अपने नए बैनर राजकमल कला मंदिर, तले अपनी पत्नी जयश्री और कलाकार चन्द्रमोहन के साथ शकुन्तला फिल्म का निर्माण किया। ज़ाहिर सी बात है कि पृथ्वीराज को बड़ी निराशा हुई कि उनका प्रतिद्वंद्वी चन्द्रमोहन पर्दे पर दुष्यन्त की भूमिका निभाये। इस बात ने आग में घी डालने का काम किया और पृथ्वीराज ने यह ठान लिया कि मंच पर एक बेहतर दुष्यन्त की भूमिका निभाकर दिखाएँगे।**"[22] इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होने **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की और पहले नाटक के रुप में शकुन्तला नाटक को ही मंचन के लिए चुना।

---

[20] ज़ोहरा सहगल, क़रीब से मंच और फ़िल्मी पर्दे से जुड़ी यादें ,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 100

[21] आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री, नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर , निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974, पृ. 63

[22] मधु जैन (लेखक), कपूरनामा, कपूर ख़ानदान का फिल्मी सफर, शिवानी खरे (अनु.) ,पेंगुइन बुक्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृ.27

पृथ्वी थिएटर की स्थापना के पीछे **'शकुन्तला'** नाटक एक तात्कालिक कारण था परन्तु यह नाटक **नारायण प्रसाद बेताब** जी ने किस उद्देश्य से और किसके लिए लिखा था , यह थोड़ा विवादित जान पड़ता है क्योंकि इसके विषय में भिन्न- भिन्न लोग भिन्न- भिन्न बातें बता रहे हैं। एक ओर जहाँ जानकीबल्लभ शास्त्री , ज़ोहरा सहगल और मधु जैन ने अपने पुस्तक में यह लिखा है कि बेताब जी ने शकुन्तला नाटक शांताराम के कहने पर लिखा था वहीं दूसरी ओर पृथ्वी थिएटर के मैनेजर रह चुके योगराज टंडन ने अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में लिखा है कि – **"**बम्बई की एक संस्था विश्वविख्यात महाकवि कालिदास के सम्मान में उनका ख्यातिप्राप्त नाटक **'शकुन्तला'** करना चाहते थे। इसीलिए वे लोग पारसी थिएटर के सर्वश्रेष्ठ नाटककार **नारायण प्रसाद बेताब** से मिलकर उनसे अनुरोध किया कि वह इस नाटक को रंगमंच के लिए बिल्कुल आधुनिक नया रुप दें। इस संस्था के लोग चाहते थे कि कालिदास की शकुन्तला को वो बिल्कुल नए ढंग से प्रस्तुत करें। संस्था के लोगों द्वारा अनुरोध किये जाने पर बेताब जी इस शर्त के साथ नाटक लिखने को तैयार हो गये कि वह अपनी पारसी शैली में कोई परिवर्तन नहीं करेंगें। जब इस नाटक के लिए निर्देशक की बात चली तो **बेताब जी** ने **पृथ्वीराज कपूर** के नाम का सुझाव दिया, जिस पर उन लोगों को कोई आपत्ति नहीं हुई। जहाँ एक ओर स्क्रिप्ट पर काम हो रहा था वहीं दूसरी ओर अभिनेता एकत्रित हो रहे थे और नाटक का अभ्यास कर रहे थे लेकिन जब नाटक लिखकर तैयार हो गया और पूरी धनराशि अदा करने की बात आई तो संस्था के कार्यकर्ता बहाना बनाने लगे जिसके कारण बेताब जी और संस्था के लोगों के मध्य विवाद उत्पन्न हो गया। इसी विवाद के चलते बेताब जी ने पृथ्वीराज को सारी बात बताते हुए यह नाटक संस्था के लोगों को देने से मना कर दिया। बेताब जी की पूरी बातों को सुनने के बाद पृथ्वीराज गहरी सोच में डूब गये। इसका कारण यह था कि पृथ्वीराज के अभिनेतागण इस नाटक पर दिन-रात अभ्यास करना प्रारम्भ कर चुके थे और पृथ्वीराज नहीं चाहते थे कि उन कलाकारों का परिश्रम यूँ ही बिना लक्ष्य प्राप्त किये व्यर्थ चला जाये। अत**:** उन्होने एक निर्णय लेते हुए बड़ी गम्भीरता से बेताब जी से कहा कि- पंडित जी **!** अगर इस नाटक को मैं करना चाहूँ तो **?** इस पर बेताब जी प्रसन्न होकर बोले कि – मेरे लिए इससे ज्यादा खुशी की बात और क्या होगी। इस पर पृथ्वी जी अपने जेब से 101 रुपये निकाल कर पूरे सम्मान के साथ प्रस्तुत करते हुए कहा कि – पंडित जी आपकी इस सुन्दर ज़िद ने आज **'पृथ्वी थिएटर'** को जन्म दिया है।**"**[23]

[23] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज , राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004,द्वितीय संस्करण,2012 पृ. 64-65

बहरहाल मामला जो भी हो कि **नारायण प्रसाद बेताब** जी ने **'शकुन्तला'** नाटक निर्देशक शांताराम के लिए लिखा था या बॉम्बे के उस संस्था के लिए,जो शकुन्तला का एक नया रुप देखना चाहते थे। दरअसल सच्चाई यही है कि 15 जनवरी 1944 ई. को **पृथ्वीराज** ने **'पृथ्वी थिएटर'** की स्थापना की जिसमें **'शकुन्तला'** नाटक की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

यद्यपि 15 जनवरी 1944 ई. को पृथ्वीराज ने **'पृथ्वी थिएटर'** की स्थापना तो कर दी और प्रथम नाटक के रुप में **'शकुन्तला'** नाटक का चुनाव भी कर लिया था परन्तु इनके समक्ष दो समस्याएं अपने विकराल रुप में आ खड़ी हुई। पहली आर्थिक समस्या और दूसरी शकुन्तला की भूमिका के लिए किसी अदाकारा का चुनाव। आर्थिक समस्या के समाधान हेतु पृथ्वीराज कपूर 15 जनवरी 1944 ई. को ही अपने एक मित्र **श्री पन्नालाल सेठ** के पास गए , जो **देना बैंक** मे डायरेक्टर थे। पृथ्वीराज ने अपने इन्ही मित्र से आवश्यकतानुसार धनराशि कर्ज के रुप में ली। इसी सहायता राशि के माध्यम से इन्होने बॉम्बे के **रॉयल ऑपेरा हाउस** को मंचन के लिए अनुबंधित किया। पृथ्वीराज कपूर ने थिएटर की स्थापना के समय कुल साढ़े चार लाख रुपये की पूँजी लगाई थी।

दूसरी समस्या शकुन्तला की भूमिका निभाने वाली एक ऐसी अदाकारा की तलाश थी जिसकी छवि पृथ्वीराज ने अपने मन और मस्तिष्क में बना रखी थी। यह तलाश भी लगभग रिहर्सल शुरु होने के छह माह बाद पूर्ण हुई। इसके पहले नाटक के रिहर्सल के दौरान नायिका का कुछ अता – पता ही नहीं था। हुआ कुछ यूँ कि एक बार पृथ्वीराज जी **रोमेश सहगल** के साथ **'इंडियन पीपुल्स थिएटर (इप्टा)'** का एक नाटक देखने गये। यह नाटक **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा लिखित **जुबैदा** था। इस नाटक में **उज़रा मुमताज** भी एक भूमिका निभा रही थी। उन्हे देखते ही पृथ्वीराज ने कहा कि उन्हे शकुन्तला की भूमिका निभाने के लिए ऐसी ही अदाकारा की तलाश थी। इस प्रकार शकुन्तला नाटक के लिए नायिका तलाश की समस्या भी हल हो गई और **उज़रा मुमताज** को शकुन्तला की भूमिका के लिए चुन लिया गया।

पृथ्वी थिएटर के उद्देश्य

उपर्युक्त ये सभी बातें पृथ्वी थिएटर के जन्म के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों को तो स्पष्ट करती ही हैं। इसके साथ ही साथ इस थिएटर के उद्देश्यों को भी परिलक्षित कर रही हैं। जो बिन्दुवार निम्नलिखित हैं –

1.शकुन्तला नाटक का मंचन -

यदि हम उपर्युक्त बातों को ध्यान से देखते है तो हम पाते है कि **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना का तात्कालिक उद्देश्य **नारायण प्रसाद बेताब** द्वारा लिखित '**शकुन्तला**' नाटक को मंचित करना था। इस नाटक के बारें में विद्वानों ने यह माना है कि पृथ्वीराज सिर्फ अपने मित्र बेताब जी की सहायता हेतु इस नाटक को मंचित करने के लिए **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की परन्तु कहीं न कहीं मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज कपूर वी. शांताराम की फिल्म शकुन्तला में दुष्यन्त की भूमिका निभाने वाले अपने प्रतिद्वंद्वी चन्द्रमोहन की अपेक्षा स्वयं को दुष्यन्त की भूमिका हेतु बेहतरीन कलाकार सिद्ध करना चाहते थे। मित्र की सहायता के साथ- साथ पृथ्वीराज कपूर ने अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अविलम्ब **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की।

2. **जनता से सीधा संवाद स्थापित करना -**

पृथ्वीराज कपूर द्वारा **पृथ्वी थिएटर** को स्थापित करने का दूसरा उद्देश्य कहीं न कही जनता से सीधा संवाद स्थापित करना था। पृथ्वीराज कपूर द्वारा फिल्मों में कार्य करते हुए यह महसूस कर लिया गया था कि फिल्म निर्माता या निर्देशक किसी संवेदनशील मुद्दे या दृश्यों को दर्शक के समक्ष दिखाना तो चाहते हैं परन्तु वो मजबूरीवश कर नहीं पाते। क्योंकि कभी सेंसर बोर्ड उन्हे इसकी इजाजत नहीं देता था तो कभी व्यावसायिक क्षेत्र होने के कारण उनका आर्थिक लाभ ऐसा करने से मना कर देता था। शायद इसीलिए पृथ्वीराज को इन समस्याओं का समाधान थिएटर में दिखाई पड़ा क्योंकि थिएटर को उन्होने एक ऐसे सशक्त माध्यम के रुप में देखा, जहाँ जनता और कलाकार के मध्य पर्दे जैसी कोई दूरी नहीं होती और न ही किसी आर्थिक लाभ के लिए किसी संवेदनशील मुद्दे को जनता से छुपाना पड़ता है। अर्थात् पृथ्वीराज ने थिएटर को जनता से सीधा संवाद करने का एक सशक्त माध्यम मानते हुए **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की।

3. **भारतीय जनता को शिक्षित करना**

पृथ्वी थिएटर स्थापित करने का एक उद्देश्य नाटकों के माध्यम से तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध भारतीय जनता को जागरुक करना था क्योंकि 1944 ई. का समय भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का अन्तिम दौर था। इस समय तक गाँधी जी के द्वारा '**करो या मरो**' नारे के साथ अंग्रेजों '**भारत छोड़ो आन्दोलन**' का आगाज भी हो चुका था। यही वह समय था जब भारतीय जनता को अपनी एकजुटता प्रदर्शित करते हुए भारत देश से ब्रिटिश हुकूमत को समाप्त करना था। लेकिन यह बात भी सत्य है कि तत्कालीन अधिकांश भारतीय जनता अशिक्षित थी और उस अशिक्षित जनता को ब्रिटिश शोषण एवं अन्यायपूर्ण नीतियों के

विरुद्ध जागरुक करने के लिए **पृथ्वीराज** को थिएटर एक बेहतरीन माध्यम प्रतीत हुआ। शायद इसीलिए पृथ्वीराज कपूर ने अपने इस थिएटर के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि – **"मैं इस मिशन को लेकर खड़ा हूँ कि अपनी इस नाटक कला के साधन के जरिए हिन्दूस्तान की आम जनता को शिक्षित बना सकूँ जिससे जनता विदेशी हुकूमत का जुआ उतार कर अपनी हुकूमत कायम कर सके।"**[24]

4. <u>यथार्थवादी शैली को विकसित करना</u>

पृथ्वीराज कपूर का पारसी थिएटर से सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा और न ही उन्होने कभी भी उसमे अभिनय किया परन्तु वह पारसी रंगमंच के नाटकों को बाल्यकाल से ही देखते आ रहे थे। शायद इसीलिए उन्हे पारसी रंगमंच की कृत्रिम और अस्वाभाविक नाट्य पद्धति से ऊब महसूस होती थी। पृथ्वीराज पारसी रंगमंच की उस परम्परा को बिल्कुल भी पसंद नहीं करते थे जो सिर्फ दर्शकों के दिलजोई के लिए नाटक को यथार्थ से दूर करती थी। उदाहरण के लिए – एक बार जब बचपन में पृथ्वीराज **'सत्य हरिश्चन्द्र और तारामती'** नाटक देख रहे थे तो उसमें एक दृश्य था, जिसमें तारामती अपने बेटे के अन्तिम संस्कार हेतु श्मशान पर जाती है और वहाँ उनके पति हरिश्चन्द्र शव का अन्तिम संस्कार करने हेतु **'कर'** माँगते है परन्तु तारामती के पास उस समय **'कर'** देने के लिए कुछ नहीं होता। वह बार-बार शव का संस्कार करने हेतु विनती करती रहती है परन्तु हरिश्चन्द्र नियमानुसार बिना **'कर'** लिए अन्तिम संस्कार करने से मना कर देते हैं। तब तारामती अपने विवशता एवं दु:ख को एक गीत के माध्यम से व्यक्त करती है। यह गीत दर्शकों को इतना पसंद आया कि एक बार और (वन्स मोर) का शोर होने लगा। मंच पर तारामती की भूमिका निभा रही उस कलाकार को सिर्फ दर्शकों को खुश करने के लिए कई बार वह गीत गाना पड़ा। पृथ्वीराज को यह परम्परा देख कर बहुत दु:ख हुआ कि यहाँ पर नाटक यथार्थ से कितना दूर हो गया क्योंकि एक ऐसी माँ जिसका बेटा मर चुका है और उसके अन्तिम संस्कार हेतु **'कर'** देने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। उस माँ की इस परिस्थिति को समझने की बजाय यह दर्शक उससे गीत गाने की माँग कर रहे हैं और दर्शक की माँग पर कलाकार उस दृश्य की मनोस्थिति को भुलाकर दर्शक की माँग को पूरा कर रहे हैं । अत: उन्होने उसी दिन तय किया था कि एक दिन जब वह अपना थिएटर स्थापित करेंगें तो उसमे नाट्य मंचन को बिल्कुल यथार्थवादी रुप प्रदान करेंगें। जिससे दर्शक नाटक देखकर थोड़ी देर के लिए यह भूल जाये कि वह मनोरंजन हेतु कोई तमाशा देख रहा है बल्कि उसे ऐसा महसूस हो कि यह उसका स्वयं का दु:ख है। कहने

[24] देवदत्त शास्त्री(सं), श्री पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ, किसलय प्रकाशन, इलाहाबाद, में संकलित सुंदर के लेख , 'पृथ्वीराज कपूर' से उद्धृत

का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीराज अपने थिएटर के माध्यम से पारसी थिएटर के दिलजोई परम्परा को समाप्त कर नाट्य मंचन के दौरान नाटक के यथार्थ शैली को स्थापित करना चाहते थे और अपने इसी चाहत को उन्होनें अपना थिएटर स्थापित कर पूरा करने का प्रयास किया।

5. <u>जरुरतमंदो के आर्थिक सहायता हेतु धन एकत्रित करना -</u>

पृथ्वी थिएटर के स्थापना के पीछे एक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश के किसी भी कोने में जरुरतमंदो के लिए धन एकत्रित करना था। इस थिएटर का सूत्रवाक्य ही था – **'कला देश की सेवा में'।** यह सिर्फ एक नारा नहीं था बल्कि पृथ्वीराज द्वारा इसे यथार्थ की धरातल पर उतारा भी गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीराज अपने इस थिएटर द्वारा मंचित नाटकों से प्राप्त धनराशि से विभिन्न संगठनों और व्यक्तियों की आर्थिक सहायता भी करते थे। नोआखली के दंगे और आई. एन. एस विद्रोह के समय इन्होने लाखों रुपये झोली के माध्यम से इकट्ठा करके दिया था। पृथ्वीराज कपूर अपने हर शो के बाद दर्शकों के समक्ष झोली फैलाकर खड़े हो जाते थे और यह भी स्पष्ट रुप से बताते थे कि आज की झोली किसलिए फैलायी गई है। जब कोई विशेष घटना नहीं रहती थी जो झोली फैलाकर एकत्रित किये गये धन को उस राज्य के मुख्यमंत्री कोष में दे देते थे। पृथ्वीराज के इस गुण का जिक्र **जानकीबल्लभ शास्त्री** ने अपनी पुस्तक **'नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर'** में किया है। जानकीबल्लभ शास्त्री ने बताया है कि पृथ्वीराज ने 8-2-1958 की अपनी डायरी में लिखा है कि – **"आज रुपसिंह के पर्स फंड के लिए झोली डाली। लोगों से यह प्रार्थना की कि दान समझ कर न दे। जो कुछ दें श्रद्धा और प्यार से दे – साथ दुआएँ और प्रार्थनाएँ भी सम्मिलित कर दें कि वह वीर जिसने देश- विदेश में हॉकी के मैदानों में भारत का झंड़ा ऊँचा किया है, वह फिर से अच्छा होकर – स्वस्थ होकर देश के बच्चों को हॉकी की कला में समृद्धि प्राप्त करने में सहायक बन सके और अपने भाई पद्मश्री कप्तान ध्यान सिंह की तरह देश के बच्चों का पथ-प्रदर्शक बने – इस खेल के मैदान में।"**[25] कभी – कभी वह पूरा नाटक ही किसी व्यक्ति या संस्था के लाभार्थ मंचित किया करते थे। उस दौर में शायद यही थिएटर रहा होगा जो इतने बड़े स्तर पर किसी की आर्थिक सहायता कर रहा था।

[25] जानकीबल्लभ शास्त्री, नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974 पृ. 258

6.रंगकर्म के माध्यम से राष्ट्र की सेवा –

रंगकर्म या कहें कला के माध्यम से **पृथ्वी थिएटर** का राष्ट्र सेवा करने का यह उद्देश्य **पृथ्वीराज कपूर** द्वारा जवाहरलाल नेहरु को लिखी गई एक चिट्ठी से स्पष्ट रुप से अभिव्यक्त हो रहा है। 14-1-1942 ई. को पृथ्वीराज ने उस चिट्ठी में लिखा था –

"मेरे नेता, आज के इस शुभ दिन पर मेरी यह नन्ही सी भेंट स्वीकार करना –

(क) अपनी तमाम आमदनी का चौथा हिस्सा जो फिल्म आर्टिस्टों और फिल्मी जगत के समस्त कर्मचारियों की सुप्रीम कौंसिल के नेशन्स डिफेंस फंड में भेंट करना आरम्भ कर दिया है – और जो उनकी सामूहिक भेंट के साथ प्रति मास आपकी सेवा में पहुँचता रहेगा – बराबर उस समय तक जब तक कि शत्रु का एक भी सैनिक हमारी इस पुण्य भूमि पर खड़ा है।

(ख) इसके उपरांत मैं हर महीने में से सात दिन आपके आदेशानुसार काम करने के लिए हाज़िर रहूँगा- आप मुझे नेफा भेजिये – लद्दाख भेजिये – जहाँ भी भेजिये – मैं खुशी से जाऊँगा – मैं देश के रक्षकों – अपने वीर जवानों के बूटों के तसमे खोल उनके पाँव दबाऊँगा और यूँ उनकी थकानें दूर कर दूँगा – मैं बड़े आदर और प्यार से उन्हे अपने कलेजे से लगा – उनका सिर-माथा चूम उनकी बहादुरियों की उन्हे दाद दूँगा – मेरे नेता, मेरे महबूब – यह है मेरी छोटी सी भेंट तेरे हाथों में – माँ के चरणों मे- स्वीकार हो, स्वीकार हो।"[26] इन बातों से तो यही लगता है कि पृथ्वीराज जी तन-मन-धन तीनों से राष्ट्र सेवा की भावना से ओत्र-प्रोत्र थे।

पृथ्वी थिएटर का ढ़ाँचा एवं कार्यपद्धति

व्यावसायिक ढाँचा

15 जनवरी 1944 ई. में जब **पृथ्वीराज कपूर** ने **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना की तो उसका ढाँचा एक व्यावसायिक नाट्य कंपनी के रुप में विकसित किया। जबकि उसी दौर में उदित **'इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (इप्टा)'** जैसी अव्यावसायिक नाट्य मंडली भी इनके समांतर कार्य कर रही थी, जिसमे पृथ्वीराज स्वयं कार्य कर चुके थे। अब प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वीराज ने इस कंपनी का ढाँचा व्यावसायिक क्यों रखा जबकि इसकी स्थापना का उद्देश्य भारतीय जनता को ब्रिटिश शोषण के प्रति जागरुक

[26] वही , पृष्ठ सं. - 95

करना था ? जहाँ तक मुझे लगता है पृथ्वीराज द्वारा इस थिएटर का स्वरुप व्यावसायिक रखने के कईं कारण हो सकते हैं , जो निम्नलिखित हैं –

1. यद्यपि पृथ्वीराज कपूर पारसी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों में सिर्फ मुनाफे के लिए अश्लीलता के समावेश और दर्शकों के दिलजोई हेतु यथार्थ से पलायन को नापसंद करते थे। फिर भी इन कमियों के बावजूद वे पारसी थिएटर के साज – सज्जा और तड़क- भड़क को पसंद करते थे। शायद इसीलिए पृथ्वीराज अपने थिएटर में मंचित नाटकों को यथार्थ रुप देने के लिए मंच सज्जा पर विशेष ध्यान देते थे और इस मंच सज्जा के लिए सामग्री की आवश्यकता पड़ती थी। इन सामग्रियों को खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती थी। सम्भवत: इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उन्होने थिएटर का स्वरुप व्यावसायिक रखा होगा।

2. जहाँ तक बात एक ही दौर में **इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (इप्टा)** की अव्यावसायिक और **पृथ्वी थिएटर** की व्यावसायिक होने की है तो यहाँ मैं सिर्फ इतना कहना चाहूँगी कि यद्यपि दोनों का दौर एवं उद्देश्य लगभग एक ही है परन्तु दोनों की कार्यशैली एक हद तक समान होते हुए भी भिन्न है। जहाँ **इप्टा** खेत – खलिहान , गली -चौगान इत्यादि स्थानों पर अपने नाटकों का मंचन करता था वहीं दूसरी ओर **पृथ्वी थिएटर** अपने नाटकों के मंचन हेतु बॉम्बे के **रॉयल ऑपेरा हाउस** जैसे स्थान को पृथ्वी थिएटर के स्थापना के वक्त ही अनुबंधित कर लिया था। इस अनुबंधन के अनुसार पृथ्वीराज को कुछ धनराशि देना पड़ता था। शायद इस कारण से भी पृथ्वीराज को न चाहते हुए भी पृथ्वी थिएटर को व्यावसायिक बनाना पड़ा होगा।

3. पृथ्वी थिएटर को व्यावसायिक बनाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस थिएटर के स्थापना के वक्त पृथ्वीराज कपूर ने काफी कर्ज ले लिया था और उस कर्ज को चुकाने हेतु धन भी एकत्रित करना था।

4. पृथ्वी थिएटर को व्यावसायिक बनाने का एक कारण **वेतन** भी रहा होगा क्योंकि पृथ्वीराज कपूर अपने थिएटर में काम करने वाले सभी कलाकारों एवं सहायकों को वेतन दिया करते थे और यह बात सत्य है कि एक अकेला व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कमाई से इतने लोगों को वेतन नहीं दे सकता था। इसके विपरीत इप्टा में कलाकारों को वेतन देने जैसी कोई परम्परा नहीं थी।

यहाँ कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि यद्यपि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** का दौर एक ही था लेकिन उनकी अपनी समस्याएँ और आवश्यकताएँ भिन्न – भिन्न थी। जहाँ इप्टा ने अपने स्थापना के वक्त न कोई कर्ज लिया था, न ही अपने नाट्य मंचन के लिए किसी स्थान को अनुबंधित किया था और न ही उसे अपने कलाकारों एवं सदस्यों को कोई वेतन देना होता था। अत: इप्टा का अव्यावसायिक होना जायज

है। वहीं दूसरी ओर **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना के वक्त पृथ्वीराज का कर्ज लेना, मंचन के लिए बॉम्बे के रॉयल ऑपेरा हाउस को अनुबंधित करना, कलाकारों को वेतन देना इत्यादि के चलते इस थिएटर को व्यावसायिक बनाना न सिर्फ आवश्यक था बल्कि मजबूरी भी थी।

अनुबंधन की परम्परा

हालाँकि **पृथ्वी थिएटर** अपने नाटकों का मंचन बॉम्बे के **रॉयल ऑपेरा हाउस** में किया करता था लेकिन प्रारम्भिक दिनों में **पृथ्वीराज** ने अपने थिएटर का कार्यालय बम्बई के दादर में छबीलदास सड़क पर स्थित **ध्रुव हॉल** को बनाया था। इस हॉल को किराये पर लिया गया था और यहीं पर **पृथ्वी थिएटर** के कलाकार अपना अभ्यास किया करते थे। पृथ्वीराज जी की एक खास बात यह थी कि वे कलाकारों से अनुबंध किया करते थे और उन्हे मासिक वेतन भी दिया करते थे। वेतन की यह धनराशि अलग- अलग लोगों के लिए अलग- अलग होती थी। कभी – कभी तो नाटक के असफल होने पर वेतन तक के लिए भी रुपये नहीं इकट्ठे हो पाते थे तो उस वक्त पृथ्वीराज अपने जेब से (फिल्म से कमाये गये रुपये) कलाकारों को वेतन और बोनस भी देते थे। पृथ्वीराज कपूर अपने थिएटर की ओर से कलाकारों से जो अनुबंधन किया करते थे उस अनुबंधन पत्र पर कुछ शर्ते लिखी होती थी, जो इस प्रकार थी –

1. 75 रुपये मासिक वेतन के आधार पर तीन माह की अवधि के लिए एक कलाकार के रुप में आपकी सेवाओं को अनुबंधित किया जा रहा है। इस अवधि के बाद हमारे पास यह विकल्प होगा कि इस अवधि को छह माह तक विस्तारित किया जा सकेगा।
2. आपकी सेवाएं हमारे (पृथ्वी थिएटर) के लिए अनुबंधित है। आप किसी भी दशा में कहीं दूसरी जगह काम नहीं कर सकते।
3. आप किसी भी समय चाहे दिन हो या रात, जैसी भी जरुरत होगी मौजूद रहेंगे।
4. सभी गीत, संवाद इत्यादि जो आपके द्वारा या थिएटर कंपनी के किसी भी व्यक्ति द्वारा बोले या गाए गये हों , वह थिएटर कंपनी की संपत्ति होगी जिसे कहीं दूसरे स्थान पर प्रयोग नहीं किया जा सकता है।
5. पृथ्वी थिएटर से अनुबंधन के दौरान आप किसी ग्रामोफोन रिकार्ड कंपनी से कोई करार नहीं करेंगें।
6. आपके द्वारा गाए गए सभी गीतों पर पृथ्वी थिएटर कंपनी का अधिकार होगा।

उपर्युक्त शर्तों के साथ इस अनुबंधन पत्र पर पृथ्वीराज कपूर कलाकार से हस्ताक्षर करवाते थे और पृथ्वी थिएटर की ओर से प्रोपराइटर के रुप में स्वयं अपना हस्ताक्षर करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी थिएटर के सारे कलाकार अनुबंधित होते थे न कि स्वतंत्र।

पृथ्वीराज द्वारा अनुबंधन की इस परम्परा को देखकर, मन में यह प्रश्न उठना जायज है कि जो पृथ्वीराज, **पृथ्वी थिएटर** की स्थापना से कुछ ही वर्ष पूर्व एक अभिनेता के रुप में फिल्म कंपनियों के साथ अनुबंधन की परम्परा को तोड़कर एक फ्रीलांसर के रुप में कार्य करने वाले प्रथम व्यक्ति बने थे , वही आज अपने थिएटर के लिए कलाकारों से अनुबंध क्यों कर रहे थे **?** कहीं न कहीं पृथ्वीराज यहाँ पक्षपाती की भूमिका में दिखाई पड़ रहे थे, जो अपने लिए तो कुछ और नियम चाहते हैं और दूसरे कलाकारों के लिए कुछ अलग नियम बना रहे थे।

पृथ्वी थिएटर एक परिवार के रुप में

यद्यपि **पृथ्वी थिएटर** में सारी पूँजी पृथ्वीराज कपूर ने लगाया था फिर भी वे थिएटर से जुड़े प्रत्येक सदस्य को एक परिवार की तरह रखते थे। इस थिएटर के पारिवारिक ढाँचे का जिक्र **ज़ोहरा सहगल** ने अपनी **आत्मकथा** लिखते समय कई स्थानों पर किया है। उन्होने लिखा है कि – जब 15 जनवरी 1944 ई. को पृथ्वी थिएटर की स्थापना हुई थी तो उसी समय अदाकार, डांसर, संगीतकार, गायक, मेकअप वाले, दर्जी, बढ़ई इत्यादि सभी आकर इस थिएटर से जुड़ गए। उस वक्त लगभग 60 लोगों की एक कंपनी बन गई थी। इसका कारण यह था कि पृथ्वीराज किसी को मना नहीं कर पाते थे। अत**:** जो भी आया, वह पृथ्वीराज का हो गया। आगे इन्होने बताया कि जब **'दीवार**' नाटक को अपार सफलता मिली तो हमारी कंपनी **'दीवार**' और **'शकुन्तला**' नाटक को लेकर आसपास के शहरों का दौरा करने लगी। इस कंपनी में दो व्यवस्थापक हुआ करते थे , जिनमे से एक व्यवस्थापक दौरे के स्थान पर एक- दो दिन पूर्व ही जाकर वहाँ की सारी व्यवस्था देखा करता था। इस दौरान जब कंपनी को अपने सदस्यों के साथ यात्रा करना होता था तो ये लोग तीसरे दर्जे में सफ़र करते थे। कंपनी के लिए कई सारी बोगियाँ आरक्षित करा ली जाती थी। कंपनी अपनी यात्रा के दौरान ख़ानसामे और बर्तन भी साथ ले जाया करती थी। महिला कलाकारों के साथ उनके छोटे बच्चें और उनकी आयाएँ भी साथ जाया करती थी। स्कूल की छुट्टियों के दौरान पढ़ाई करने वाले बच्चें भी अपने माता – पिता के साथ यात्रा किया करते थे और इन सब का खर्च पृथ्वीराज जी वहन करते थे। जब कंपनी नाटक दौरे पर हुआ करती थी तो उस समय प्रत्येक कलाकार के बच्चों को एक रुपया मासिक दिया जाता था।

इतना ही नहीं नाटक दौरे के वक्त सभी सदस्यों को एकसमान दृष्टि से देखा जाता था फिर चाहे वह अभिजात्य वर्ग से संबंध रखता हो या निम्न वर्ग से। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी सदस्य के साथ

कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। सभी सदस्यों को अपना काम स्वयं करना पड़ता था – जैसे अपना कपड़ा धुलना, बिस्तर लगाना इत्यादि।

इन दौरो में खाने- पीने का पूरा ध्यान रखा जाता था। सभी को एक जैसा ही खाना मिला करता था , अन्तर बस इतना होता था कि शाकाहारियों को माँस की जगह हरी सब्जियाँ और दही मिला करता था। खाना पौष्टिक और ज्यादातर शाकाहारी होता था। सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण जब भोजन की गुणवत्ता में कमी आने लगी, तब कंपनी के दो प्रबंधकों प्राणनाथ खन्ना और नन्द किशोर कपूर ने मिलकर एक खाना समिति बनाने का निर्णय लिया। इस समिति में एक वरिष्ठ और दो निचले स्तर के सदस्य होते थे। समिति के यह सदस्य प्रत्येक दौरे में परिवर्तित हो जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब समिति सदस्यों में एक होड़ सी लग गई थी कि कौन सी समिति सदस्य कितना अच्छा खाना खिला सकता है।

पृथ्वी थिएटर का अंत

पृथ्वी थिएटर निरंतर सोलह वर्षों तक नाट्य मंचन करता रहा। इन सोलह वर्षों के दौरान पृथ्वी थिएटर ने कुल मिलाकर अपने आठ नाटकों का, 112 शहरों में सफलता पूर्वक 2662 प्रदर्शन किए। इन सफलताओं के बावजूद भी 31 मई 1960 ई. को पृथ्वीराज कपूर द्वारा **पृथ्वी थिएटर** को बंद करने की घोषणा कर दी गई। अब सवाल यह उठता है कि थिएटर को ही अपना जीवन मानने वाले पृथ्वीराज कपूर के समक्ष ऐसी क्या मजबूरियाँ थी ,जो उन्हे थिएटर बंद करने के लिए विवश कर दिया **?**

इस सवाल का जवाब तलाश करते हुए हमें **पृथ्वी थिएटर** बंद होने के कई कारण दिखाई पड़ते हैं, जो इस प्रकार हैं –

पृथ्वीराज द्वारा **पृथ्वी थिएटर** को बंद करने का प्रथम और मुख्य कारण दिनों दिन खराब होता उनका स्वास्थ्य था। उनकी बीमारी ने ही उन्हे थिएटर बंद करने पर एकदम विवश कर दिया था। उन्हे गले का कैंसर हो गया था जिसके कारण उनके गले से आवाज नहीं निकल पा रही थी। जब पृथ्वीराज ने थिएटर बंद करने की घोषणा की थी तो उस वक्त उन्होने कहा था कि यह थिएटर अभी कुछ वक्त के लिए ही बंद किया जा रहा है ,जैसे ही उनकी तबियत में कुछ सुधार होता है , वह पुन**:** इस थिएटर को प्रारम्भ करेंगें परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा हो नहीं पाया।

बीमारी के साथ-साथ पृथ्वीराज की आर्थिक तंगी भी **पृथ्वी थिएटर** के बंद होने का एक कारण थी जिसकी स्पष्ट तस्वीर पृथ्वीराज द्वारा **जानकीबल्लभ शास्त्री** को लिखे गये एक पत्र से परिलक्षित होती है। उनके पत्र से प्रतीत होता है कि उन्होने थिएटर को बंद करने का निर्णय अकस्मात् नहीं लिया था और न ही उसे बंद करने का कारण सिर्फ उनकी बीमारी थी। पृथ्वीराज ने उस पत्र में लिखा था कि –

"31 मई को थिएटर बंद कर दिया, इसी में हरि- इच्छा नज़र आई। गुरु, आचार्य, कला मार्तण्ड – यह, वह, बहुत कुछ स्नेही जन कहते रहे, - यह पिछले सोलह वर्ष**;** मगर वही बात कि –

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का

जो चीरा तो इक क़तरए खून निकला !

अपना भी यही हाल हुआ। सिखाते-सिखाते यह सीखा कि स्वयं कुछ नहीं सीखा। जहाँ लोग समझते हैं कि तुम पहुँच चुके हो पृथ्वी **!** वहाँ पहुँचने के लिए जन्म-जन्मान्तर की तपस्या चाहिए, वह तुम्हें करनी होगी, ताकि मित्र जनों का तुम्हारें बारें में यह सब कहा हुआ झूठ न कहलाए**;** व्यर्थ न सिद्ध हो **!**

यह बात तो कई वर्षों से मस्तिष्क में घूमने लगी थी, - पर थिएटर बंद क्यूँ किया जाय, - फिर मैंने स्वयं तो इसे शुरु नहीं किया था, तो मैं इसे बंद करने वाला कौन होता हूँ, और यूँ दिन प्रतिदिन और एक रात के बाद दूसरी रात मेकअप कर स्टेज पर खड़ा हो जाता और कोई जैसे हाथ पकड़ कर इस ओर से उस ओर ले जाता रहा**;** थिएटर चलता रहा। आवाज थकने लगी, जिस्म टूटने लगा, डॉक्टर तरह-तरह की धमकियाँ देते रहे, पर थिएटर चलता रहा। पैसे के अभाव ने जो कहीं कुरेदा तो टूर बढ़ा दिए। 57-58 के जाड़े में उत्तर प्रदेश के पन्द्रह शहरों में घूम गया। 136 दिन में 117 खेल खेले गए। आवाज टूट जो रही थी, दिल की गति उलटी-सुलटी होने लगी। डॉक्टर कह रहे हैं, हर खेल के बाद दो दिन विश्राम करना चाहिए, पर यूँ तो थिएटर के खर्चे पूरे नहीं हो पा सकते तो फिर डॉक्टर कहते रहे, थिएटर होता रहा। 59 की बरसात में सौराष्ट्र के छोटे-बड़े नगरों में घूम 130 दिन में 106 खेल खेले। सर्दियों मे मध्य प्रदेश की ओर बढ़े। साँस उखड़ने लगा, आवाज रुठने लगी। डॉक्टरों ने कहा, - अब भी नहीं रुकोगे तो आवाज़ हमेशा के लिए चली जायेगी। फिर भी जनवरी में दिनांक 2 से 10 तक भिलाई में सात खेल खेले। दर्शकगण साथ दे रहे हैं पर आवाज साथ नहीं दे रही। दिसम्बर के 29 तारीख को अमरावती में दो बार खेला। आवाज बिल्कुल न थी। पहले भी कई बार ऐसा हुआ था, पर खेल शुरु होते ही आवाज मिल जाती थी। पर इस बार पूरे खेल भर में नहीं लौटी।मैनें दर्शकों से प्रार्थना की **:** पैसे लौटा देता हूँ , जब आवाज नहीं है तो खेल कैसे हो **!** कहने लगे हमें आत्मा की आवाज मिल रही है, खेल जारी रहे। खेल हुआ। मेरी आवाज साथियों तक नहीं जा पा रही

थी, दर्शकों तक कैसी पहुँचती ? पर वह (दर्शक) टस से मस न हुए। खेल के अन्त में मैनें कहा : आपने करोड़ो का प्यार आज मुझे दिया, अब बॉक्स ऑफिस से अपने पैसे लौटा लीजिए ! एक आदमी भी पैसे लौटा लेने को नहीं गया।भिलाई से लौट जनवरी में यहाँ तय किया कि अब मई में बंद कर दूँगा। अप्रैल में फिर यह देखने कि क्या वाकई बंद करने का समय आ गया है, अहमदनगर के पास श्रीरामपुर गए। तीन खेल का वादा था , खुले पंड़ाल में खेले। तीन-चार हजार दर्शक हर रात आते रहे। खेल मजे से हो रहे थे कि आखिरी रात पंजर भी टूटने लगा, बस वही आखिरी खेल रहा। किसी ने ख़ूब कहा : -

'बहुत शौक से सुन रहा था जमाना,

हमीं सो गए दास्तां कहते-कहते !'

आवाज कुछ-कुछ लौट रही है। फिल्मों में काम कर रहा हूँ। पिछला सब कर्ज उतार कर फिर थिएटर करुँगा।"[27]

थिएटर बंद होने के विभिन्न कारणों में से एक कारण पृथ्वी थिएटर में पृथ्वीराज की केन्द्रीय स्थिति का होना था। अत: उनकी बीमारी का प्रभाव थिएटर पर पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि सोलह वर्षों में पृथ्वी थिएटर द्वारा जितने भी नाटक मंचित किये गए , उन सभी में केन्द्रीय भूमिका पृथ्वीराज ही निभाते थे और जब पृथ्वीराज की तबियत खराब रहने लगी तो उस भूमिका को निभाने के लिए या उनका स्थान लेने वाला कोई कलाकार नहीं था। जबकि इसके विपरीत नाटक में किसी अन्य भूमिका को निभाने के लिए कई कलाकारों को अभ्यास कराया जाता था। जिससे आवश्यकतानुसार कोई भी कलाकार उस भूमिका को निभा सके। इस संदर्भ में **ज़ोहरा सहगल** की एक बात बहुत उचित प्रतीत होती है। उन्होने कहा है कि – "**पृथ्वी थिएटर ने रंगमंच और फिल्मों के लिए कई बेहतरीन अभिनेता और अभिनेत्री, संगीतकार एवं निर्देशक इत्यादि पैदा किया लेकिन यह दूसरा पृथ्वीराज नहीं पैदा कर सका।**"[28]

अब प्रश्न उठता है कि पृथ्वी थिएटर दूसरा पृथ्वीराज क्यों नहीं पैदा कर सका ? इसका जवाब यही हो सकता है कि स्वयं पृथ्वीराज इतनी लोकप्रिय एवं महानायकत्व की छवि बना चुके थे कि दर्शक किसी और को मुख्य भूमिका में देखना ही नहीं चाहते होगें। दूसरी चीज यह हो सकती है कि पृथ्वी थिएटर के

---

[27] जानकीबल्लभ शास्त्री, नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974, पृ. 87 से 90

[28] देवदत्त शास्त्री (सं), श्री पृथ्वीराज अभिनंदन ग्रंथ, किसलय प्रकाशन, इलाहाबाद, में संकलित ज़ोहरा सहगल के लेख 'सज्जन, सुन्दर एवं सत्य' पृ. 5

कलाकार पृथ्वीराज पर ही निर्भर थे। इन सब के बावजूद भी उस समय थिएटर के कलाकारों के मध्य यह कानाफूसी प्रारम्भ हो गई थी कि पृथ्वीराज जानबूझ कर मुख्य भूमिका किसी अन्य को नहीं देते। उन्हे लगता है कि इससे किसी की प्रतिभा निखर जायेगी और वह उनसे आगे निकल जायेगा। जब इस तरह की बातों का पता पृथ्वीराज को चला तो उन्होने '**आहुति**' नाटक में केन्द्रीय भूमिका करने से इंकार कर दिया और वह भूमिका **उज़रा मुमताज** को प्रदान किया गया लेकिन मंचन की तारीख़ नजदीक आने पर उज़रा मुमताज अपने व्यक्तिगत कारणों से यह जिम्मेदारी नहीं निभा पायी, तब पुन: पृथ्वीराज ने रातोंरात पटकथा में परिवर्तन कराकर यह कमान संभाली। इसके अतिरिक्त एक बात यह थी कि इस थिएटर में सारी पूँजी पृथ्वीराज की लगी थी। अत: यूँ ही वह इस थिएटर को किसी अन्य व्यक्ति को सौंप नहीं सकते थे। क्योंकि उनके मन में यह डर जरुर रहा होगा कि अगर हम किसी को यह थिएटर सौंप भी देंगे तो क्या वह उतनी ही जिम्मेदारी से कार्य करेगा जितनी जिम्मेदारी से पृथ्वीराज स्वयं करते थे।

पृथ्वी थिएटर के बंद होने का एक कारण यह भी था कि इसके अनेक प्रतिभाशाली कलाकार थिएटर को छोड़कर फिल्मों में चले गये या फिर कहीं और। इस थिएटर की मुख्य कलाकार रही **उज़रा मुमताज** अपने पति के साथ पाकिस्तान चली गई तो **ज़ोहरा सहगल** जैसी कलाकार भी अपना रुख फिल्मों की ओर कर ली। **बी. एम. व्यास** भी सिनेमा में ही सक्रिय हो गये थे। हालाँकि ये सभी लोग अपने व्यक्तिगत कारणों से थिएटर को छोड़े थे जबकि कुछ कलाकार बहुत बेरुखी से थिएटर को छोड़कर गये। जिसके कारण पृथ्वीराज जी का हृदय बहुत विक्षुब्ध हो गया था। शायद इसी दु:ख को व्यक्त करते हुए 27-1-1958 की अपनी डायरी में इन्होने लिखा है कि – उस दिन रवीन्द्र का जाना और आज रानी का, वो भी यूँ मुँह बिगाड़ के - कुछ समझ में नहीं आया **!**

"**सज्जन रंग से छोड़िए जो फिर भी आए काम। मैंने कोई रस्सियाँ नहीं बाँध रखी है, जो उन्हे तोड़कर जाना पड़ता है। प्यार की डोर है! हाथ लगाकर देखो , उसमे गाँठ नाम को भी नहीं है। नहीं चाहिए तो उतार कर रख दो कि बस हम जाना चाहते है। इसमे तोड़ना – फोड़ना कैसा ? यह बिसूरना किसलिए ? हँस के जाओ, कोई रोके तब कहना।**"[29] इन बातों से साफ तौर पर ज़ाहिर है कि अपने कंपनी के कलाकारों के यूँ चले जाने से कहीं न कहीं पृथ्वीराज अकेले पड़ गये थे।

[29] आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री ,नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974 , पृ. 239

इन सब कारणों के अतिरिक्त **ज़ोहरा सहगल** ने अपनी **आत्मकथा** में थिएटर बंद होने के कुछ अन्य कारणों की ओर भी संकेत किया है। जो काफी हद तक सही प्रतीत होते हैं। उन्होने लिखा है कि – **"मई 1960 में थिएटर बंद हो गया। कोई भी इसके लिए किसी एक चीज को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकता। क्या इसकी वजह पापाजी के कन्धों पर लगातार बढ़ता जा रहा क़र्जे का बोझ था? या लेखकों की दमदार नाटक लिख पाने में नाकामयाबी इसकी वजह थी? या थिएटर के पास अपनी कोई स्थायी जगह न हो पाना इसकी वजह बना जिससे दौरों को छोड़कर नाटक केवल हफ़्ते के आख़िर में और वो भी केवल दिन में हो पाते थे ?"**[30]

यद्यपि कारण कुछ भी रहा हो, बहरहाल सच्चाई यही है कि मई 1960 में **पृथ्वी थिएटर** बंद हो गया। थिएटर बंद होने का दु:ख तो पृथ्वीराज जी को बहुत था लेकिन अपने सोलह वर्षों के सफर पर वे स्वयं को गौरवन्वित भी महसूस करते थे। सोलह वर्षों के अपने इस यादगार सफर के बारें में वे बार-बार कहते थे कि – "**शेरपा तेनजिंग एवरेस्ट की चोटी पर केवल दस मिनट रुका था। मैं शिकायत नहीं कर सकता क्योंकि मैं ख़ुशकिस्मत रहा जो सोलह साल तक चोटी पर रहा।**"

1960 में थिएटर बंद करने के बाद दुर्भाग्यवश वह इसे पुन: प्रारम्भ नहीं कर पाये और गले के कैंसर के कारण 29 मई 1972 ई. को उनकी मृत्यु हो गई। 1960 से 1972 तक यह जो बारह वर्ष का समय था, इस दौरान पृथ्वीराज स्वयं को फिल्मों में व्यस्त तो रखते थे परन्तु वह कभी भी थिएटर को भूल नहीं पाये।

पृथ्वीराज कपूर निराशाओं से लड़ते रहे,असफलताओं पर रोने और उस पर शोक मनाने के बजाय इन परिस्थितियों में आशावादी दृष्टिकोण अपनाते रहे। वो आख़िरी तक यही मानते रहे कि वो ज़िन्दा हैं, उसी पहली वाली तड़क-भड़क के साथ। उनके सब साथी कलाकार थिएटर कर रहे हैं। बम्बई में **कुमुदनी** अपने पति **सच्चन शंकर** के साथ प्ले कर रही है। **इन्दुमति लेले** मराठी थिएटर कर रही है। **ज़ोहरा सहगल** भी दिल्ली में थिएटर करने के साथ-साथ थिएटर और डांस की शिक्षा भी दे रही है। उधर पाकिस्तान में **उज़रा** मुमताज भी टी. वी. के नाटकों के साथ मंच पर भी काम कर रही हैं एवं डांस शो भी कर रही है। यह सब क्या है ये सब थिएटर ही तो हैं। वो भी तो मैं (पृथ्वीराज कपूर) ही हूँ जो थिएटर कर रहा हूँ। थिएटर ऐसे साथियों के गतिविधियों में ज़िन्दा है, ज़िन्दा रहेगा। इसी प्रकार फिर परिस्थितियाँ पैदा होगी कि कोई दूसरा सिरफिरा और उत्साह के साथ सँभलकर थिएटर करेगा। जो त्रुटियाँ मैंने की है वो दोहराई नहीं जायेगी ताकि थिएटर की आयु और लम्बी हो। **पृथ्वी थिएटर** का बंद होना भी जरुरी था। अगर यह थिएटर बंद

[30] ज़ोहरा सहगल, करीब से, मंच एवं फ़िल्मी पर्दे से जुड़ी यादें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013 , पृ. 119

नहीं होगा तो दूसरा सिरफिरा **पृथ्वीराज कपूर** कैसे पैदा होगा। एक को तो यहाँ से जाना ही होगा, ताकि कोई दूसरा सिरफिरा आकर जगह ले सके। यही जीवन है।

अपने विषम परिस्थितियों को इतने सकरात्मक रुप में लेने के बावजूद भी पृथ्वीराज, थिएटर की कमी का दर्द सहन नहीं कर सकें। उनके इस दर्द का मार्मिक वर्णन करते हुए **योगराज टंडन** ने अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में लिखा है कि – "**जब दर्द सहनशक्ति की हदें तोड़ने लगता है तो आदमी मार्फ़िया के इंजेक्शन लेने लगता है। वक्ती ही सही आराम तो मिलता है। दर्द न कम होता हो, दर्द का आभास तो सो जाता है। शूटिंग अब इनके लिए मार्फ़िया के इंजेक्शन ही थे। सारा कहर पृथ्वीराज के गले पर ही टूट रहा था लेकिन वो अब भी हिम्मत नहीं हारे थे। वह कष्टदायक परिस्थितियों के बावजूद अपने बंद थिएटर को दोबारा शुरु करना चाहते थे। थिएटर उनके अंदर अब भी ज़िन्दा था। पृथ्वी थिएटर की बिगड़ी हालत,टूटे- फूटे बक्सों में पड़े सब नाटकों के कपड़े। पठान का सैट, दीवार, कलाकार, पैसा, आहुति और गद्दार के सैट उन्हे उकसाते थे। जब कभी फिल्म की शूटिंग और अन्य झमेलों से उन्हे समय मिलता था तो वह अपने थिएटर में जाकर स्वयं को लकड़ी के बन्द बक्सों में नाटकों की पोशाकों के सुपुर्द कर देते थे। सिमटे पड़े सैटो में खो जाते थे। उनके अंदर का थिएटर जाग उठता था। अलग-अलग कपड़े पहन कर तैयार हो जाते थे। मेकअप चेहरे पर और पृथ्वीराज स्टेज पर। अपने प्यारे दर्शकों में फिर अपना पात्र निभा रहे होते।**"[31]

निष्कर्ष

उपर्युक्त सम्पूर्ण बातों के आधार पर हम कह सकते है कि यद्यपि एक ही दौर में (1943-1944 ई.) रंगमंच के क्षेत्र में दो थिएटरों का आगाज़ हुआ और दोनों के समक्ष एक जैसी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भी विद्यमान थी। दोनों का उदय ब्रिटिश दासता, अकाल, बेरोजगारी, भुखमरी एवं फासिस्ट ताकतों के विरुद्ध हुआ था शायद इसीलिए कहीं न कहीं इन दोनों नाट्य संगठनों का उद्देश्य और माध्यम भी समान ही था। दोनों के स्थापना का मुख्य उद्देश्य कला या रंगमंच के माध्यम से ब्रिटिश शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता को जागृत करना तथा अकाल पीड़ितों या जरुरतमंदों की आर्थिक सहायता हेतु धन एकत्रित करना था। दोनों ही नाट्य संगठनों में कला के विविध क्षेत्रों से जुड़े हुए व्यक्तित्व शामिल थे फिर चाहे वो लेखक हो, रंगकर्मी हो, संगीतकार हो, चित्रकार हो, गीतकार हो

[31] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, पृ. 285-286

इत्यादि। इन दोनों की खास बात यह रही कि दोनों में ही महिलाओं की हिस्सेदारी ख़ूब रही परन्तु इन सब समानताओं के बावजूद दोनों थिएटर के मध्य विभिन्न असमानताएँ भी मौजूद थी। जहाँ इप्टा कई लोगों की सोच और परिश्रम की उपज था वहीं पृथ्वी थिएटर, पृथ्वीराज कपूर जैसे अकेले व्यक्तित्व के सपनों का साकार एवं मूर्त रुप था। एक ओर जहाँ इप्टा अव्यावसायिक रंगमंच बनकर देश के कोने-कोने तक कलाकारों की आवाज को जनता तक पहुँचा रहा था वहीं दूसरी ओर पृथ्वी थिएटर व्यावसायिक होते हुए भी अपना आर्थिक लाभ न देखकर राष्ट्रसेवा की भावना से ओत्र- प्रोत्र था,जो उसके द्वारा मंचित नाटकों में परिलक्षित होती है। इप्टा के अव्यावसायिक होने के कारण इसके कलाकारों को कोई भी वेतन नहीं दिया जाता था। शायद इसीलिए उन पर किसी प्रकार का अनुबंधन भी नहीं था। ये कलाकार इप्टा में कार्य करते हुए अपने आजीविका हेतु कहीं और कार्य करने के लिए स्वतंत्र थे। जबकि पृथ्वीराज कपूर, पृथ्वी थिएटर में काम करने वाले सभी कलाकारों एवं अन्य सहायकों को मासिक वेतन देते थे और सभी कलाकारों के साथ एक अनुबंधन भी करते थे जिसके कारण वे कलाकार पृथ्वी थिएटर में कार्य करते हुए किसी अन्य स्थान पर कार्य करने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। तत्कालीन दौर में इप्टा ही एक ऐसा नाट्य संगठन था जो अपने नाटकों का मंचन खेत- खलिहान, गली – मोहल्ले, सड़क – नुक्कड़ इत्यादि किसी भी स्थान पर कर लेता था अर्थात् इप्टा मंच सज्जा पर ज्यादा ध्यान नहीं देता था। जबकि उसी दौर का पृथ्वी थिएटर मंच सज्जा की ओर आकर्षित था। वह अपने नाटकों के मंचन के लिए मंच सज्जा को विशेष महत्व देता था।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि इन दोनों में इतनी समानताएँ और असमानताएँ होने पर भी इन दोनों नाट्य संगठनों ने कभी भी एक – दूसरे को नीचा या कमतर दिखाने का प्रयास नहीं किया बल्कि इसके कलाकार एक- दूसरे से कुछ न कुछ सीखने का प्रयास करते रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर एक –दूसरे के साथ खड़े भी होते थे। लेकिन इन दोनों नाट्य संगठनों का दुर्भाग्य ऐसा था कि जिस प्रकार साथ में उदित हुए थे और अपने सुनहरे पल को जिये थे। ठीक उसी प्रकार इनका बिखराव या यूँ कहें कि इनका अंत भी लगभग साथ ही साथ हुआ। एक ओर जहाँ 1947 ई. के बाद धीरे- धीरे इप्टा का असर कम होता गया, शायद इसलिए क्योंकि इनके बहुत से कलाकार फिल्मी दुनिया में काफी मशहूर हो चुके थे और अब उनमे बिना बदले में कुछ मिले इप्टा के कामों में खटने का जज्बा बाकी नहीं रहा था। या फिर 1947 में देश की आजादी ने , विदेशी हुक्मरानों के प्रति शिकायत की कोई वजह नहीं छोड़ी थी। वहीं दूसरी ओर पृथ्वीराज कपूर अपनी बीमारी (गले का कैंसर) और बढ़ते हुए कर्ज इत्यादि के कारण 1960 में पृथ्वी थिएटर को बंद कर दिया।

अंतत यहाँ यह कहना बिल्कुल भी अनुचित नहीं होगा कि 1943- 44 में उदित हुए दो नाट्य थिएटर परतंत्र और स्वतंत्र भारत में अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए 1960 ई. के आस – पास अपने कुछ मजबूरियों के कारण थोड़ा शिथिल तो पड़ा था परन्तु अपने बेशकीमती मूल्यों और परम्पराओं के कारण आज भी किसी न किसी रुप में जीवित है क्योंकि जो इप्टा 1960 में अपनी अन्तिम साँसे गिन चुका था, उसे पुनर्गठित करने का प्रयास एक बार फिर 1985-86 के आस- पास किया गया। 1985 में आगरा इप्टा का राष्ट्रीय कन्वेंशन आहूत किया गया , जिसमे 15 राज्यों के लगभग 300 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यह राष्ट्रीय स्तर पर इप्टा को पुनर्गठित करने की पहल थी। 1986 ई. में दो से अधिक दशकों के अन्तराल के बाद इप्टा का नवाँ अधिवेशन हैदराबाद में आयोजित किया गया। इसका उद्घाटन फिल्मकार **श्याम बेनेगल** ने किया था। राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष **कैफी आज़मी,** उपाध्यक्ष **हेमंग विश्वास,** महासचिव **गोविन्द विद्यार्थी** बनाये गये। यदि वर्तमान समय को भी देखे तो इप्टा आज भी अधिकांश प्रांतो में जीवित है। इसके कलाकार अपने कला के माध्यम से आज भी वही कार्य कर रहे है जो 1960 के पहले के इप्टा कलाकार किया करते थे।

दूसरी ओर यद्यपि अपनी बीमारी तथा अन्य कई कारणों से पृथ्वीराज कपूर ने मई 1960 में पृथ्वी थिएटर को यह कहते हुए बंद कर दिया था कि सबकुछ ठीक हो जाने के बाद इसे पुन: प्रारम्भ किया जायेगा परन्तु उनके जीवित रहने तक ऐसा सम्भवे नहीं हो पाया। लेकिन बाद में उनकी यह इच्छा उनके बेटे **शशिकपूर** और बहू **जेनिफर कपूर** ने मिलकर पूरी की। शशिकपूर ने **पृथ्वीराज कपूर मेमोरियल ट्रस्ट** की स्थापना कर 1978 ई. में पृथ्वी झोपड़े की जमीन पर ही **पृथ्वी थिएटर** नाम से एक रंगशाला बनवाई। यह रंगशाला 1978 से अब तक निरंतर मुंबई में हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए कार्य कर रही है। यह संस्था अब स्वयं नाट्य मंचन नहीं करती अपितु दूसरे नाट्य दलों को रंगकर्म के लिए मंच प्रदान करती है। साथ ही साथ यह संस्था प्रतिवर्ष नाट्य समारोहों, थिएटर वर्कशॉप, विभिन्न सेमिनार आदि का आयोजन करते हुए हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए सतत कार्यशील है। शशिकपूर और जेनिफर के बाद उनके बेटे कुनाल कपूर और उसके बाद उनकी बेटी संजना कपूर इस थिएटर के दायित्व को बखूबी निभा रही हैं।

तीसरा अध्याय

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन

साहित्यिक आन्दोलन के रुप में प्रगतिवाद ने जिस नये समाज के निर्माण का सपना देखा था, उसके पीछे कार्यरत चेतना रुढ़िबद्धता और साम्राज्यवाद से मुक्त कराने तथा प्रत्येक स्तर के शोषण और दमन का विरोध करने एवं जाति, धर्म, नस्ल, लिंग और भाषा आदि के आधार पर समाज में व्याप्त असमानता का विरोध करने, उत्पीड़ितों के प्रति सच्ची सहानुभूति रखने के रुप में मौजूद थी। इसी दृष्टिकोण को लेकर **'प्रगतिशील लेखक संघ'** का उदय हुआ और इसी के साथ **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थिएटर'** के लिए भी मंच तैयार हो गया। इस मंच से देश- दुनिया में जुल्म के खिलाफ हुई राजनीतिक- सांस्कृतिक कार्यवाही में नाटक, जनता की बात को जनता के मध्य लेकर पहुँचा। कला को सामाजिक चेतना का वाहक मानते हुए और उससे एक मानवीय समाज का सपना संजोते हुए **'इप्टा'** और **'पृथ्वी थिएटर'** ने नाटक और रंगमंच को अपना हथियार बनाया।

किसी भी संस्था या उसके कार्यप्रणाली को सम्पूर्णता में समझने के लिए उसके तत्कालीन परिस्थितियों को समझना अति आवश्यक हो जाता है। वैसे भी नाटक का परिचय समकालीन युग जीवन के साथ घनिष्ठ रुप से सम्बद्ध होता है क्योंकि यह जनमानस की चेतना को निरंतर परिवर्तित करता रहता है। इसी दृष्टिकोण के मद्देनजर यहाँ भी **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थिएटर'** के उदय के समय की तत्कालीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

इतिहास साक्षी है कि **इप्टा** (25 मई 1943 ई.) एवं **पृथ्वी थिएटर** (15 जनवरी 1944ई.) का उदय एक ऐसे दौर में हुआ था जब न सिर्फ भारत में अपितु पूरे विश्व में उथल-पुथल मचा हुआ था। यह वही दौर था जब यूरोप में और सुदूर पूर्व में नाजियों और फासिस्टों के विरुद्ध महायुद्ध छिड़ा हुआ था। उसी समय साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध सारे एशिया में जो जन- जागरण दिखाई पड़ा, उसमे भारत का भी मोहभंग हुआ। पूर्ण स्वाधीनता के अतिरिक्त उसे और कोई शर्त मंजूर ही नहीं थी और जागृत जनता के सतर्क दृष्टि के नीचे दोनों पक्षों के बड़े- बड़े नेताओं के बीच समझौते के दाँवपेंच चल रहे थे। देश के करोड़ों लोगों के मन में उस समय साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार के लिए **'भारत छोड़ो'** ही एक मात्र नारा था। गाँधी जी का

अन्तिम मंत्र **'करो या मरो'** ही तब प्रत्येक भारतीय के लिए गायत्री मंत्र बन गया था। शायद इसीलिए जब अगस्त 1942 ई. में गाँधी जी द्वारा देशव्यापी **'भारत छोड़ो आन्दोलन'** प्रारम्भ किया गया तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव हिल गई और वह अपने औपनिवेशिक स्वार्थों की रक्षा के अन्तिम प्रयास में पूरी बर्बरता के साथ भारतवर्ष पर टूट पड़ा। अन्तत: कानूनी बँटवारे के बाद 15 अगस्त 1947 ई. को भारत एवं पाकिस्तान के रूप मे देश विभाजन का अभिशाप लेकर स्वाधीनता आयी। एक ओर जहाँ इस स्वाधीनता संग्राम में भारत के लाखों लोगों ने स्वयं का आत्मबलिदान कर दिया, वहीं दूसरी ओर साम्राज्यवादियों के छत्रछाया में पलने वाले स्वार्थी महाजनों, चोर बाजारिये और जमाखोरों के झुंड भी ब्रिटिशों के साथ मिलकर अपने ही देश की जनता का खून चूस रहे थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके उदय के दौरान जहाँ विश्व स्तर पर महायुद्ध चल रहा था, वहीं देश के भीतर स्वतंत्रता संग्राम अपने अन्तिम दौर में था अर्थात् इन दोनो संस्थाओं ने अपने जन्म (इप्टा 1943ई. एवं पृथ्वी थिएटर 1944ई.) के साथ परतंत्र भारत को और परिपक्वता के साथ स्वतंत्र भारत को देखा था। अत: इन दोनों संस्थाओं और इनसे जुड़े विद्ववतजनों को देश में व्याप्त हर तरीके की समस्याओं का आभास था। जहाँ परतंत्र भारत में ब्रिटिशों के अत्याचार से उत्पन्न अकाल, अकाल के कारण भुखमरी, भूख से मरने के कारण लाशों के सड़ने से फैली महामारी, साम्प्रदायिक दंगे, मशीनीकरण के कारण बढ़ती बेरोजगारी इत्यादि समस्या के रुप में थे वहीं दूसरी ओर आजाद भारत में ब्रिटिशों के अत्याचार तो नहीं परन्तु उन्ही के नक्शे कदम पर चलते हुए भारतीय शोषकों द्वारा जनता का शोषण, शरणार्थी जीवन की समस्याएँ, विभाजन के दौरान अपने जन्मभूमि से विलग लोगों की पीड़ा, उदित होते मध्यवर्गीय समाज की समस्याएँ इत्यादि विद्यमान थे।

शायद इसीलिए **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थिएटर'** ने अपने नाटकों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं के स्थान पर तत्कालीन समस्याओं जैसे- ब्रिटिशों द्वारा भारतीय जनता का शोषण, कालाबाजारी एवं जमाखोरी द्वारा पड़ते अकाल, भुखमरी, मशीनीकरण के कारण बढ़ती बेरोजगारी, देश विभाजन की समस्या, बलात्कार, साम्प्रदायिक दंगे, हिंसा, हत्या, पलायन, भ्रष्टाचार, संवेदनहीनता, मोहभंग की स्थिति, उदित होते मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं इत्यादि को केन्द्र में रखा।

जैसाकि पिछले अध्याय में ही बताया जा चुका है कि **'इप्टा'** किसी एक व्यक्ति विशेष की उपज नहीं बल्कि एक सामूहिक प्रयास था। अत: स्वाभाविक सी बात है कि इसके द्वारा मंचित नाटकों के नाट्यकथ्य के चुनाव के पीछे भी कई विद्वानों की सोच कार्य कर रही थी। वहीं दूसरी तरफ यद्यपि **'पृथ्वी थिएटर'**

पृथ्वीराज कपूर के द्वारा देखे गए सपने का मूर्त रुप थी लेकिन इसके द्वारा भी मंचित नाटकों के कथ्य को पृथ्वीराज कपूर ने अकेले नहीं बल्कि अपने कई सहयोगियों की मदद से गढ़ा था। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों संस्थाओं द्वारा जो भी नाटक मंचित किये गये थे वो किसी व्यक्ति विशेष की नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा रचा गया था।

इन दोनों संस्थाओं की एक खास बात यह थी कि इनके लेखक एवं कलाकार कहीं न कहीं एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। पृथ्वीराज कपूर स्वयं **'पृथ्वी थिएटर'** स्थापित करने से पूर्व **'इप्टा'** में काम करते थे। अत: ज़ाहिर सी बात है कि जब दोनों संस्थाओं से जुड़े विद्वान एवं कलाकार परस्पर सम्बद्ध थे तो कहीं न कहीं विचार स्तर पर भी थोड़ी बहुत समानता रही होगी। वैसे भी इन दोनों के समक्ष एक जैसी समस्याएँ विद्यमान थी। शायद यही वजह है कि इन दोनों मंचों द्वारा मंचित नाटकों के कथ्य स्तर पर भी समानता थी। इन मंचो के लिए लिखे गए रचनाओं में पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाट्य कथाओं का स्थान सामाजिक यथार्थवाद ने ले लिया था। इन दोनों मंडलियों द्वारा मंचित नाटक यथार्थवादी परम्परा की एक कड़ी है।

देश में व्याप्त उपर्युक्त समस्याओं को अपने नाटकों का कथ्य बनाकर इन दोनों नाट्य संस्थाओं एवं इनकी रंगमंडलियों द्वारा पूरे देश में भ्रमण करते हुए एक ही नाटक के कई प्रदर्शन किये जाते थे। इनके जन्मकाल से लेकर 1960 तक इनके द्वारा मंचित कुछ चुनिंदें एवं बहुचर्चित नाटक निम्नलिखित हैं जिसे इन संस्थाओं ने अपने प्रदर्शन के लिए चुना था –

इप्टा द्वारा मंचित बहुचर्चित नाटक - **'जबानबंदी' , 'नवान्न'** (विजन भट्टाचार्य) **, 'मैं कौन हूँ' , 'जुबैदा'** (ख़्वाजा अहमद अब्बास) **, 'ये किसका खून है'** (सरदार ज़ाफरी) **, 'आज का सवाल' , 'पहेली', 'आधा सेर चावल' , 'घायल पंजाब' , 'राजाजी दिल बैठा जाए'** (राजेन्द्र रघुवंशी) **, 'जालीदार पर्दे' , 'शतरंज की बाजी'** (रुपांतरकार- हबीब तनवीर) **, 'दलम'** (रुपांतरकार – वी. एम. अदिल) इत्यादि हैं।

प्राय: इन नाटकों का मंचन पहले और प्रकाशन बाद में हुआ करता था लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि इनमे से अधिकांश नाटक आज तक प्रकाशित ही नहीं हुए हैं और न ही उनकी पांडुलिपियाँ ही शेष बची हुई हैं। उदाहरण के लिए – **'आज का सवाल' , 'पहेली', 'आधा सेर चावल', 'घायल पंजाब', 'राजाजी दिल बैठा जाए'** इत्यादि नाटक इप्टा के सशक्त हस्ताक्षर रहे **राजेन्द्र रघुवंशी** द्वारा लिखा गया है। जब मैं अपने शोध कार्य के सिलसिले में राजेन्द्र रघुवंशी की बेटी **ज्योत्स्ना रघुवंशी से** 29 फरवरी 2020 को आगरा स्थित उनके आवास पर उनसे मुलाकात की, तो उस दौरान ज्योत्स्ना जी से मुझे ज्ञात

हुआ कि **'पहेली'** नाटक को छोड़ दिया जाये तो राजेन्द्र जी के अधिकांश नाटक मंचित तो खूब हुए हैं परन्तु वो प्रकाशित नहीं हो पाये हैं। उनके नाटकों की जो पांडुलिपियाँ भी थी, वह भी घर शिफ्ट करते समय कहीं खो गई। जिसके कारण आज पांडुलिपि भी ज्योत्स्ना जी के पास नहीं है।

इसी प्रकार **सरदार ज़ाफरी** द्वारा लिखित नाटक – **'ये किसका खून है'** मूलत: उर्दू भाषा में हैं। जिसका कुछ ही अंश उर्दू भाषा में मुझे पटना इप्टा के सदस्य नासिरुद्दीन जी से प्राप्त हो सका है।

इसके अतिरिक्त अन्य नाटक जैसे – **'जबानबंदी' , 'नवान्न' , 'पहेली' , 'मैं कौन हूँ' , 'जालीदार पर्दे' , 'शतरंज की बाजी' , 'दलम'** इत्यादि मुझे विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। जिसके बारें में विस्तृत चर्चा निम्नलिखित है -

'जबानबंदी' और **'नवान्न'** दोनो ही नाटक बांग्ला नाटककार **विजन भट्टाचार्य** द्वारा रचित है। इन्होने इन दोनों नाटकों को बांग्ला भाषा में लिखा था, जिसका हिन्दी रुपान्तरण **नेमिचन्द्र जैन** द्वारा किया गया है। नेमिचन्द्र जैन द्वारा हिन्दी भाषा मे अनुदित **'नवान्न'** नाटक को सर्वप्रथम 1978 ई. में नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया ने प्रकाशित किया था।

'जबानबंदी' बांग्ला एकांकी है जिसका हिन्दी रुपांतर **'अन्तिम अभिलाषा'** नामक शीर्षक से **नेमिचन्द्र जैन** ने, इप्टा द्वारा अकाल पीड़ित बंगाल के लिए धन इकट्ठा करने की गरज से बम्बई में प्रदर्शन के समय किया गया था। यह नाटक बंगाल के अकाल पर आधारित है। जिसमे अकाल से उत्पन्न भुखमरी को बड़ी ही सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। नाटक की कहानी बूढ़े **परान मंडल** के परिवार और गाँव के अन्य परिवारों के इर्द –गिर्द घूमती है जो भूख के कारण अपनी जन्मभूमि को छोड़कर भोजन की तलाश में शहर में पलायन तो कर जाते हैं लेकिन वहाँ भी एक – एक सदस्य की मृत्यु होती रहती है। बूढ़ा **'परान'** भी मरते – मरते अपने लोगों को गाँव लौट जाने के लिए कहता है क्योंकि उसे आशा है कि गाँव में पुन: खेती करके इतना अन्न तो उपजाया ही जा सकता है जिससे सभी को भरपेट भोजन मिल सके। उस समय भुखमरी की यह भयावह स्थिति देश के समक्ष बहुत बड़ी समस्या थी।

'नवान्न' (नई फसल) नाटक, जिसके मंचन से **इप्टा** को खूब प्रसिद्धि मिली। इस नाटक के केन्द्र में भी **'बंगाल का अकाल'** है। **'नवान्न' जबानबंदी** का ही विस्तारित रुप है जिसके विषय में स्वयं **विजन भट्टाचार्य** ने नेमिचन्द्र जैन द्वारा अपने ही दो नाटकों के हिन्दी अनूदित पुस्तक **'विजन भट्टाचार्य के दो नाटक'** की भूमिका में लिखा है कि - **" दूसरे महायुद्ध के परिप्रेक्ष्य में देशव्यापी स्वाधीनता आन्दोलन की गति और प्रकृति बदलने के कारण अकाल, महामारी तथा दैवी प्रकोप दुर्दम्य रुप से एक चरम**

परिणति की ओर बढ़ रहे थे। प्रत्येक समस्या ऐसा विराट और व्यापक रुप धारण कर रही थी कि किसी भी होने वाले अनर्थ पर इंसान का कोई बस नहीं चलता था। जागरुक बुद्धिजीवियों का मन भी उस समय संशय और विभ्रम के गोरखधन्धे में फँसा था। ऐसे चरमतम दु:समय में शहीद मातंगिनी हाजरा के क्षेत्र पेदिनीपुर जिले की पृष्ठभूमि को लेकर प्रधान समाद्दार के नये हलफनामे के तौर पर 'नवान्न' (नयी फसल) नाटक लिखना शुरु किया। 'जबानबंदी' (अन्तिम अभिलाषा) में मरणासन्न परान मंडल (पात्र) की आँखों के सुनहरे धान का स्वप्न ही 'नवान्न' (नयी फसल) के प्रधान समाद्दार (पात्र) की आँखों में जवाकुसुम के रुप में झलका।"[32]

'मैं कौन हूँ' नाटक के रचनाकार **ख़्वाजा अहमद अब्बास** है। यह नाटक तत्कालीन हिन्दू – मुस्लिम सम्प्रदायिकता पर आधारित है। धर्म के नाम पर होने वाले विभाजन के बाद लोगों के मरती हुई संवेदना को बखूबी दर्शाता यह नाटक एक ऐसे बेनाम व्यक्ति की कहानी है जो अपना याददाश्त खो चुका है और जिसके पास न तो रहने के लिए घर है और न ही खाने के लिए रोटी। वह भूख से तड़पते हुए भारत – पाकिस्तान के सीमा पर पड़ा है और लोगों से रोटी माँग रहा है। हिन्दूस्तानियों से रोटी माँगने पर वो उस बेनाम व्यक्ति से पूछते है कि तू कौन है हिन्दू या मुसलमान ?। इसी तरह का सवाल पाकिस्तान के लोग भी करते है कि तू कौन है मुसलमान या हिन्दू? अफसोस की बात तो यह है कि उस व्यक्ति की मानसिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह अपने बारे में कुछ भी बता सके। कुछ न बताने की स्थिति में उसे किसी ओर से रोटी प्राप्त नहीं होती। इसके साथ ही साथ उसे सीमा रेखा से भारत की ओर आने पर मुसलमान समझ कर छुरा मार दिया जाता है और पाकिस्तान की ओर कदम रखने पर हिन्दू समझ कर छुरा भोंक दिया जाता है। नाटककार ने इस नाटक के माध्यम से कितनी ही सूक्ष्मता से यह बात उठायी है कि आज इंसान के लिए इंसानियत से बढ़कर धर्म हो गया है लेकिन वह इस बात को भूल जाते हैं कि भूख का किसी धर्म से कोई वास्ता नहीं होता है। भूख तो सभी धर्म के लोगों को समान रुप से ही लगती है।

'पहेली', राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखा गया समस्या प्रधान एकांकी है। जो व्यंग्य प्रधान भी है। इसकी पहली प्रस्तुति 1953 ई. में बम्बई में आयोजित **इप्टा** के सातवें सम्मेलन में हुआ था। इस एकांकी में रघुवंशी जी ने मध्यवर्गीय समाज का उम्दा ख़ाका खींचा है , जो अभावग्रस्त जिन्दगी जीते हुए दिन – रात यही सपना देखा करते हैं कि किसी दिन अचानक लाखों रुपये बरस पड़ेगें औऱ हम अमीर हो जायेगे। निकम्मेपन से भरा यह सपना, उनकी जिन्दगी को ही एक पहेली बना देती है। लेकिन इस पहेली को

[32] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.11

सुलझाना भी हमारा ही काम है। हमें कल्पना की दुनिया से निकल कर यथार्थ को स्वीकारना होगा। यही समय की पुकार है। समय की इसी पुकार को पुन: दर्शाना ही इस नाटक की विशेषता है।

'**जालीदार पर्दे**' यह मूलत: एकांकी है जिसे **हबीब तनवीर** ने रुपांतरित किया है। यह स्वतंत्र भारत में लिखा गया था। जिसे 1954 ई. में मंचित किया गया था। इसमे स्वतंत्र भारत में सशक्त महिला की कहानी को बुना गया है। जो किसी भी जटिल परिस्थितियों से निपटने में सक्षम है।

'शतरंज के खिलाड़ी' नाटक मूलत: **प्रेमचन्द्र** की कहानी है। जिसका नाट्यरुपांतरण **हबीब तनवीर** ने **इप्टा** के लिए किया था। इसके कथानक के केन्द्र में लखनऊ शहर है। जहाँ बादशाह से लेकर आवाम तक अपना महत्वपूर्ण समय विलासिता में व्यतीत कर रहे हैं। यह कहानी उस समय की है जब एक ओर ब्रिटिश शासक अवध पर अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा था, वहीं दूसरी ओर अवध का बादशाह नबाब वाजिद अली शाह अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने की बजाय विलासिता में मग्न है। इतना ही नही बादशाह के दो जागीरदार मिरजा सज्जाद अली और मीर रोशन अली भी देश दुनिया से बेफ्रिक होकर शतरंज के खेल में मग्न है। इन दोनों को अपने घर – परिवार,जागीर से भी उतना मतलब नहीं है जितना शतरंज से है। एक दिन जब ये शतरंज खेलते रहते है तो अंग्रेजो की सेना बादशाह नबाब वाजिद अलीशाह को कैद कर ले जा रही थी लेकिन दोनों धूर्त जागीरदार अपने बादशाह के रक्षा हेतु शतरंज के खेल को छोड़कर उठे ही नहीं। इन दोनों ने ब्रिटिशों का एकबार भी विरोध नहीं किया। लेकिन अंत में शतरंज खेलते - खेलते आपस में झगड़ने लगते हैं । एक – दूसरे को नीचा दिखाते हुए तलवार निकालते है और एक –दूसरे पर वार करते है। जिसमें दोनों की मृत्यु हो जाती है। यह भारत के लिए कितने दुर्भाग्य की बात है कि यहां के लोग ब्रिटिशों से मुकाबला करने के बजाय विलासिता में अपना जीवन व्यतीत करना ज्यादा पसंद करते थे। इतना ही नही भारत की सबसे बड़ी दुर्बलता भी यही है कि यहां के लोग शत्रुओं से लड़ने की अपेक्षा परस्पर युद्धरत रहते हैं जिसका फायदा हमेशा तीसरा पक्ष अर्थात् शत्रु उठाते हैं। देश के इसी रुप को इस नाटक में चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

वहीं दूसरी ओर '**पृथ्वी थिएटर**' ने अपने जन्मकाल 1944 ई. से लेकर 1960 ई. तक में सिर्फ आठ नाटकों का ही मंचन पूरे देश में भ्रमण करते हुए किया और यही आठ नाटक उसके प्रसिद्धि का कारण भी बना। ये आठ नाटक निन्नलिखित हैं –

'शकुन्तला' (नारायण प्रसाद 'बेताब'), **'दीवार'** (पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज 'आनन्द'), **'पठान'** (लालचन्द्र बिस्मिल) , **'गद्दार'** (इन्द्रराज आनन्द), **'कलाकार'** (रामानन्द सागर एवं पृथ्वीराज कपूर), **'पैसा'** (लालचन्द्र बिस्मिल) , **'आहुति'** (लालचन्द्र बिस्मिल), **'किसान'** (शील) है।

'शकुन्तला' पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित पहला नाटक है। जिसे **नारायण प्रसाद 'बेताब'** द्वारा लिखा गया था। यह कालिदास के संस्कृत नाटक **'अभिज्ञान शकुन्तलम्'** पर आधारित है। इसका कथ्य पारम्परिक होने के कारण यह अपने तत्कालीन समस्याओं से अन्जान था। इसीलिए यह नाटक असफल भी हो गया था।

'दीवार' पूर्णत: राजनीतिक नाटक है । यह **पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल और इन्द्रराज आनन्द** के अथक परिश्रम का नतीजा है , जो हमारे समक्ष 1944 ई. में **'दीवार'** के रुप में प्रकट हुआ। इस नाटक के डायलॉग को **इन्द्रराज 'आनन्द'** ने लिखा, माँजा और संवारा है। इसके गाने को कवि दीपक ने लिखा है, जो उस समय फ़िल्म जगत के प्रसिद्ध गीतकार थे। इसका पहला मंचन 9 अगस्त 1945 ई. को हुआ था। इस नाटक में लेखकों ने तत्कालीन परतंत्र भारत को चित्रित किया है , जिसे ब्रिटिश शासकों ने **'फूट डालो राज करो'** नीति के तहत विभाजित करने का प्रयास किया था। इस नाटक की कहानी उस जागीर की है , जिसके मालिक दो भाई थे -सुरेश और रमेश। इनकी पत्नियाँ थी – रामा और शीला। ये परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे परन्तु एक विदेशी महिला अपने साथियों के साथ इनके जागीर में आगमन करती है। जिसे ये दोनों भाई **'अतिथि देवो भव'** की भावना से रहने के लिए आश्रय देते हैं। लेकिन ये विदेशी महिला अपनी चालाकी से इन दोनों भाईयों को परस्पर एक – दूसरे का शत्रु बना देती है और उनके जागीर को अपने हिसाब से चलाने लगती है। कहीं न कहीं यह नाटक प्रतीकात्मक रुप से देश विभाजन से जुड़ा है । भारत में ब्रिटिश अपनी नीतियों के तहत हिन्दू- मुस्लिम में बैर कराकर देश को विभाजित करने का प्रयास कर रहे थे। जिसमे वे सफल भी होते हैं।

'पठान' नाटक **लालचन्द्र 'बिस्मिल'** द्वारा रचित और **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित प्रसिद्ध नाटकों में से एक था। इसका प्रथम मंचन 13 अप्रैल 1947 ई. को नागपुर में बैसाखी के दिन हुआ था। इस नाटक के केन्द्र में भी देश विभाजन है। इसके मंचन की तिथि से यह ज्ञात होता है कि यह विभाजन के कुछ माह पूर्व ही खेला गया था अर्थात् इस समय तक यह निश्चित हो गया था कि विभाजन होना सौ प्रतिशत तय है । इस नाटक का मुख्य पात्र शेरखान एक मुस्लिम पठान है जिसका दीवान ताराचन्द्र हिन्दू है लेकिन इन दोनों के मध्य इतनी गहरी मित्रता है कि दोनों एक –दूसरे के लिए प्राण निछावर करने को हमेशा तत्पर रहते हैं।

एक दिन **शेरखान** के प्राणों की रक्षा करते हुए दीवान **ताराचन्द्र** की मृत्यु हो जाती है। उसके बाद शेरखान ही ताराचन्द्र के परिवार की देखरेख करता है। और एक दिन दीवान का बेटा **वजीरचन्द्र** अपने आत्मरक्षा में दूसरे गढ़ी के एक युवक की हत्या कर देता है तो उस गढ़ी के लोग सिर के बदले सिर की माँग, गढ़ी के मुखिया शेरखान से करते हैं। शेरखान दोनों गढ़ी के मध्य होने वाले दंगों को रोकने के लिए वजीरचंद के स्थान पर अपने इकलौते बेटे बहादुरखान की कुर्बानी दे देता हैं। बहादुरखान की अभी नई- नई शादी हुई रहती है। यह नाटक भारत में हिन्दु – मुस्लिम सौहार्द को प्रदर्शित करता है।

'गद्दार' नाटक भी एक राजनीतिक नाटक है। इसका प्रथम मंचन 15 अगस्त 1948 ई. को अर्थात् आजादी के ठीक एक वर्ष पश्चात् मुंबई के **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में हुआ था। इस नाटक में **अशरफ** नामक एक मुसलमान युवक के वैचारिक बदलाव को चित्रित किया गया है। अशरफ एक राष्ट्रवादी मुसलमान युवक था जो गाँधी जी के खिलाफ़त आन्दोलन में हिस्सा लेने के बाद पूर्णत: गाँधी जी और कांग्रेस का समर्थक बन गया था। वह लगभग प्रत्येक आन्दोलन में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लेता था लेकिन 1940 के बाद मुस्लिम लीग के द्वारा पारित प्रस्ताव के कारण वह मुस्लिम लीग का समर्थक हो जाता है। उसके ऐसा करने के पीछे पुलिस का अत्याचार और कांग्रेस द्वारा **'इण्डिया एक्ट'** स्वीकार कर लेना था। लेकिन नाटक के अंत मे दिखाया गया है कि विभाजन के बाद जब वह इस आशा से कराची जाता है कि वहां उसका सम्मान होगा परन्तु ऐसा न होने पर आहत होकर भारत लौटता है। इस दौरान उसे कई दंगों का शिकार होना पड़ता है। तब अशरफ को यह महसूस होता है कि मजहब स्वयं कभी हिंसा नहीं फैलाता अपितु कुछ लोग सिर्फ अपने स्वार्थवश लोगों को बाँटने हेतु धर्म को एक हथियार के रुप में इस्तेमाल किया करते हैं।

'आहुति' नाटक का पहला मंचन 30 सितंबर 1949 ई. को मुंबई के **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में हुआ था। इस नाटक के केन्द्र में देश विभाजन के बाद उत्पन्न हुई समस्या है। जब 15 अगस्त 1947 ई. को देश का विभाजन हुआ था तो उसका गहरा असर कई वर्षों तक बना रहा। भारत की अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या पाकिस्तान और पाकिस्तान की अधिकांश हिन्दू जनसंख्या भारत, अपने – अपने जमीन से कट कर शरणार्थी के रुप में जा बसे थे। एक ओर जहां उन्हे शरणार्थी के रुप में भोजन और नौकरी पाने जैसी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था तो वहीं दूसरी ओर उन्हे दंगे का स्मरण और अपने जन्मभूमि से अलग होने की पीड़ा सता रही थी।

'**आहुति**' नाटक की शुरुआत रावलपिंडी के **रायसाहब** के घर से होती है। जहां रायसाहब के बेटे **राम** और उनके अन्धे मित्र **रामकृष्ण** की बेटी **जानकी** की शादी का माहौल है। चारों तरफ खुशियों का माहौल है। इसी बीच रावलपिंडी में मजहबी दंगे प्रारम्भ हो जाते हैं। मुस्लिम दंगाईयों द्वारा हिन्दू घरों को आग के हवाले किया जा रहा था। जिसमे रायसाहब और रामकृष्ण तथा अन्य लोगों का घर भी जलकर राख हो गया। इतना ही नहीं उन दंगाईयों ने इंसानियत की सारी हदें पार करते हुए हिन्दू महिलाओं के साथ बलात्कार किया। इसके साथ ही साथ वृद्ध महिलाओं को मार देते थे और युवा लड़कियों का अपहरण कर अपने साथ उठा ले जाते थे। इसी दंगे में कुछ मुस्लिम युवकों ने जानकी का अपहरण कर बलात्कार किया। घर के जल जाने के बाद रावलपिंडी के हिन्दू परिवारों को शरणार्थी के रुप में मुंबई के एक शरणार्थी शिविर में शरण मिली। जहाँ उन्हे कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। इसी शिविर में एक दिन अचानक जानकी पहुँचती है और अपने पिता के साथ रहने लगती है। परन्तु समाज के दूषित मानसिकता वाले लोग उसे सिर्फ इसलिए हेय दृष्टि से देखते और बुरा भला कहते थे क्योंकि उसका बलात्कार हो चुका था, जिसमे उस बेचारी की कोई गलती भी नहीं थी। उधर रायसाहब भी अपने बेटे राम का विवाह - जानकी से करने को सिर्फ इसलिए इंकार कर देते हैं क्योंकि जानकी का बलात्कार हो चुका था। इन सब से तंग आकर जानकी पहाड़ी से कूद कर आत्महत्या कर लेती है। इसमे नाटककार ने विभाजन के दौरान महिलाओं पर होने अत्याचार को बड़ी ही सूक्ष्मता से चित्रित किया है। इसके साथ ही शरणार्थी के रुप में अपने जन्मभूमि का स्मरण इस नाटक का प्राण है।

'शकुन्तला', 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार' एवं '**आहुति**' के बाद पृथ्वी थिएटर के अगले तीन नाटक **'कलाकार', 'पैसा'** तथा **'किसान'** थोड़ा अलग मिजाज के हैं। यदि 'शकुन्तला' नाटक को छोड़ दिया जाये तो अन्य चार नाटक देश विभाजन और उससे उत्पन्न समस्याओं पर आधारित है। जबकि अगले तीन नाटक 'कलाकार', 'पैसा' और 'किसान' में आजादी के बाद भारतीय समाज में आ रहे परिवर्तन के कारण उत्पन्न समस्याएँ केन्द्र में हैं।

'**कलाकार**' नाटक का मूल नाम **गौरां** था जिसे बाद में परिवर्तित कर '**कलाकार**' रखा गया। इसका प्रथम मंचन 8 सितंबर 1951 में बम्बई के '**रॉयल ऑपेरा हाउस**' में किया गया था। इस नाटक में एक कलाकार की समस्या को केन्द्र में रखा गया है। यह कलाकार आदर्शवादी व्यक्ति है। वह शहरों के शोर-शराबा से बहुत दूर सच्चे सौंदर्य की तलाश में पहाड़ों पर पहुँच जाता है। उसे पहाड़ो के सीधे – सादे लोगों का सौंदर्य बहुत आकर्षित करता है। उस कलाकार को एक चंचल पहाड़ी लड़की **गौरां** से प्रेम हो जाता है। वह उससे विवाह करना चाहता है परन्तु पहाड़ के लोगों को उस शहरी कलाकार पर विश्वास नहीं होता।

उन्हे लगता है कि शहरी लोग कपटी और धोखबाज़ होते हैं। इसलिए उसे अपने सच्चे प्रेम को सिद्ध करने के लिए एक इम्तिहान देने को कहा जाता है। और यह इम्तिहान था कि – उसे बरसात के दिनों में भी एक ऊंची पहाड़ी पर जाकर झंड़ा गाड़ना था। उस कठिन परीक्षा के लिए कलाकार तैयार हो जाता है हांलाकि उसे यह परीक्षा देनी नहीं पड़ती क्योंकि गौरां भी दुल्हन के रुप में तैयार होकर सबके सामने आ जाती है और कहती है कि वह भी कलाकार के साथ पहाड़ी पर जायेगी जिससे दोनो एक साथ मृत्यु को प्राप्त कर सके। इस बात को सुनकर गौरां का प्रेमी **सरजू** उन दोनों के सच्चे प्रेम की गवाही देता है और पूरा गाँव मिलकर **कलाकार** और **गौरां** का विवाह करा देते है।

विवाह के बाद जब गौरां, कलाकार के साथ शहर में आती है तो वह पहाड़ की सीधी – सादी लड़की नहीं बल्कि आधुनिक रंग ढंग में ढली शहर की फैशनेबल महिला हो जाती है। वह रुपयों के पीछे इस कदर भागने लगती है कि अपने पति के भावनाओं को भी नहीं समझती। गौरां अपने कलाकार पति द्वारा बनाये गये उन कृतियों को बेचवाना चाहती है जिसे उसका पति किसी कीमत पर बेचना ही नहीं चाहता क्योंकि वह चित्र स्वयं गौरां के हैं। उसके सौंदर्य के है। लेकिन गौरां उन कृतियों को कलाकार के एक मित्र रमेश के हाथों पचास हजार रुपये में बिकवा ही देती है। जिससे कलाकार बहुत दु:खी हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज की दुनिया में भावनाओं की अपेक्षा पैसे की कीमत इतनी अधिक हो गई है कि लोग एक – दूसरे के दु:ख का अनुभव ही नहीं कर पाते।

'पैसा' नाटक में भी इसी आधुनिक उपभोक्तावाद को दर्शाया गया है। इस नाटक का पहला मंचन 4 अक्टूबर 1953 ई. को सेन्ट्रल टॉकीज, अहमदाबाद के मंच पर हुआ था। इसमे **शान्तिलाल** नामक सीधे – सादे बैंक मैनेजर को धन के लिए नर से पशु बनना दिखाया गया है कि किस प्रकार शान्तिलाल बैंक में नौकरी करते हुए अपने परिवार के पालन के साथ ही जरुरतमंद लोगों की मदद भी करता था। यह बात और है कि उसके पास कुछ बचता नहीं था। लेकिन धीरे – धीरे शान्तिलाल अपनी पत्नी और बच्चों के शौक और माँग को पूरा करने के लिए अपने मित्र **कालिदास** द्वारा दिखाये गये गलत राह पर चल पड़ता है। इस राह में उसे पैसे तो बहुत मिलते हैं परन्तु उसके सारे रिश्ते धीरे – धीरे खत्म हो जाते हैं। शान्तिलाल मिल मालिक बनने के लिए अपनी बेटी **इन्द्रा** का विवाह एक वृद्ध सेठ से कर देता है, जिसका कुछ ही दिनों में बीमारी के कारण मौत हो जाता है और **इन्द्रा** कम उम्र में ही विधवा हो जाती है। शान्तिलाल का बेटा उनके इस निर्णय से क्रोधित हो घर छोड़ कर चला जाता है। उधर शान्तिलाल अपनी विधवा बेटी का पुनर्विवाह सिर्फ इसलिए नहीं करना चाहता क्योंकि ऐसा करने पर इन्द्रा के हाथ से सेठ की सारी सम्पत्ति चली जायेगी।

'किसान' नाटक का मूल नाम **'जमीन'** था। जिसकी रचना नाटककार **शील** द्वारा 1954 में किया गया था। इसका प्रथम मंचन 26 अक्टूबर 1956 ई. में **पृथ्वी थिएटर** द्वारा किया गया था। यह नाटक उत्तरप्रदेश के किसानों की समस्याओं पर आधारित है। इसमे नाटककार शील ने नये – नये आजाद भारत के किसानों की स्थिति को सूक्ष्मता से दिखाया है। इसमे उन्होने दिखाया है कि यद्यपि भारत से ब्रिटिश चले गये हैं और जमींदारी व्यवस्था लगभग समाप्त हो चुकी है परन्तु उनके नक्शे कदम पर चलने वाले शोषक अभी भी किसानों का शोषण करने का प्रयास कर रहे है। इस नाटक में किसान अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हैं। किसानों को पता है कि सरकारी संपत्तियों पर सभी का समान अधिकार है, फिर चाहे वह गरीब किसान हो या कुलीन वर्ग का कोई व्यक्ति। नाटक में गाँधीवाद और समाजवाद का रुप भी देखने को मिलता है। नाटक के प्रारम्भ में ही **धीरज** गाँधी जी के अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करते हुए गाँव के ठाकुरों से पानी के विवाद में मार पीट करने से इंकार करता है। बात ये थी कि गाँव में नहर का निर्माण हो चुका है और उसमे आने वाले पानी से गाँव के लोग बारी – बारी से अपने खेत की सिंचाई करते हैं और इस बार **धीरज** की बारी थी परन्तु ठाकुरों ने जबरदस्ती पानी अपने खेत में लगा लिया है। ऐसी स्थिति में धीरज का भतीजा **पूरन** अपने साथियों के साथ ठाकुरों के आदमियों से लड़ने जाता है परन्तु धीरज अपने युवकों को समझा बुझाकर घर लेकर चला आता है। लेकिन नाटक के अंत में दिखाया जाता है कि सरकार ने जमींदारी खत्म कर दी है। सभी किसान मिलकर सामूहिक कृषि कर रहे हैं। पंचायत के ट्रैक्टर पर सभी किसानों का अधिकार है। सभी अपने आवश्यकतानुसार ट्रैक्टर का उपयोग करते हैं। उधर अपने हाथ से ताकत जाते देख जमींदार बैलों की चोरी प्रारम्भ करवा देते हैं। एक दिन चोर के पकड़े जाने पर जमींदार का नाम सामने आता है तो सभी किसान जमींदार के खिलाफ हो जाते हैं। इसी शर्मिंदगी से जमींदार आत्महत्या कर लेता है।

उपर्युक्त नाटकों के नाट्य कथ्यों से स्पष्ट हो रहा है कि इन दोनों संस्थाओं के लिए नाटक लिखने वाले तमाम नाटककारों ने अपने नाट्य कथ्यों को न तो भारतेन्दु एवं प्रसाद युगीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथ्यों तक सीमित रखा और न ही नाटक को मनोरंजन के दायरे में क़ैद किया। प्राय: इनके सभी नाटक आधुनिक जनजीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर आधारित विभिन्न विषयों को लेकर लिखा गया था। इन रचनाकारों के नाटक नाट्यानुभूति के स्तर पर बहुआयामी व्यक्तित्व रखते थे। शायद इसीलिए इनके एक ही नाटक में जीवन की वैयक्तिक समस्याएँ , व्यापक राजनीति और समसामायिक विभिन्न संदर्भ एक साथ ही अभिव्यक्ति पाते हैं। इन संस्थाओं द्वारा मंचित कुछ नाटक मानवीय सम्बन्धों की संवेदनहीनता, अर्थप्राप्ति की महत्वाकांक्षा से उत्पन्न असंतोष, स्नेहहीनता तथा सम्बन्धों में कटुता, तनाव क्रूरता, पारिवारिक रिश्तों

के ठंडेपन और पीढ़ी संघर्ष को केन्द्र में रखकर चले हैं तो कुछ नाटकों की मुद्रा राजनीतिक है जो व्यवस्था में निहित भ्रष्टाचार, उसे विकृत करने वाले पूँजीपतियों, जमाखोरों एवं राजनीतिक दलालों, राष्ट्रीय नेताओं के शोषण, अन्धस्वार्थपरता तथा असंगति और विडम्बना से साक्षात्कार कराते हुए यथास्थितिवादी शक्तियों पर जमकर प्रहार किया गया है। समाज, परिवार, प्रेमविवाह, जाति,धर्म , संस्कृति और सभ्यता का द्वन्द्व इन नाटकों में निरंतर दिखलाई पड़ता है। ये सभी नाटक एक ओर सामान्य व्यक्ति के अर्न्तमन में बैठे सवालों, बिन्दुओं से टकराते है तो दूसरी ओर कहीं न कहीं सामाजिक हित में उन्हे विश्लेषित भी करते हैं। जनवादी आकाँक्षा इन नाटकों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार इन नाटकों की रचना प्रक्रिया में कथ्य भंगिमाएँ महत्वपूर्ण स्थान रखती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन नाटको की चेतना बहुआयामी तथा संश्लिष्ट है इसलिए इन नाटकों में व्यक्त चेतना को समझने के लिए इसे अलग – अलग शीर्षक में आबद्ध करके प्रस्तुत किया जा रहा है। जो निम्नलिखित हैं–

1. **औपनिवेशिक स्थिति**
2. **विभाजन समस्या**
3. **सामाजिक जागरण एवं समाज सुधार**
4. **पारिवारिक समस्याएँ**

औपनिवेशिक स्थिति

जब किसी एक देश पर दूसरे शक्तिशाली देश के दबदबे से किसी भी प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव आते हैं तो इस प्रक्रिया को औपनिवेशीकरण कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य आर्थिक शोषण करना होता है। भारत के परिप्रेक्ष्य में भी कुछ ऐसा ही था। यहाँ ब्रिटिशों ने व्यापार के उद्देश्य से अपना कदम रखा था परन्तु देखते ही देखते कुछ ही वर्षों में सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और प्रत्येक स्तर पर विभिन्न नीतियों के माध्यम से भारतीय जनता का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिशों के प्रत्येक कृत्यों का प्रभाव भारत के विविध पक्षों पर पड़ा। फिर चाहे वो आर्थिक पक्ष हो, सामाजिक हो अथवा सांस्कृतिक पक्ष हो। यहाँ हम विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले प्रभाव को नाटक के माध्यम से क्रमवार देखेगें –

(1.1) आर्थिक क्षेत्र पर औपनिवेशिक स्थिति का प्रभाव

भारत के परम्परागत हस्तशिल्पों एवं घरेलू उद्योग - धन्धों का विघटन –

ब्रिटिश शासको ने भारत के प्रति जो भी आर्थिक नीतियाँ अपनाये, वह पूर्णत: ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अनुकूल एवं भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रतिकूल थी। उदाहरण के तौर पर जब 1600 ई. में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में स्थापित की गई थी तो उसका उद्देश्य बहुमूल्य वस्तुओं को भारत लाकर उसके बदले में यहाँ से कपड़े और मसाले प्राप्त कर उसे विदेशों में बेचकर लाभ कमाना था। इससे भारतीयों को भी अत्याधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मिलता था क्योंकि भारत में बने सूती कपड़ों को ब्रिटेन और अन्य देशों में खूब पसंद किया जा रहा था। विदेशों में कपड़ो का फैशन धीरे- धीरे बदल गया और ब्रिटिशों के खुरदरे ऊनी कपड़ों का स्थान भारत के हल्के और मुलायम सूती वस्त्रों ने ग्रहण कर लिया। भारत में बने सूती वस्त्रों के इस लोकप्रियता से ब्रिटिश उद्योगपतियों को ईर्ष्या होने लगी। जिसका वर्णन प्रसिद्ध लेखक **'डेनियल डिफो'** ने अपने उपन्यास **'राबिन्स क्रूसो'** में किया है। उन्होने लिखा है कि **"भारतीय वस्त्र हमारे घरों, हमारे कक्षों तथा हमारे शयनगारों में भी प्रवेश कर चुके हैं। पर्दे, गर्दे, कुर्सियां और अंत में हमारे बिस्तर भी मलमल या भारतीय वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं रहे।"**[33] ब्रिटिश उद्योगपतियों ने इसी ईर्ष्यावश भारतीय माल का ब्रिटेन में विक्रय कम करने हेतु अपनी सरकार पर दबाव बनाया जिसके तहत वहाँ की सरकार ने अपने उद्योगपतियों के सुरक्षा हेतु 1720 ई. में छापेदार और रंगीन सूती वस्त्रों के व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया। जिसके परिणामस्वरुप भारत के सूती वस्त्र उद्योग को काफी नुकसान उठाना पड़ा और देखते ही देखते भारत का समृद्ध वस्त्र उद्योग अपने निचले पायदान पर पहुँच गया।

इतना ही नहीं 1757 ई. में प्लासी के युद्ध के साथ ही कम्पनी ने अपने शक्ति का विस्तार करते हुए भारतीय व्यापार पर अपना पूर्ण एकाधिकार कर लिया। एक ओर ब्रिटेन में 1720 ई. में ही भारत के रंगीन और छापेदार सूती वस्त्रों को प्रतिबंधित किया जा चुका था जिससे वहाँ ब्रिटिश निर्मित वस्त्रों की माँग बढ़ी जिसके परिणामस्वरुप वहां कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ी। उसी के तहत कम्पनी अपने व्यापार के एकाधिकार शक्ति का प्रयोग करते हुए भारतीय किसानों से सीधे कच्चे माल खरीदने लगी। अब किसान सीधे भारतीय व्यापारियों को कच्चे माल नहीं बेच सकते थे। अब किसान कम्पनी को अपने माल बेचने

[33] विपिन चंद्र, आधुनिक भारत का इतिहास , ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, नया संस्करण,2020, पृ. 76-77

के लिए मजबूर थे। इसी का लाभ उठाते हुए ब्रिटिश कम्पनी ने कम मूल्यों पर कच्चा माल खरीदना प्रारम्भ किया और उसे ब्रिटेन भेजने लगे। अब ब्रिटेन को तो कच्चा माल आसानी से प्राप्त होने लगा परन्तु भारतीय किसान की स्थिति खराब होने लगी। उन्हे अपने उपज की उचित कीमत नहीं मिल रही थी।

वहीं दूसरी ओर ब्रिटेन में कच्चा माल की आपूर्ति होने पर वहाँ वस्त्र उद्योग का विकास अत्याधिक मात्रा में हुआ। जिसके कारण ब्रिटेन के व्यापारियों ने भी अपने सरकार से भारत में व्यापार करने की माँग की। इसी माँग के मद्देनजर ब्रिटेन सरकार ने 1813 ई. में भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार एकाधिकार को समाप्त कर स्वतंत्र व्यापार का मार्ग खोल दिया । जिसके कारण अब सिर्फ कम्पनी ही भारत मे व्यापार नहीं कर सकती थी अपितु उसके साथ- साथ - साथ ब्रिटेन के अन्य व्यापारी भी भारत में व्यापार करने के लिए स्वतंत्र हो गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय बाजार में ब्रिटेन के मशीन निर्मित सस्ते वस्त्रों की बाढ़ आ गई।

स्वतंत्र व्यापार का मार्ग खोलने के साथ ही ब्रिटिश सरकार ने जो कानून बनाये, वह भारतीय उद्योग धन्धों की रीढ़ की हड्डी तोड़ने का कार्य किया। नये बनाये गये कानून के तहत भारत में वस्तुओं के आयात पर 3 या 3.5 प्रतिशत ही कर देना पड़ता था परन्तु वस्तुओं के निर्यात पर 10 प्रतिशत तक कर लगा दिया गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुएँ इतनी महँगी हो गई कि यहाँ के व्यापारी को व्यापार में लाभ के स्थान पर हानि होने लगा। शायद यही वजह थी कि भारतीय व्यापारी व्यापार से विमुख होने लगे और जीविकोपार्जन हेतु कृषि की ओर अग्रसित हुए जिससे भूमि पर दबाव बढ़ा। वहीं दूसरी ओर ब्रिटेन में मशीन से निर्मित वस्तुएँ भारतीय बाजार में इतने सस्ते मूल्य पर बिकने लगी कि अब भारतीय भी स्वदेशी वस्त्रों के स्थान पर ब्रिटेन निर्मित वस्त्रों की ओर झुकने लगे। इन नीतियों से भारत को दोहरी नकरात्मक मार झेलनी पड़ी। एक ओर जहाँ कम कीमत पर अपनी उपज बेचने से कृषि आधारित अर्थवस्था चरमराने लगी, वहीं दूसरी ओर निर्यात कर अधिक होने से विदेशों में अपने वस्तुओं को बेचने में असमर्थता के कारण विदेशी धन भी भारत आना बंद हो गया। इस प्रकार योजनाबद्ध तरीके से ब्रिटिशों ने भारतीय वस्तुओं को देशी और विदेशी बाजार दोनों से ही बाहर कर दिया। जिससे भारतीय अर्थव्यस्था और उद्योग धन्धे पूर्णत: विघटन की ओर अग्रसर हो गई।

शायद इसी विघटित होते हुए भारतीय अर्थव्यस्था को बचाने के लिए स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी को विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं की ओर भारतीय जनता को उन्मुख करने हेतु **स्वदेशी आन्दोलन** करना पड़ा। इस आन्दोलन के तहत भारत में बने वस्तुओं का प्रयोग करने

के लिए लोगों को जागृत किया गया था। जिसकी एक झलक हमें **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक '**आहुति**' में दिखलाई पड़ता है। जहाँ नाटककार **लालचन्द्र बिस्मिल** ने महिला पात्रों द्वारा वस्त्र खरीदते समय उनके वार्तालाप के माध्यम से गाँधी जी के स्वदेश निर्मित वस्त्रों का प्रयोग करने की बात कहलवायी है –

"**लक्ष्मी** : (एक कपड़ा उठाकर) इसका तो बने ब्लाउज (दूसरा कपड़ा उठा कर) और इसकी साड़ी। (रघुनाथ से) कितना पन्ना है इसका ?

रघुनाथ : साड़ी का है बहन जी (खोलकर दिखाता है)

लक्ष्मी : (एक और कपड़ा उठा कर) शलवार के लिए यह रंग ठीक रहेगा। और इसके साथ क़मीज़ यह फबेगी (विशेशराँ को दिखाती है। विशेशराँ बिल्लो से पूछती है)

विशेशराँ : क्यों बिल्लो ? (बिल्लो खामोश) अरी बोल न?

लक्ष्मी : (मुसकुराती हुई) इस महात्मा गाँधी की चेली से क्या पूछती हो – यह तो यही कहेगी – खद्दर ले के रंगा लो (सब हँसती हैं) क्यों बिल्लों ?

बिल्लो : (मुसकुराती हुई) हाँ बहना मैं तो यही कहूँगी – मगर जहां महात्मा गाँधी की नहीं सुनी गई वहाँ मेरी कौन सुनता है ? "[34]

किसानों का शोषण –

ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के तहत मालगुजारी की नीति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि भारतीय या अन्य वस्तुओं को खरीदने के लिए , ब्रिटिश शासन को मजबूती प्रदान करने हेतु नियुक्त ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों एवं सैनिकों को वेतन देने हेतु, युद्धों तथा अन्य प्रशासनिक खर्च उठाने के लिए कम्पनी को भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी। और इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु ब्रिटिश शासकों ने सारा बोझ भारतीय कृषकों पर डाल दिया। इसी राजस्व नीति के तहत ब्रिटिश काल में भारतीय किसानों का जितना

[34] लालचन्द्र बिस्मिल, 'आहुति' , पृथ्वी थिएटर प्रकाशन,बम्बई, पृ. 27-28

शोषण हुआ था, शायद ही उसके पहले कभी हुआ होगा। इस दौरान किसान धीरे-धीरे दरिद्र होते चले गये क्योंकि ब्रिटिशों ने भू-राजस्व की जो नीति बनाई थी, वह किसानों के लिए प्राणघातक सिद्ध हुई। **इस्तमरारी, रैयतवारी एवं महलवारी** व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय मुखिया या जमींदारों को किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। अब जमींदार अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए किसानों से मनमानी लगान वसूल करते थे। इसके साथ ही साथ किसानों को लगान एक निर्धारित समय पर देना ही होता था। यदि दुर्भाग्यवश किसानों की फसल बाढ़, अकाल या अन्य कारणों से पूर्णत: नष्ट हो जाती थी तो भी उन्हे जमींदारों की तरफ से लगान देने में कोई सहूलियत नहीं दी जाती थी। किसानों से बकाया **लगान (कर)** अगले उपज के दौरान वसूला जाता था। जैसाकि '**नवान्न**' नाटक में चित्रित किया गया है कि अमीनपुर के किसान परिवार पहले मानव निर्मित अकाल से और बाद में बाढ़ के कारण फसल के नष्ट हो जाने से भुखमरी के कगार पर आ गये थे। तब किसान परिवार भोजन की तलाश में अपने गाँव को छोड़कर शहर चले गये थे और दर – दर की ठोकर खाने के बाद भी जब उन्हे भरपेट भोजन न मिला तो वो अपने परिवार के साथ पुन: अपने गाँव लौट कर , बची हुई जमीन पर खेती करना प्रारम्भ किये। लेकिन फसल तैयार होने पर उन्हे यह चिन्ता सताने लगी कि इस फसल को हम जमींदार, महाजन, पटवारी इत्यादि से अपने खाने के लिए कैसे बचाए ? अमीनपुर के किसान परिवार के सदस्य **फकीरा, सुजन, दयाल** इत्यादि मिलकर यही विचार करने में लगे हैं कि इस सीमित अनाज से हम पिछले वर्ष का लगान भरे या इस वर्ष का लगान भरे। और यदि हमारा सम्पूर्ण अनाज लगान भरने में ही चला गया तो हम अपने परिवार को खिलायेगें क्या ? अन्तत: कहीं ऐसा न हो कि हम पुन: भुखमरी की स्थिति पहुँच जाये। यह बात **फकीरा** , **दयाल** और **सुजन** के संवाद से स्पष्ट हो रहा है –

"फकीरा : वह तो ठीक ही है, पर समस्या तुम्हारी इत्तै से ही तो नहीं कट जायेगी। बचाओगे कैसे इस फसल को ? जमींदार है , महाजन है, पटवारी है –

दयाल : आती हैं, बाद में आती हैं वे सब बातें।

सुजन : हाँ, जमींदार का सब लगान बकाया है। फिर महाजन को भी देना – दिवाना है ही बहुत-कुछ। फसल कटते ही तो सब गीधों की तरह टूट पड़ेंगे। चारों तरफ से लाओ – लाओ करते हुए।

दयाल : हाँ, वह रोकना ही पड़ेगा जैसे भी हो। लगान देने वाला तो पहले बचे।"[35]

इतना ही नहीं लगान देने में असमर्थ किसानों की जमीन को या तो जबरदस्ती नीलाम कर दी जाती थी या उन्हे इतना मजबूर कर दिया जाता था कि किसान स्वयं अपनी जमीन बेचने को विवश हो जाते थे। इसी तरह की घटनाओं का जिक्र **इप्टा** द्वारा मंचित एवं बहुचर्चित नाटक '**नवान्न**' में **विजन भट्टाचार्य** नें किया है। उन्होने दिखाया है कि किस प्रकार गाँव का मुखिया **हारुदत्त** किसानों की जमीन को सस्ते दर पर अपने नाम जबरदस्ती लिखवाता है। यदि कोई किसान अपनी जमीन उसके नाम लिखने से मना कर देता है तो वह मारपीट करने पर आ जाता है।

"प्रधान: (खड़े होकर) नहीं, रहने दीजिए जमीन, रहने ही दीजिए।

सभी कुछ तो चला गया। यह जमीन अब नहीं बेचूँगा।

हारुदत्त : अच्छा तो पूरे ही ले लेना।

प्रधान : नहीं रहने दीजिए।

हारुदत्त : अब क्या रहने दीजिए ? पूरे ही रहे।

प्रधान : कुंज

कुंज : रुपयों का लालच दिखाकर गाँव भर का धान ले गये पहले, अब जमीन के लिए

खींचातानी करने आये हैं। यह जमीन नहीं बिकेगी, कह दो।

हारुदत्त : नहीं बेचूँगा। ... जबान मत पलटो, प्रधान, हाँ, जबान मत पलटो।

कुंज : जबान पलटने की बात ही क्या है जी? गरीब भूखे लोगों पै जे क्या नाहक जुलम ?उसकी

जमीन – वह कहे नहीं बेचूँगा, और जे कहै जाएँ जबान मत पलटो। बड़े आये जबान

पकड़ने वाले।

प्रधान : (कुंज को रोकते हुए) आ- हा... तू चुप रह न जरा , कुंज !

[35] नेमिचन्द्र जैन(अनुवादक) ,विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 103

कुंज : (चिल्लाकर) क्यों, चुप क्यों रहूँ ? चुप रह ! ....ऐसे चुप रहते- रहते बिल्कुल गूँगे हो जाओगे। गूँगे हो जाओगे, समझ गये ?

प्रधान : होऊँगा तो हो जाऊँगा। तू चुप हो जा।

कुंज : क्यों ?किसलिए ?गले से अब तो जरा कुछ आवाज निकालो। कम से कम दो चार को पता तो चले सब !

हारूदत्त : बड़ी तेजी दिख रही है जबान में, हूँ।

कुंज : तो अब भी डर – डर के चलना होगा अब भी डर के

हारुदत्त : हूं मुझसे तो डर नहीं, पर... (ऊपर की तरफ हाथ उठाता है)

कुंज: पता है, पता है। ऊपर वाला दिखाएँगे। पता है। पर वह बिसवास अब टूट चुका। उससे अब नहीं है डर।

हारुदत्त : हूं , तो यह सीधा सिर जरा टेढ़ा करना होगा, लगता है। बेटा नीच जात की इतनी हिम्मत।

कुंज : ऐ – ऐ, गाली- गालौज मत करना, हाँ कह दिया अच्छा नहीं होगा।

हारुदत्त : (लड़की को सम्भालते हुए) नीच जात गाली- गलौज हो गयी हरामजादे की बात सुनो नीच जात गाली हो गयी।

कुंज : ऐ- ऐ मुँह सम्भाल कै बात करो।

हारुदत्त : जा तो माती, बुला तो ला जरा अपने मामा को , और चंडी मंडप में जो – जो हैं....जा।

प्रधान : आप जाइए , भैया। जमीन मेरी है। मुझे वह नहीं बेचनी। बात खतम।

हारुदत्त : नहीं, ऐसी आसानी से नहीं खतम होती बात। ऐसी आसानी से खतम नहीं होने दूँगा।

(मंच की दायीं ओर से लाठी लिये हुए दो –तीन तगड़े से आदमियों का प्रवेश)

हारुदत्त : लगाओ तो जरा कस के दो – चार हाथ....

(हाथ में लाठी लिये तेजी से कुंज का प्रवेश। कुंज की लाठी के ऊपर एक लाठी का वार पड़ता है। सिर पर चोट लगने के कारण कुंज जमीन पर बैठ जाता है। एक आदमी प्रधान को रोके रहता है)

पहला आदमी : (कुंज से) साला.... भूखों तो मर रहा है, पर अभी ऐंठ नहीं गयी।

दूसरा आदमी : पैर पकड़ कर माफी माँग। माँग माफी।"[36]

भारतीय किसानों के लिए इससे ज्यादा दु:खदायी और क्या होगा कि ब्रिटिशों के इशारे पर एक भारतीय ही अपने लोगों पर इतना अत्याचार करता है कि किसान भूखों मरने के लिए विवश हो जाता है।

किसानों का भूमिहीन मजदूर में परिवर्तन-

ब्रिटिशों के इसी राजस्व नीति के कारण ही साहूकारों एवं महाजनों का उदय हुआ। ब्रिटिशों ने जमींदारी, रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी , जो भी नीतियाँ बनाई थी, उसके तहत किसानों को लगान चुकाना ही था। फिर चाहे बाढ़ आए, सूखा पड़े या किसी अन्य कारणवश फसल बर्बाद ही क्यों न हो जाये। यही नीतियाँ ही वह वजह थी जिसके कारण किसानों को लगान चुकाने हेतु साहूकारों से व्याज पर पैसे लेने पड़ते थे। जिसके बदले में किसानों को साहूकार के पास अपनी कोई कीमती वस्तु या जमीन गिरवी रखनी पड़ती थी क्योंकि किसानों को लगता था कि लगान न चुकाने पर नियमानुसार उनकी जमीन को नीलाम कर दिया जायेगा और जमीन हमेशा के लिए उनके हाथ से निकल जायेगी। इससे बेहतर है कि व्याज पर रुपये लेकर लगान चुका दिया जाये और जब रुपये होगे तो साहूकार से जमीन वापिस छुड़वा लिया जायेगा। लेकिन इसी दौरान साहूकार या महाजन व्याज पर व्याज दिखाकर इतना रुपये बता देते थे कि किसान उसे अदा ही नहीं कर पाता था और फिर अन्तत: साहूकार किसान की जमीन अपने नाम करवा लेता था। जिससे किसान अपने जीविकोपार्जन हेतु मजदूरी करने को विवश हो जाता था। इस प्रकार जमीन का मालिक भूमिहीन मजदूर में परिवर्तित हो जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि जो किसान कभी अपने भूमि का स्वामी हुआ करता था। साहूकार के व्याज न चुका पाने के कारण जमीन उसके नाम करके स्वयं जीवन निर्वाह हेतु मजदूरी करने को विवश हो जाता था। ऐसे ही **'किसान'** नाटक में एक दृश्य में यह चित्रित किया गया है कि नाटक के मुख्य पात्र धीरज का छोटा भाई जोधा नौतोड़ की जमीन को साहूकार को लिखने वाला है।

[36] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.46-47-48

जिसकी खबर धीरज की पत्नी सुखिया को लग जाती है और तब सुखिया परेशान होकर अपने पति धीरज से कहती है -

"सुखिया : जाओ, देखते क्या हो। हाय राम जोधा तो घर फूँक तमाशा कर रहा है। पहले

ठाकुर जमीन हड़पे जाता था – गहने बेच कर उसकी पूजा की , अब साहू जोधा

को मिलाकर जमीन लूट लेना चाहता है।"[37]

इतना ही नहीं साहूकार इंसानियत को इस कदर भूल चुका है कि वह अपने रुपयों को व्याज पर देकर किसानों की जमीन लिखवाने के लिए हमेशा आतुर बैठा रहता है। इसके लिए वह अनुचित कार्य करने को भी तैयार रहता है। साहूकार किसान परिवार के किसी सदस्य को जुएँ जैसी बुरी आदतों की लत लगवाता है ताकि वह व्यक्ति जुआँ खेलने के लिए उससे रुपये उधार लेगा। जिसके बदले में अपनी कोई कीमती वस्तु को उसके पास गिरवी रखेगा या बेचेगा। यदि वह गिरवी रखी वस्तु धातु है तो एक समय बाद रुपये अदा न करने पर उसे जब्त कर लेता था और यदि जमीन रहता है तो उसे साहूकार अपने नाम लिखवा लेता है। इस तरह एक व्यक्ति की गलती से पूरा किसान परिवार बरबाद हो जाता था।

ऐसा ही एक चित्रण **शील** नामक लेखक ने अपने नाटक '**किसान**' में बखूबी किया है। इसमे लेखक ने सुखिया नामक महिला पात्र के माध्यम से यह कहलवाया है कि साहूकार बिना कुछ लिखवाये रुपये उधार नहीं देता। जोधा जो सुखिया का देवर है , उसे जुआँ खेलने की आदत है। उसी जुएँ के चक्कर मे जोधा साहूकार से रुपये उधार लेता है , जिसके बदले में साहूकार उसके परिवार की कुछ न कुछ कीमती वस्तु जैसे जमीन, बाग, पेड़ इत्यादि को अपने नाम लिखवा लेता है । सुखिया की बेटी रधिया बाहर से आकर अपनी माँ को बताती है -

"रधिया: श्यामा की चाची अभी मटक-मटक कर कह रही थी, तेरा बापू जुए में सौ

रुपये हारा है।

सुखिया : हाय राम सौ रुपये फिर साहू ने कुछ लिखवा लिया होगा।"[38]

---

[37] शील, किसान, संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति,1957, पृ. 9-10

[38] वही पृ. 5-6

कभी – कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती है जब साहूकार गरीबों से बहुत कम कीमत पर ही उसकी जमीन अपने नाम लिखवा लेना चाहता है। जैसाकि '**किसान**' नाटक में ही एक स्थान पर दर्शाया गया है कि - एक हजार रुपये की कीमत वाली जमीन को साहूकार मात्र सौ रुपये में ही अपने नाम लिखवाना चाहता है। जैसाकि स्पष्ट है –

"**केदार** : (मोड़ पर जोधा से मुठभेड़ होती है – विद्रूप हँसी के साथ) सुखिया और धीरज

साहू के पास गये हैं , तुम साहू को नौतोड़ लिख आये ?

जोधा : नहीं।

केदार : क्यों ?

जोधा : एक हजार की ज़मीन – सौ ले चुका हूँ , साहू चार सौ और दे दे , लिख दूँगा।

केदार : साहू क्या कहते हैं ?

जोधा : (नाराज होकर) सौ में नौतोड़ लिखवा लेना चाहता है।"[39]

पटवारी एवं लेखपाल द्वारा किसानों की जमीन को किसी और के नाम लिख देना

किसानो का शोषण न सिर्फ परतंत्र भारत में ब्रिटिशों द्वारा बनाये गये नियमों के कारण हो रहा था अपितु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय शोषकों के रुप में निरंतर जारी रहा। अब ब्रिटिशों के स्थान पर भारतीय शोषक के रुप में गाँव के कुलीन वर्ग के लोग, पटवारी तथा लेखपाल इत्यादि के माध्यम से उनका शोषण कर रहे थे। स्वतंत्र भारत की स्थिति ऐसी थी कि जिनके पास रुपये होते थे , अधिकारी भी उन्ही का साथ देते हैं। ये अधिकारी कुलीन वर्ग के लोगों से रुपये लेकर गरीब किसानों की जमीन उनके नाम लिख देते थे। इसी प्रकार के अधिकारियों का चित्रण '**पृथ्वी थिएटर**' द्वारा कई बार मंचित नाटक '**किसान**' में किया है –

"**धीरज**: (प्रवेश के साथ केदार से) तो ट्रैक्टर पंचायत का नहीं है

[39] शील, किसान , संस्कार प्रकाशन , प्रथमावृत्ति,1957 , पृ.10

केदार :(एक बैसाखी पहिये पर रखते हुए) ट्रैक्टर ठाकुर का है।

धीरज : ठाकुर के पास जमीन है, रुपया है।

केदार :बडे-बड़े हाकिम हुक्मरानों से रसुक है।

धीरज : पहले पटवारी उनका खिलौना था, अब लेखपाल उनके घर का है।

केदार : ऊहूँ उनका नहीं , पैसे का है।

धीरज : (रधिया से) जा खेस ले आ, खलिहान से गिठुरा ले आऊँ।

रधिया : (जाते जाते) काका ! लेखपाल तो पक्का बेईमान है।

केदार : उसे अधिकार है।

धीरज :अधिकार मिला है तो किसी की जमीन किसी के नाम लिख दें ?"[40]

किसान नाटक में ही नाटककार **शील** ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार स्वतंत्र भारत में जमींदार के रुप में शोषक वर्ग का प्रतीक अंगदसिंह किसानों को फसल की सिंचाई के लिए पानी भी नहीं लेने देता था। जबकि स्वतंत्र भारत में सिंचाई परियोजना के तहत जो नहर गाँव – गाँव तक बन रही थी, उसके पानी पर गाँव के प्रत्येक लोगों का अधिकार था परन्तु गाँव के शक्तिशाली लोग अपनी दंबगई से गाँव के अन्य किसानों को इस अधिकार से वंचित कर रहे थे।जिसका वर्णन कुछ इस प्रकार है –

"सुन्दर: तुम यहाँ जम कर बैठ गये ? वहाँ सूबेदार कहता है कि पानी हम लगायेंगे।

पूरन : (हाथ रोक कर) यह नहीं हो सकता।

धीरज : पंचायत में क्या हुआ, आह !आह !

पूरन : कुछ नहीं , गयादीन कहते हैं जब मीटिंग होगी तब देखा जायेगा।

धीरज : गयादीन के यह रुख, जब मीटिंग होगी तब देखा जायेगा ? हमने इसलिए संरपंच बनाया है ?

[40] शील, किसान, संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति,1957, पृ.3

पूरन : अच्छी तिकड़म है, न मीटिंग हो, न फैसला। खेत के धान, खेत में ही सूख जाँय। हम गाँव में एक साथ खेती करने का नमूना बनाना चाहते हैं। दुश्मन देख नहीं सकते काका ! पंचायत कुछ न कर सकेगी।

धीरज : करेगी कैसे नहीं।

पूरन : करेगी, लेकिन काम ठाकुर का होगा – नहीं सूबेदार की हिम्मत थी कि पड़ोस से दुश्मनी करे ?

सुखिया : (बड़बड़ाती है) लोग कहते हैं सरकार बदल गई , जमींदारी चली गई , कैसी चली गई जमींदारी –

धीरज : अरी जमींदारी तो चली गई है , पर वह आदमी तो नहीं गये जिनकी दाढ़ों में आदमी का खून लगा है।"[41]

धन की निकासी

भारत मे ब्रिटिश शासन के दौरान विभिन्न नीतियों के माध्यम से जो धन ब्रिटेन भेजा गया ,जिसके बदले में भारतीयों को कोई लाभ नहीं प्राप्त हुआ, उसे धन निष्कासन की संज्ञा दी गई। और इसी धन निष्कासन के कारण भारत दिन प्रतिदिन गरीबी के दलदल में धँसता चला गया। ब्रिटिश अपने देश का धन कभी भी भारत नहीं लाते थे अपितु भारतीय राजस्व से प्राप्त धन के द्वारा यहां से कच्चे माल को सस्ते दामों पर खरीद कर ब्रिटेन भेजते और वहां से निर्मित वस्तुओं को पुन: भारतीय बाजार में बेच कर लाभ कमाते। इतना ही नहीं ब्रिटिश शासक अपने प्रशासनिक अधिकारियों का वेतन, सैनिकों का खर्च, तथा युद्धों का खर्च इत्यादि भी भारतीय राजस्व से ही देते थे। ब्रिटिश अपने आर्थिक हित को साधते हुए भारत में विकास के नाम पर रेल चलाने का जो प्रस्ताव रखा, वह भी धन निष्कासन से सम्बद्ध था। एक ओर ब्रिटेन की प्राइवेट कम्पनियों को रेल लाइनें बिछाने का कार्य दिया गया जिससे वहाँ का लौह उद्योग और विकसित हो सके , दूसरी ओर ब्रिटेन के उद्योगपतियों को भारत में अपनी पूँजी निवेश करने के लिए प्रेरित किया।

[41] शील, किसान, संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति,1957 , पृ. 7-8

भारत सरकार ने ब्रिटिश पूंजीपतियों को जमानत दी कि उन्हे पूँजी निवेश पर पाँच प्रतिशत लाभ दिया जायेगा। इन नीतियों के द्वारा भारत ऋणग्रस्त होता चला गया। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रिटिशों ने तरह – तरह की नीतियाँ बनाकर भारत में विदेशों से धन आने का सारा रास्ता बंद कर दिया और भारत से धन ब्रिटेन ले जाने के सारे रास्ते खोल दिये।

इसी धन निकासी का वर्णन **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक '**दीवार**' में कई स्थानों पर किया गया है। ऐसे ही एक स्थान पर विदेशी महिला पात्र एक विदेशी पुरुष पात्र से भारतीयों के साफ दिल और इन्सानियत का मजाक उड़ाते हुए कहती है कि एक दिन इनकी जागीर हमारी होगी –

"विदेश औरत: तुम लोग कहते हो यह कितने नेक दिल हैं, कितने फ़राग़ दिल हैं। मैं कहती हूँ यह लोग कितने अहमक हैं , कितने जाहिल हैं।

विदेशी आदमी 1 : तब तो ठीक है, आज जो इनके घरों में दौलत के अम्बार लगे हुए हैं , चन्द ही दिनों में हमारे खजानों में मुन्तकिल हो जायेगें। आज जो इनकी जागीर में दूध और शहद की नदियाँ बह रही हैं , कल उससे हम फैज़याब होंगे। आज जो इनकी जागीर सोना उगलती है , कल उस पर इनका कोई भी अख़्तियार न होगा।

विदेशी औरत : हाँ ! जागीर इनकी होगी , हुकूमत हमारी होगी , मेहनत यह करेंगे और मजे हम लूटेंगे। यह तख्त, यह सितार और यह मुजस्सिमा (हर चीज की तरफ हाथ से इशारा करती है ओर फिर हिकारत आमेज़ हँसी हँसती है।)"[42]

ब्रिटिश शासक भारत के विकास के नाम पर विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों को भी अपने मातृदेश से मंगवाते थे और उसके बदले में भारतीयों से धन या अनाज लेकर ब्रिटेन भिजवाते थे और यदि कभी इन उपकरणों में किसी प्रकार की समस्या या खराबी आती थी तो उसे बनवाने के लिए एक्सपर्ट भी वहीं से बुलवाते थे जिसका खर्च भी भारतीयों को ही उठाना पड़ता था। इन सब में भी पूरा लाभ ब्रिटिशों को ही

[42] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952 , पृ.11-12

होता था। जिसका जिक्र '**दीवार**' नाटक में किया गया है , जब विदेशी आदमी जागीरदार सुरेश से खेतों की सिंचाई हेतु ब्रिटेन निर्मित ट्यूबबेल खरीदने के लिए कहता है -

"**विदेशी आदमी 1**: हमारे मुल्क में सायन्सदानों ने (ट्यूबवेल) ईजाद किये हैं जिनकी मदद से यहाँ पानी बोहतात से पहुँचाया जा सकता है।

सुरेश : क्या उससे बारिश होती है ?

विदेशी आदमी 1 : नहीं हुजूर , उससे जमीन के अन्दर से पानी निकाला जाता है।

सुरेश : अरे हमें पागल समझे क्या हम भी तो चरसे, ढेकली से पानी निकालते हैं। बस नाम बदल कर रख दिया।

विदेशी आदमी 1 : नहीं हुजूर ! चरसे , ढेकली और ट्यूबवेल में बहुत बड़ा फर्क है। चरसे ढेकली से आप वह पानी निकाल सकते हैं जो इन्सानी पहुँच के अन्दर है और ट्यूबवेल से आप वह पानी निकाल सकते हैं जो इन्सानी पहुँच से बिल्कुल बाहर हो चुका है। .....

सुरेश : क्या यह हमारे मुल्क में नहीं बन सकते ?

विदेशी औरत : बन सकते हैं सरकार लेकिन फ़िलहाल नहीं। इनके बनाने में काफी अर्सा लगेगा और हम जल्द ही आप के लिए अपने मुल्क से मँगवा देंगे।

रमेश : लेकिन आप इसका मुआवज़ा क्या लेंगे ?

विदेशी औरत : आप अनाज से दे सकते है।

.....

सुरेश : उनके चलाने और बिगड़ जाने पर बनाने के लिए आदमियों की जरुरत होगी, हम तो आज तक अपने पुरखों के बनाये हल और रहट चलाते आये हैं।

विदेशी आदमी 1 : हुजूर ! शुरु - शुरु में कुछ ऐक्सपर्टस हम अपने मुल्क से मँगवा लेंगे और

जैसे – जैसे आपके आदमी काम काज संभालने के क़ाबिल होते जायेंगे, हमारे

आदमी अपनी जगहों से दस्तबरदार होते जायेंगे।

.....

सुरेश : पर तुम्हारे देश भाई अपने घर- बार, बाल – बच्चे छोड़कर इतनी दूर आयेंगे किस लिये?

विदेशी औरत : सरकार हमारे यहाँ सोने की कमी है, अनाज की कमी है और आपके यहाँ इन दोनों चीजों की बुहतात है। इसलिए आपको एहसास भी नहीं हो सकता है कि मुठ्ठी भर अनाज और सोने के एक टुकड़े के लिए इन्सान क्या से क्या कर सकता है।"[43]

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि ब्रिटिश भारतीय धन को किसी न किसी बहाने ब्रिटेन ले जाने के लिए सदैव तत्पर रहते थे।

अकाल, जमाख़ोरी एवं कालाबाज़ारी

भारत हमेशा से कृषि प्रधान देश रहा है लेकिन ब्रिटिश नीति के तहत देशी उद्योगों का विघटन एवं राज्य, जमींदारों, साहूकारों, व्यापारियों, महाजनों, जमाखोरों, सूदखोरों इत्यादि के शोषण के कारण यहाँ की जनता दिन प्रतिदिन दरिद्रता के कीचड़ में धँसती चली गई क्योंकि ब्रिटिश शासक अपने आर्थिक हित के लिए भारतीय किसानों को कपास, नील तथा अफीम की खेती करने को बाध्य करते थे जिससे अनाज की पैदावार स्वयं ही घट गई। इसके साथ ही साथ कपास, नील और अफीम को ब्रिटिश सस्ते मूल्यों पर खरीदते थे। जिससे किसान को अपने लागत की ही उचित कीमत नहीं मिलती थी, लाभ तो बहुत दूर की बात थी। इसके अतिरिक्त एक ओर जहां अनाज की उपज कम हो गई थी वहीं दूसरी ओर जो अनाज होता भी था उसे जमाखोरों द्वारा अपने गोदाम में जमा करवा लिया जाता था जिसे वे बाद में अधिक कीमत पर बेचते थे। **जैसाकि 'नवान्न'** नाटक में **कालीधन, निरंजन** के संवाद से स्पष्ट होता है – मुनीम निरंजन अपने मालिक चावल के व्यपारी कालीधन के पास पहुँच कर कहता है –

"निरंजन: माल सब पहुँच गया गोदाम में।

[43] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द , दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.30 - 34

कालीधन : ठीक से रखवा दिया न ?

निरंजन : हाँ , वह ....

कालीधन : बिल्कुल...(तहखाने की ओर इशारा करता है)"[44]

चावल व्यापारियों द्वारा चावल की जमाखोंरी से लोग भूखों मरने लगे । जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण बंगाल का अकाल है। लोगों के पास खाने के लिए चावल नहीं था और जब एक सामान्य व्यक्ति दुकान पर चावल खरीदने जाता तो दुकान वाले इतनी ज्यादा कीमत बताते कि वो खरीद ही नही पाते थे। जैसाकि **'नवान्न'** में कालीधन, भद्रलोक और राजीव के संवाद से स्पष्ट है। भद्रलोक, कालीधन से चावल खरीदने जाता है और कहता है –

"**भद्रलोक** : मैं तो मामूली गिरस्त आदमी हूँ। बड़ी मुसीबत में पड़ा हूँ। आप जो दाम कहेंगे दूँगा। पर ....चावल मुझे जरुर चाहिए।

कालीधन : (हाथ घुमाता हुआ) चावल कहाँ रक्खा है, साब। दस –बीस बरस के बँधे हुए ग्राहकों को तो दे ही नहीं पाता, आप तो....नहीं साब, चावल नहीं है। आप कहीं और देख लीजिए।

भद्रलोक : बोलिए कहाँ देखूँ पहले ही चार – छह दुकानों पर हो आया हूँ। सब एक ही बात कहते है – चावल नहीं है। अब मैं क्या करुँ बताइए। आप शायद मेरी जरुरत ठीक से समझे नहीं। झुंड के झुंड बाल – बच्चों के साथ शहर में रहना। घर में एक दाना नहीं चावल का। समझे आप ?

कालीधन : समझ गया, साब, सब समझ गया। पर मैं क्या कर सकता हूँ , बताइए।

भद्रलोक : (हाथ जोड़कर) जो भी हो , कुछ इन्तजाम कर दीजिए।

कालीधन : अच्छा दाम की बात कर रहे थे ।कहिए क्या दाम देंगे ? देखूँ अगर कहीं और

[44] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 51

किसी दुकान से कहने – सुनने से मिल जाये।

भद्रलोक : दाम....आप जो कहें।

कालीधन : (हाथ की पाँच उँगलियाँ दिखाते हुए) देखिए , दे सकेंगे ?

भद्रलोक : (विस्मित मुद्रा में) कितना ? प-चा-स रुपये ! ....

कालीधन : देखिए दाम सुनते ही चौंक गये न। मैंने तो पहले ही कह दिया था आप चावल नहीं ले सकेंगे। समझ लीजिए।

राजीव : चावल खाएँगे ! बड़े आये चावल खाने वाले ! चावल खाने आये हैं। अकाल के कीड़े मकौड़े सब।

भद्रलोक : पर, साब, पचास।

राजीव : अरे साठ रुपये मन, साब, खुसामद करके। समझ गये। आप तो पचास रुपये सुन के ही चौंक गये।

भद्रलोक : पहले तीस रुपये मन लिये थे , अब पैंतीस,ज्यादा से ज्यादा चालीस ले लीजिए , जैसे भी हो। बड़ी ठगी है।"[45]

भारतीयों के लिए यह कितनी भयावह स्थिति थी कि एक ओर ब्रिटिशों ने अपने हितों के अनुसार यहाँ नील, अफीम और कपास की खेती करवाई और दूसरी ओर भारतीय व्यापारियों, साहूकारों ने चावलों की जमाखोरी औऱ कालाबाजारी प्रारम्भ की। जिसके फलस्वरुप किसानों के पास न तो खाने के लिए अनाज होता था और न ही इतना पैसा कि वह अधिक मूल्य पर अनाज खरीद कर अपना और अपने परिवार का पेट भर सके। इसी परिस्थितिवश भारत में मानव निर्मित अकाल का माहौल बन गया जहाँ लोग भूखों मरने के लिए विवश कर दिये गये थे। इस भुखमरी के विषय में स्वयं गर्वनर – जनरल की काउंसिल के एक सदस्य **'चार्ल्स इलियट'** ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि - **"मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं**

[45] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) , विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.56-57

है कि आधी कृषि जनसंख्या को एक साल के अंत में से दूसरे साल के अंत तक यह पता नहीं होता कि पेट भर खाना कैसा होता है।"[46]

भुखमरी

ब्रिटिश नीति एवं मानव निर्मित अकाल ने भारतीय जनता को भुखमरी की कगार पर लाकर खड़ा कर दिया था। इस भुखमरी का एक मार्मिक चित्रण **विजन भट्टाचार्य** ने अपने नाटक '**नवान्न**' में किया है। जब भूख से मरते लोग केकड़ा खाने को मजबूर है। माखन (छोटा बच्चा) अपनी चाची विनोदनी से कहता है -

" माखन : रोज- रोज वही रतालू के छिलकों का रसा और उबला- उबला जाने क्या आज

मैं वह किसी तरह न खाऊँगा।

विनोदनी : ओ-ओ –ओ नहीं खायै तो मत खा। मुझे क्या ले आ न कोई अच्छी चीज

ढूँढ के।

(फटे कपड़े पहने प्रधान का प्रवेश। एक पैर कीचड़ में सना है। हाथों में छोटे –छोटे केंकड़े हैं)

प्रधान : (हँसकर) अच्छी चीज ढूँढ कै लाना कोई आसान काम है (झोली के केकड़ों को

हिलाते हुए) जो थोड़े से ही कित्ती मुश्किल से मिले। लाना तो जरा कोई बासन

भांडा।ओफ हाथ – पैर, बदन भर में खुजली। सड़ी हुई कीचड़। (हँसते- हँसते)

नोन – मिरच के साथ खूब अच्छी तरह तल कै ...माखन को भी देना , बहू

। दो – चार।"[47]

इतना ही नहीं इसी नाटक में भुखमरी का एक चित्रण अत्यन्त हृद्वय विदारक है। जहाँ नाटक का मुख्य पात्र प्रधान समाद्दार और उसका भतीजा कुंज तथा कुंज की पत्नी राधिका गाँव में अपनी जमीन जायदाद सब खोने के बाद भोजन की तलाश में शहर पहुँच चुके हैं। शहर में जहाँ कहीं भी उन्हे भोजन

[46] विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, नया संस्करण,2020 , पृ.189

[47] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) , विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 37-38

मिलने की सूचना प्राप्त होती है, वे सभी लोग भूखे पेट कई – कई किलोमीटर पैदल चलकर वहाँ पहुँच जाते हैं। ऐसे ही शहर में किसी रईस के घर पार्टी की खबर पाकर वहां जूठन पाने की आशा में कुंज, राधिका और प्रधान वहां पहुंच जाते हैं। इसी स्थान का चित्रण करते हुए **विजन भट्टाचार्य** ने अकाल से उत्पन्न भुखमरी को जीवंत रुप दे दिया है। उन्होने लिखा है – " **मंच की बाँयी ओर एक कोने में एक अर्धवृत्ताकार कूड़ादान अस्पष्ट सा दिखाई पड़ रहा है। कुंज और राधिका कूड़ेदान में पड़ी पत्तलों के ढेर में से कुरेद – कुरेद कर खाने का समान ढूँढ रहे हैं। किन्तु धुँधली रोशनी में से साफ नहीं दिखाई पड़ते। कूड़ेदान के आस-पास क्षुब्ध कुत्तों की गों-गों आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। प्रधान थोड़ा साफ दिखाई पड़ता है। वह फाटक के कुछ दूर खड़ा कोठी की ओर हाथ बढ़ाये दो कौर भात के लिए कातर स्वर में प्रार्थना कर रहा है। कुछ देर बाद राधिका भी साफ दिखाई पड़ने लगती है। उसके मुख पर भी दो कौर भात के लिए कातर प्रार्थना का भाव स्पष्ट है। अचानक कूड़ादान के पास ही एक कुत्ता ज़ोर से गुर्राता है। साथ ही साथ कुंज भी चीख पड़ता है भयंकर क्रोध से। कुछ ही देर बाद दिखाई पड़ता है कि घायल हाथ उठाये कुंज आगे बढ़ा आ रहा है। घायल हाथ से बूँद – बूँद कर खून मिट्टी के ऊपर गिरता है।**"[48]

यह चित्रण अत्यन्त मार्मिक इसलिए भी हो जाता है कि प्राय: पत्तल का जूठन कुत्ते या अन्य जानवर ही खाते है लेकिन इस अकाल के कारण भूख से मरते लोग और जानवर आज एक ही स्थिति में आ पहुँचे हैं। पत्तल का जूठन खाने के लिए ही कुत्ता और कुंज में छीना- झपटी हो गई जिसमें कुत्ता ने कुंज के हाथों में काट लिया।

भुखमरी से बेहाल किसानों का भोजन की तलाश में शहर की ओर पलायन

मानव निर्मित अकाल से उत्पन्न इस भुखमरी ने किसानों को इतना बेहाल कर दिया कि वे केकड़ा और घास फूस खाने को विवश हो गये थे लेकिन एक वक्त ऐसा भी आया कि उन्हे केकड़ा भी मिलना मुश्किल हो गया। तब तो मजबूरी वश भोजन की तलाश में शहर की ओर पलायन करने लगे। किसानों को यह उम्मीद थी कि शहर में बड़े और रईस लोग मुफ्त में गरीबों को खाना देते हैं। इसी आशा के साथ किसान शहर के लिए प्रस्थान करते हैं। पलायन का ऐसा ही एक चित्रण **विजन भट्टाचार्य** के **'जबानबंदी' (अन्तिम अभिलाषा)** नाटक में भी देखने को मिलता है। जहाँ गाँव में रहने वाले अधिकांश किसान परिवार अपनी जन्मभूमि को छोड़कर सिर्फ भोजन की तलाश में शहर की ओर पलायन कर रहे हैं।

[48] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.66

"**पदा** : इतनी दूर चलना है। सबेरे ही चल पड़ना अच्छा होगा। नहीं तो अभी फिर धूप हो जायेगी। सारे रास्ते भर पैर झुलस – झुलस जाएँगे। सहर क्या पास ही रक्खा है ? और फिर पहुँचते ही तो बाबू लोग खिचड़ी दे नहीं देंगे ! कोशिश करके, दौड़ –धूप करके मिलेगी कि नहीं ?

: दौड़ – धूप कैसी ठीक बखत पर नहीं पहुँचने से एक दाना भी नहीं मिलने का। हाँ। सब टैम बँधा हुआ है।

पदा : नहीं टैम की क्या है एक जगह चूका तो दूसरी जगह मिल जाएगा। (कुछ आत्मविश्वास के साथ) वहाँ तुम्हे भूखे पेट नहीं रहना होगा।"[49]

न चाहते हुए भी अपनी जन्मभूमि को छोड़ने और शहर की ओर पलायन करने का एक दृश्य 'नवान्न' नाटक में भी दृष्ट्व्य होता है। जब दयाल, प्रधान और कुंज के पास अपने परिवार का पेट भरने के लिए कुछ भी नहीं रहता। तब प्रधान, दयाल से कहता है –

"प्रधान : पर खाली आसा से ही तो पेट नहीं भर जाएगा, दयाल। कुछ न कुछ इन्तजाम तो करना ही होगा।

दयाल : बोलो , क्या बंदोबस्त करोगे **?** मैं हर बात में राजी हूँ।

प्रधान : चलो , चलें यहाँ से।

दयाल : कहाँ **?**

प्रधान : क्यों, शहर में। वहाँ पर बाबू लोगों ने सदाबरत खोल दिये हैं।

कुंज : छोड़ो, तुम्हारे बाबू लोगों की कहानी और नहीं सुननी हमें। जिसके लिए चोरी करो , वही कहै चोर।

प्रधान : भले आदमियों को गाली दे रहे हो। पर इनके सिवाय अब और कोई चारा भी

[49] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.129

नहीं हमारे लिए। जो भी हो, घूम –फिर कै तुम्हे जाना होगा उनके ही दरवाजे।

और कोई चारा नहीं।"[50]

भारतीय किसानों की इतनी दयनीय स्थिति के जिम्मेदार सिर्फ ब्रिटिश ही नहीं थे बल्कि उनके साथ चंद संवेदनहीन भारतीय व्यापारी और साहूकार भी थे। जो अपने ही लोगों को भूखों मार रहे थे। अपने व्यापार में अधिक लाभ कमाने के चक्कर में उनके अंदर की मानवता समाप्त हो चुकी थी। एक ब्रिटिश थे जो अपने देश भाईयों को भारत बुलाकर उन्हे धन कमाने का अवसर प्रदान कर रहे थे और एक भारतीय थे, जो अपने ही देश भाईयों को भूख से मार रहे थे।

स्वार्थपरकता का जन्म

भुखमरी के कारण लोग मजबूरीवश स्वार्थी होते जा रहे हैं। जो लोग गाँव में रहते हुए कभी अपने पड़ोसियों को भी भूखा नहीं सोने देते थे, आज वहीं लोग अपने ही परिवार के सदस्यों के बारें में नही सोच रहे हैं। भूख से बेहाल लोग शहर में थोड़ा सा भोजन पाते ही सर्वप्रथम अपनी भूख शान्त करने में लग जाते हैं। भोजन के समक्ष वो अपने पति, बच्चे और नाती – पोते को भी नजरअंदाज कर देते हैं। ऐसा नहीं कि उन्हे अपने लोगों से प्रेम नहीं अपितु भूख ने उन्हे पशु के समान व्यवहार करने पर विवश कर दिया है। इसका एक चित्रण '**अन्तिम अभिलाषा**' नाटक में देखने को मिलता है - जहाँ नाटक के मुख्य पात्र परान मंडल की पत्नी, अपने बूढ़े पति परान और पोते मानिक को पीठ दिखाकर पूरी खिचड़ी खा जाती है – जैसाकि दृष्ट्व्य है -

"बैंदा की माँ कुछ चकित दृष्टि से बूढ़े परान और बैंदा की स्त्री की ओर देखकर फिर घूमकर बैठ जाती है और खिचड़ी की हाँडी सामने रखकर जल्दी – जल्दी खाना शुरु कर देती है। हाँड़ी शीघ्र ही खाली हो जाती है। पीछे आकर मानिक थोड़ी सी खिचड़ी के लिए ठुनकने लगता है, पर बैंदा की माँ उसकी ओर घूम कर भी नहीं देखती। वह दूसरी ओर मुख फिराकर जल्दी – जल्दी खिचड़ी निगलती जाती है। बैंदा की माँ जैसे दिनोंदिन पशु के समान स्वार्थपरक होती जा रही थी।"[51]

[50] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013 , पृ. 32-33

[51] वही पृ.134

आत्महत्या

अकाल के कारण भूख से तड़पते हुए लोग अपनी भुखमरी से छुटकारा पाने हेतु आत्महत्या करने को विवश हो रहे थे। जैसाकि अन्तिम अभिलाषा नाटक में विजन भट्टाचार्य ने दर्शाया है – नाटक का मुख्य पात्र **परान** किसी के रोने की आवाज सुनकर अपने बेटे पदा और बैंदा से पूछता है –

"बूढ़ा परान : इतने सबेरे यह रो कौन रहा है ? सुन रहा है रे पदा ?

पदा : सुन तो रहा हूँ।

बूढ़ा परान : कौन है वह ? …मालूम है रे बैंदा?

पदा : अरे वही है .... गैंदू की माँ।

बूढ़ा परान : गैंदू की माँ ? गैंदू तो आज एक हफ्ता हुआ गले में रस्सी की फाँसी

लगा कर मर गया क्या गैंदू की माँ अभी तक गैंदू को नहीं भूल पायी ?"[52]

यह किसी भी माँ – बाप के लिए कितना दर्दनाक और असहनीय हो जाता है कि उसके सामने ही उसका जवान बेटा मौत को गले लगा ले। लेकिन क्या करे गैंदू हालात के आगे झुक गया।

भीख माँगने की विवशता

अकाल के कारण भोजन की तलाश में गाँव से शहर आये वृद्ध किसान, जो कई किलोमीटर तक पैदल चलने में असमर्थ थे , वो एक स्थान पर बैठकर भीख माँगने को विवश हो गये थे। जैसाकि '**अन्तिम अभिलाषा**' नाटक में दृष्टव्य है –

(परान पेशेवर भिखारी नहीं है। हाथ फैलाकर भीख माँगने में उसे जाने कैसा एक संकोच अनुभव होता है।)

"बूढ़ा परान :(एक रास्ता चलते भद्रलोक से) बाबू जी, साब इधर भी गरीब की कुछ

सुनेंगे ?

भद्रलोक : (विरक्ति के स्वर में) क्या है ?

[52] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) , विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.128

बूढ़ा परान : मेरा मतलब है जी..... क्या इस अधम के ऊपर श्रीमान कृपादृष्टि करने का अनुग्रह करेंगे ?

भद्रलोक : हूँ, तुम तो बड़ी बढ़िया भाषा बोल रहे हो जी। तुम्हारा घर कहाँ है

बूढ़ा परान : वह कहानी तो श्रीमान बहुत लम्बी है। हम लोग, बाबूजी, किसान हैं। हल चलाकर खाने की आदत है। हमारे चौदह पुरखों में से किसी ने भी कभी भीख नहीं माँगी श्रीमान ! पर हमारे पास जमा – जमीन जो कुछ थी वह सब बरबाद हो गयी। उसके बाद .... बाल बच्चों का साथ है सो भूखों मरने की नौबत आ गयी। इसलिए सहर में चले आये। सोचा कि वहाँ बाबूजी लोगों के रहते भूखों तो न मरना होगा कम से कम। दो कौर भात किसी न किसी तरह मिल ही जायेगा।"[53]

स्त्रियों की खरीद परोख्त एवं वेश्यावृत्ति

कहा जाता है कि पेट की आग नैतिक – अनैतिक, उचित – अनुचित कुछ भी नहीं देखती। मानव निर्मित इस अकाल ने लोगों को इतना विवश कर दिया कि वो अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए, चंद रुपयों के खातिर अपने घर की स्त्रियों को बेचना प्रारम्भ कर दिये। एक पिता जो बेटी का पालक और रक्षक कहलाता है, आज अकाल के इस दौर में न चाहते हुए भी उसे अपनी ही बेटी को बेचना पड़ रहा है। जिसका एक उदाहरण **'नवान्न'** नाटक में देखने को मिलता है। यहां **चन्दर** नामक एक किसान पात्र चंद रुपयों के खातिर अपने गाँव के मुखिया **हारुदत्त** के हाथों अपनी बेटी को बेच देता है और हारुदत्त खरीदी हुई सभी महिलाओं को शहर के रईसजादों के पास भेज देता है। उस लाचार पिता की इस मनोस्थिति का चित्रण नाटककार विजन भट्टाचार्य ने कुछ इस प्रकार किया है –

[53] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.132-133

"**हारुदत्त** : चन्दर, अभी भी बहुत है जानने – सुनने को इस दुनिया में.... तो लो, आओ, अब अँगूठा निशानी लगा जाओ, आओ आओ।

चन्दर : फिर निशानी लगानी पड़ेगी ?

हारुदत्त : बाप रे बाप.... लगानी नहीं पड़ेगी ?आदमी की बात का, जानते हो चन्दर, कोई दाम नहीं। बिल्कुल कोई दाम नहीं... बात अभी कही और खतम। नहीं ? जो कुछ करना है सब लिखा – पढ़ी से। एक बार लिखा –पढ़ी हो गयी तो सदा के लिए एक वह हो गया। तो लो, आओ – आओ

(चन्दर उठकर आता है और हारुदत्त के सामने रखे हुए कागज पर अँगूठे की निशानी लगाता है।)

हारुदत्त : दबा के अँगूठा। हाँ, ये:। ....रहने दो ठीक है। उससे कुछ नहीं आता – जाता (निशानी लगा कागज उठाकर देखता है) लो लगा दिया...बस खतम।

चन्दर (आवेगपूर्वक) बाबा, देखना मेरी लड़की कहीं.....

(चन्दर का गला रुँध जाता है)

हारुदत्त : कुछ कहने की जरुरत नहीं। वह जिम्मेदारी जब मैनें ली है तो.....

चन्दर : नहीं वही कहूँ हूँ , बाबा। तीन बरस की उमर में माँ मर गयी, उसके बाद से, एक तरह से अपने ही हाथों से ....। (आँखें पोंछता है) पर अब कुछ नहीं रहा गरब करने को।(रो पड़ता है)

हारुदत्त : नौकर से। अरे , घाट पर नाव आ गयी ?

नौकर : नाव लाने गया था , बाबू ,घाट पर।

हारुदत्त : (नौकर जाता है। हारुदत्त हुक्का हाथ में लेकर औरतों से) तो चलो आगे, चलो आगे तुम सब आस्ते – आस्ते। ले जा ललिया की माँ , इन सब को।(स्त्रियाँ जाती हैं) तो

फिर, चन्दर, क्या नाम है .... (टेंट में से नोट निकालकर गिन कर देते हुए) लो रक्खों –

(दुविधा और द्वन्द्व से भरा हुआ चन्दर कुंठित हाथों से रुपये लेता है) अभी यही लो।

उसके बाद चक्कर मार आऊँ मैं जरा ....फिर देखो जो हो .....

चन्दर : बेटी बेच दी मैनें , माती को मैंने बेच डाला। (रो पड़ता है) माती, मेरी बेटी मातांगिनी ..।"[54]

इतना ही नहीं अकाल के इस दौर में पेट की आग को शान्त करने के लिए ,महिलाओं को न सिर्फ उनके परिवार के पुरुष सदस्यों द्वारा बेचा गया अपितु महिलाएँ स्वयं विवश होकर वेश्यावृत्ति में संलिप्त हो गई। जिसकी झलक **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित **'पैसा'** नाटक में देखने को मिलता है। जहाँ **किशोर** नामक पात्र अपने मित्र **शान्तिलाल** को समझाता हुआ कहता है कि – तुम उस लालची व्यापारी **कालिदास** के बहकावे में आकर गलत मार्ग पर मत चलो। उसका परिणाम हमेशा बुरा होगा। ये व्यापारी लोग हमेशा से लोगों को परेशान करते चले आये हैं। बंगाल के अकाल का एक कारण भारतीय व्यापारियों को मानते हुए आगे किशोर कहता है कि -

"किशोर : जानते हो – बंगाल के अकाल का कारण क्या था? उस शस्य श्यामला धरती को विराट श्मशान के रुप में किसने बदला? उसी कालिदास और उस जैसे कई अनाज चोरों ने। शान्तिलाल जी ! भूख की दारुण ज्वाला में तीस लाख मनुष्यों का जीवन भुन कर रह गया, बीस हजार कुंवारियों को बहू बाजार में वेश्या बनकर बैठना पड़ा, किन्तु वह पिचाश प्रसन्नता पूर्वक देखते रहे।"

यदि यह कहा जाये कि इस अकाल से महिलाओं को दोहरी मार झेलनी पड़ रही थी तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा। क्योंकि अकाल के कारण एक ओर जहाँ महिलाएँ भूख से तड़प रही थी और दर – दर की ठोकरे खाते हुए भिखारिन की तरह भोजन मांग रही थी , वहीं दूसरी ओर उनका शरीर बेचा जा रहा था। कभी परिवार के पुरुषों द्वारा तो कभी बाहरी पुरुषों द्वारा। लेकिन उस समय इंसानियत की सारी हदें पार हो

[54] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) , बिजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.73-74

गई जब महिलाएँ शहरों में भोजन की तलाश में भटकती रहती थी और रईसों के दलाल युवा महिलाओं को बहला – फुसला कर कभी – कभी डर दिखला कर भोजन दिलवाने के नाम पर उन्हे रईसों के कोठे पर छोड़ आते थे। जहाँ उनके साथ शारीरिक शोषण किया जाता था। ऐसा ही एक दृश्य **'नवान्न'** नाटक में भी दिखलाई पड़ता है। जब प्रधान, कुंज, राधिका औऱ विनोदनी शहर में खाने की भीख मांग रहे थे। तभी एक दिन ऐसा हुआ कि अचानक यह खबर मिली कि आज खिचड़ी **बाजार खोला** नामक स्थान पर मिलेगी तो सभी भिखारी जल्दी – जल्दी वहाँ पहुँचने के चक्कर में अपने स्थान से भागने लगे। प्रधान, कुंज और राधिका भी सबके साथ चले गये औऱ किसी ने विनोदनी का ध्यान नहीं दिया क्योंकि उस समय विनोदनी आस पास किसी स्थान पर भीख मांगने निकल गई थी और जब वापिस आयी तो उस स्थान पर किसी को न पाकर बहुत परेशान हो गई। तभी उसकी नजर उस दलाल पर पड़ी तो उसने दलाल से पूछा- बाबूजी यहाँ के सब लोग किधर गये ? तो दलाल ने कहा यह बता पाना मुश्किल है कि सब किधर गये? फिर विनोदनी ने करुण भाव से कहा – बाबूजी , अब मैं क्या करुँ ? जरा आप पता लगा दीजिए, माई – बाप। उसके इसी मजबूरी का फायदा उठाते हुए दलाल ने उससे कहा कि –

"दलाल: पता अब मैं कहाँ लगाऊँ चट से ? कितने ही लोग तो आये हैं शहर में। अच्छा देखो - तुम्हारे लिए जो कर सकता हूँ , बताता हूँ। देखों यहाँ मेरी जान पहचान के एक भले आदमी का मकान है। कह सुन कर शायद वहाँ मैं तुम्हारे रहने खाने का बन्दोबस्त करवा सकता हूँ। ये ही थोड़ा – बहुत घर – गिरस्ती का कामकाज, बदले में खाना। रहने खाने की तुम्हे वहाँ कोई तकलीफ़ न होगी। पर बड़े आदमी हैं। रुपया पैसा बहुत है पास में। बीच – बीच में थोडा बहुत कुछ कहें शायद। यह चाहिए वह चाहिए। बस इसके सिवाय एकदम सोना आदमी है। मन लगाकर रहीं तो फिर तुम्हारे एकदम.... तो चलो, आओ,आओ।" [55]

अन्तत: यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश नीतियों के परिणामस्वरुप भारत की अर्थव्यस्था पूर्णत: ब्रिटिश हितैषी हो गई थी। भारत, ब्रिटिश उत्पादों के लिए प्रमुख बाजार, कच्चे माल और खाद्यान्नों का प्रमुख स्रोत बन गया तथा ब्रिटिश पूँजी के निवेश के लिए महत्वपूर्ण एवं सुरक्षित क्षेत्र बन गया। भारत की कृषि को साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल बना दिया गया। इसी अनुकूलता के परिणामस्वरुप देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। जिससे भुखमरी के कारण लाखों की संख्या में लोगों की जान चली गई। महिलाओं के शरीर का भी व्यापार किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय ब्रिटिश भारत के संसाधनों का

[55] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक) विजन भट्टाचार्य के दो नाटक , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.65

प्रयोग कर ब्रिटेन को विश्व के विकसित औऱ पूँजीवादी देश के रुप में उभार रहा था। उस समय भारत अपने समृद्धि और सम्पन्नता से दूर होते हुए विश्व का औपनिवेशिक और पिछड़ा देश बनता जा रहा था।

(1.2) सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र पर औपनिवेशिक स्थिति का प्रभाव

अठारहवीं सदी के मध्य में जब ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुई तो वहाँ पर निर्मित वस्तुओं को बेचने के लिए ब्रिटिशों ने भारत को एक बड़े बाजार के रुप में देखा। इतिहास गवाह है कि ब्रिटिशों ने हमेशा अपने आर्थिक हितों को ही सर्वोपरि रखा और इसी आर्थिक हित के तहत उसने भारतीय बाजार को अपने वस्तुओं के अनुकूल बनाने के लिए सर्वप्रथम **भारतीय समाज को आधुनिक बनाने की आवश्यकता महसूस की**। इसी आवश्यकता के मद्देनजर ब्रिटिशों ने भारतीय समाज और संस्कृति के रुपांतरण के लिए सक्रिय कदम उठाए। जिसके तहत ब्रिटिश, भारतीय जमींदारों या अन्य कुलीन वर्ग के लोगों को अपने देश मे निर्मित वस्तुओं को उपहार के तौर पर दिया करते थे ताकि यहां की जनता में धीरे – धीरे ब्रिटेन निर्मित वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो सके और अंतत: भारतीय जनता स्वयं इन वस्तुओं की इतनी आदी हो जाये कि उसे खरीद कर उपयोग करना प्रारम्भ कर दे। ब्रिटिशों के इसी मंशा को **'दीवार'** नाटक में सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। जब विदेशी महिला अपने देश भाईयों से भारतीय संस्कृति और ब्रिटिश संस्कृति की तुलना करते हुए उन्हे उपहार देने के उद्देय के विषय में बताती है –

"विदेशी महिला: इन चीजों के देने से फ़ायदा क्या होगा! इनके तमद्दन में गहराई है , बुलन्दी है। हमारी तहज़ीब में भड़क है, नुमायश है। इनके फ़लसफे में बुढ़ापे की अज़मत है , हमारे ख्यालात में जवानी का लोच। खण्डर कितने ही अज़ीम क्यों न हो, उनमे एक नई इमारत का तन्व कहाँ ? समुन्दर में गोते लगाकर मोती ढूँढ़ने से बाग़ में तितलियाँ पकड़ना कहीं ज्यादा आसान है। इन चीजों के देने से यह होगा कि यह लोग मोतियों की आब भूलकर तितलियों के पर पकड़ने दौड़ेंगे। बस फिर क्या है , यह लोग हमारी उंगलियों पर नाचेंगे। यह अपनी ज़िन्दगी के अन्दाज़ भूल जायेंगे। इनके जिस्म पर हमारा लिबास होगा , इनके मुंह में हमारी ज़बान , इनके दिमाग़ पर हमारा ग़ल्बा होगा , और इनके पांव में हमारी जंजीरें।"[56]

भारतीय समाज को पाश्चात्य संस्कृति में रंगने के उद्देश्य से ही ब्रिटिशों ने यहाँ पर चाय पीने की संस्कृति को विकसित किया। इसके साथ ही साथ अंग्रेजी शिक्षा , पाश्चात्य वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान

[56] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द , दीवार , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.36

इत्यादि को प्रोत्साहित किया। इनके इसी प्रोत्साहन का एक उदाहरण **'दीवार'** नाटक में भी देखने को मिलता है। जब विदेशी महिला अपने देश भाईयों के साथ मिलकर जागीर के मालिक सुरेश को पाश्चात्य वस्तुओं जैसे – हैट, ब्रिचेज़, चाय के प्लेट और प्याला, ऑरगन बाजा इत्यादि से परिचित कराती हुई कहती है –

"विदेशी औरत : आपके लिए चन्द नाचीज़ तोहफ़े लाई हूँ, इन्हे कबूल फरमा कर हमें इज्ज़त बख्शिये।

सुरेश : (हैट को छड़ी पर उठाते हुए) अरे यह क्या है ?

वि. आदमी : सर पर पहनने की टोपी है सरकार।

सुरेश : अच्छा खासा छाता है, जरा पहनिये (विदेशी 2 हैट पहनता है) अरे आप तो छिप गये। (विदेशी 2 हैट ऊपर सरकाता है) हाँ, अब नज़र आये। (विदेशी 2 हैट उतार कर रखता है) पहने रहिये, पहने रहिये, कोई बात नहीं।

वि. आदमी 2 : नहीं सरकार हम इसे कमरे में नहीं पहनते, बाहर जाते है तो पहनते हैं।

सुरेश : विचित्र बात है। (अपने गमछा को बताकर) हम तो घर में पहनें, बाहर पहनें और सोते समय तकिया बना लें।

वि. आदमी 2 : अपने अपने आदाब हैं सरकार

सुरेश : क्या मैं देख सकता हूँ ?

वि. आदमी 2 : जरुर जरुर (हैट पेश करता है)

सुरेश : (हैट को गौर से बाहर – भीतर देखता है) वाह फूल जैसा हल्का है, फूंक दूँ वहाँ जा गिरे, लेकिन है सुन्दर।"[57]

[57] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952 पृ.37

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार ब्रिटिश, ब्रिटेन निर्मित वस्तुओं से भारतीयों को आकर्षित करने का प्रयास करते थे। जिसमे वे अन्तत: सफल भी हो जाते हैं । ऐसा ही एक और वाक़या '**दीवार**' नाटक में है जब विदेशी महिला भारतीय समाज में चाय पीने की संस्कृति को विकसित करने के उद्देश्य से चाय पीने का बर्तन प्लेट और प्याला जागीरदार सुरेश को भेंट करती हुई कहती है –

"विदेशी महिला : यह बर्तन हैं सरकार ! हमारे देश के बर्तन, जरा इनकी नफ़ासत मुलाहिज़ा फ़रमाइए।

सुरेश : (प्याला और प्लेट हाथ में लेकर) वाह देवी ! तुम्हारे देश की हर चीज सुन्दर है। (प्लेट में अपना अक्स देखकर) वाह! वाह !! इसमे तो मुंह दिखे है। (फिर विदेशी औरत से कहता है) इसमे हम खायेंगे क्या ? इतना तैल तो हम कान में डाल लें।

वि. आदमी 1 : इसमे हम आपको चाय पिलायेंगे हुजूर।

वि. आदमी 2 : चाय, Tea, Tea चाय (सुरेश कुछ नहीं समझ रहा)।"[58]

कहने का तात्पर्य यह कि ब्रिटिशों के उपर्युक्त प्रयासों के परिणामस्वरुप धीरे- धीरे भारतीय समाज भी उससे प्रभावित होने लगा। यह प्रभाव सकरात्मक और नकरात्मक दोनों प्रकार का था। भारतीय जनता अपनी संस्कृति की अपेक्षा पाश्चात्य संस्कृति को अधिक महत्व देने लगी। जिसके कारण भारतीय समाज में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। जो निम्नलिखित है –

पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आकर्षण

ब्रिटिशों ने अपने आर्थिक हित के लिए भारतीय समाज को आधुनिक बनाने के उद्देश्य से जो भी नीतिगत प्रयास किये, उसमे वो काफी हद तक सफल भी रहे क्योंकि अब धीरे –धीरे भारतीय समाज परिवर्तित होने लगा था। उन पर पाश्चात्य संस्कृति हावी होने लगी थी। अब अधिकांशत: भारत के लोग, शरीर से तो भारतीय होते थे परन्तु उनकी वेष – भूषा, रहन-सहन, खान-पान, बोली-भाषा इत्यादि सब

[58] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.40

अंग्रेजो की भांति हो गया। यहाँ तक कि कुलीन भारतीय लोग अपने घर की सजावट भी पाश्चात्य शैली के अनुसार करने लगे। जिसका एक दृश्य '**दीवार**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जहाँ सुरेश का नौकर रामू कोट, पतलून, हैट पहने हुए, विलायती ढंग से सजे मकान मे रखे हुए चीजों को साफ करता हुआ गाता है –

"हम बाबू नये निराले हैं, हम बाबू नये निराले हैं।

अब रंग नये, अब ढंग नये, अब यह संसार नया अपना।

घर की सारी रंगत बदली, अपनी भी सब संगत बदली।

अब महल नया, अब गली नई, अब बदल गई पोशाक।

देख लो बदल गई खुराक, लूटिया की जगह अब प्यालें हैं।

हम गिटपिट बोलने वाले हैं , हम बाबू .....

मालिक बदला, नौकर बदला, बदल गया घर बार।"[59]

अब स्थिति यह हो गई है कि भारतीय समाज ब्रिटिश संस्कृति को श्रेष्ठ समझने लगा है और अपने ही संस्कृति को हेयदृष्टि से देखने लगा। भारतीय समाज के एक वर्ग द्वारा पूर्णत: पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करने के कारण उन्हे अपने ही भारतीय लोगों के वेषभूषा से आपत्ति होने लगी। जब कोई भारतीय परम्परा के अनुसार वस्त्रों को धारण किया रहता तो वही लोग उन्हे हेयदृष्टि से देखते, जो स्वयं कभी उसका गुणगान करते थे। ऐसा ही एक उदाहरण '**दीवार**' नाटक में है जब सुरेश का नौकर कन्हैया उससे आकर कहता है –

कन्हैया : (अन्दर आकर) सरकार गाड़ी तैयार है।

सुरेश : (उसकी पुरानी पोशाक को देखकर) यह क्या है और यह भैंस की तरह पांव में क्या डाल रखा है **?** ऐसा नहीं मांगता। (रामू की तरफ इशारा करके) ऐसा मांगता है। (विदेशी 1 से) इसके लिए कपड़े नहीं बनवाये गये **?**

[59] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.44

वि. आदमी : बनवाये हैं सरकार ! लेकिन यह पहनने से इंकार करता है।

सुरेश : (कन्हैया से) क्यों ?

कन्हैया : सरकार ! एक दिन मैं पहन कर गया था, मेरा छोटा बेटा बिलीया है न, इतना डर गया कि तीन दिन बुखार हो गया।

सुरेश : बिलीया बीमार हो गया ! (नाराज़ होकर) गेट आऊट।

(कन्हैया सहम कर बाहर निकल जाता है)"[60]

यह भारतीय समाज के लिए दुर्भाग्य की बात है कि एक भारतीय को अपना ही पारम्परिक वस्त्र देखना पसंद नहीं। कहीं न कहीं यह पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय समाज पर एक नकरात्मक प्रभाव था कि उन्हे पाश्चात्य वस्त्रों के आगे अपने ही पारम्परिक वस्त्र तुच्छ प्रतीत होते थे।

अंग्रेजी वेषभूषा के प्रति भारतीयों के आकर्षण का ऐसा ही एक चित्रण '**पठान**' नाटक में देखने को मिलता है। जब गढ़ी का मुखिया **शेरखान**, शहर से भाग कर आये **चिराग़दीन** को पनाह देते हुए अपने गढ़ी के बच्चों को पढ़ाने का कार्य सौंपता हुआ कहता है कि देखना हमारे गढ़ी के बच्चों को ऐसी तालीम मत देना कि हमारे बच्चे भी दूसरे गढ़ी के बच्चों की भाँति अपने वेषभूषा को ही भूल जाये। शेरखान चिराग़दीन को अपने पड़ोसी इलाके के बच्चों के बदले हुए वेशभूषा के बारें मे बताते हुए कहता है कि –

"शेरख़ान : ओइ पठान बच्चा, यह क़द, यह बुत – न सिर पर लुंगी, न बदन पर कुर्ता, न शलवार, न चप्पल – कुछ और ही कपड़ा पहनता है , दुमकटा कपड़ा। ओ, और गले में तावीज़ की जगह एक पट्टा डालता है , पट्टा।

चिराग़दीन : नेकटाई , ख़ान साहब !

दीवान : लकटाई, मेरे खान , लकटाई।

शेरख़ान : कौन जानता है क्या बला है यह – लकटाई – फक्टाई।"[61]

---

[60] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.49

[61] लालचन्द्र बिस्मिल, पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,1974, पृ.50

भारतीय समाज पर न सिर्फ अंग्रेजी वेशभूषा और रहन – सहन का प्रभाव पड़ रहा था बल्कि भारतीयों की पूरी की पूरी दैनिक जीवनशैली ही बदल जा रही थी। भारतीय कुलीन वर्ग की महिलाएँ पूरी तरह से ब्रिटिश महिलाओं का अनुकरण कर रही थी। जिसका एक दृश्य '**पैसा**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जब **शान्तिलाल** और उनकी पत्नी **सुशीला** आपस में बात करते रहते हैं तो शान्तिलाल कहता है –

"शान्तिलाल : बी. ए. मैट्रिक तो सब पास थीं ,पर भारतीय सभ्यता की नहीं , यूरोपीय फ़ैशन की जिसमें वह सीखती हैं।

सुशीला : क्या ?

शान्तिलाल : (ऐक्शन से) यह ही कि सवेरे नौ बजे आँखे मलती उठना , फिर नौकर के हाथों चाय पीकर लेट जाना और अखबार, जिसमे हेड लाइन्स पढ़ना और पढ़ना कि कौन सी फिल्म कहाँ चल रही है, या किसकी बेटी का ब्याह किसके साथ होने वाला है , या किसकी बीबी किसके साथ भाग गई। फिर दो एक अगड़ाई लेकर उठना और कंघी , शीशा, हेयर कर्लिंग और ड्रेसिंग में दो – तीन घंटे बिताना। फिर दिन भर सहेलियों से गपशप, ताश, रमी के साथ फ़ोन पर हेलो मिस़ेज गणपति, हेलो मिसेज़ माथुर फिर इसके पश्चात् सिनेमा, डिनर पार्टी या क्लब में पराये मर्दों के साथ हाथ में हाथ डाल कर नाचना, लल, लल,ला ला।"[62]

भारतीय समाज में किसी महिला की कल्पना उपर्युक्त रुप में की ही नहीं जा सकती है। यहां तो महिलाओं के दिनचर्या की तस्वीर कुछ ऐसी कल्पित की जाती है। जिसमें महिलाएँ सूर्योदय के पूर्व जगती है। फिर नहा धोकर घर के कामों में लग जाती है। खाना बनाना, बच्चे पालना और वृद्धों की सेवा करना ही भारतीय महिलाओं का कर्तव्य समझा जाता है। पराये मर्दों के हाथ में हाथ डालकर नाचना तो दूर उनके लिए पराये मर्दों के सामने जाना और उनसे बातें करना ही पाप समझा जाता था। महिलाओं पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ना कहीं न कहीं परम्परा का विरोध करना था।

[62] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर, पैसा , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.14

भारतीय समाज पर अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव -

ब्रिटिशों ने अपने कार्यालयी कार्य को कराने के लिए भारतीय युवकों को अंग्रेजी शिक्षा देना प्रारम्भ किया था क्योंकि यदि ब्रिटिश अपने देश से शिक्षित लोगों को भारत बुलाकर कार्य करवाते तो उन्हे अधिक वेतन देना पड़ता। इसीलिए उन्होने सोचा कि भारतीयों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षित कर कम वेतन में काम करवाना ज्यादा उचित है। लेकिन धीरे –धीरे भारतीय समाज में अंग्रेजी शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ता चला गया। भारतीय जनता अंग्रेजी भाषा को तत्परता के साथ सीखने में लगी थी। जिसका एक उदाहरण '**दीवार**' नाटक में दिखलाई पड़ता है। जहाँ सुरेश विदेशी महिला से अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण करना सीख रहा है। वह विदेशी महिला सुरेश से कहती है कि अपने बूढ़े दीवान को हटाकर किसी और को उस नौकरी पर रख लो। तो सुरेश कहता है कि यदि दीवान को हटा देगें तो उनका घर कैसे चलेगा और उनका परिवार कैसे पलेगा ? इस पर विदेशी औरत सुरेश से कहती है कि –

"वि. औरत : मेरी हरग़िज यह मंशा न थी सरकार कि आप उन्हे बुढ़ापे में तन्हा बे यारों छोड़ दें।

उनको Monthly Expenses दीजिए। उनसे कुछ काम न लीजिए।

(सुरेश अंग्रेजी न समझकर विदेशी औरत का मुंह ताकता रह जाता है)

सुरेश : रमेश से क्या कहे देवी ?

रमेश : महीने का खर्च।

सुरेश: (विदेशी औरत से) ठीक है? (वह हाँ में सिर हिलाती है , सुरेश खुश होकर) अरे मेरे शेर तू तो पढ़ गया। तू बोल ले देवी की भाषा (रमेश हाँ में सिर हिलाता है , सुरेश विदेशी औरत से पूछता है) यह तेरी भाषा बोल ले (विदेशी औरत सिर हिलाती है, रमेश से कहता है) ले भई तेरे मुंह से सुनें, कह दे रे कह दे।

रमेश : (बड़ी कोशिश के साथ होठों को गोल गोल कर के) मोन्थली एपोसेज़।

सुरेश : (जोर से हँसता है) वाह वाह देवी ! तेरी भाषा बड़ी सुन्दर है, कितनी सुन्दर है, होठों को

गोल गोल कर ले मेरे वीर ! (रमेश से) मैं भी बोलूँ ? (रमेश हाँ में सिर हिलाता है) अरे तू क्या जाने, देवी एक बार कहे, बस यूँ बोल।

वि. औरत : मन्थली एक्सपेन्सेज़।

सुरेश : सुरेश भी बोलने का प्रयास करता है ।

वि. औरत (एक एक लफ़्ज स्पष्ट करके) मन्थली एक्सपेन सेज़।

(सुरेश बोलने जाता है , उसका मुंह लाल हो जाता है , शब्द गले में अटकते हैं, बुरी तरह खाँसने लगता है जैसे दम रुक गया है)[63]

भारतीय समाज को अंग्रेजी भाषा सीखने में परेशानियों का सामना तो करना पड़ रहा था परन्तु फिर भी उन्हे इस भाषा के प्रति इतना आकर्षण था कि वह किसी भी हालत में इसे सीख लेना चाहते थे। इस आकर्षण के पीछे समाज का एक उद्देश्य ब्रिटिश शासन में नौकरी पाना रहा होगा तो दूसरा कहीं न कहीं अंग्रेजो की भांति बोलना सीखकर अपने समाज में अपनी इज्जत को और ऊपर उठाना रहा होगा। जिसका परिणाम आज हमारे समक्ष है। **'दीवार'** नाटक में इसका एक उदाहरण दृष्ट्व्य है – जो सुरेश कभी अंग्रेजी के एक शब्द का उच्चारण नहीं कर पा रहा था, बाद में वही सुरेश विदेशियों से उन्ही की भाषा में वार्तालाप करता है। जैसे –

"सुरेश : (ऊपर बाई तरफ से दाखिल होते हुए) रामू क्या शोर हो रहा है, क्या हंगामा है ?(सब को देखकर) You are all here , hello hello. (सब झुक कर सलाम करते हैं, सुरेश कहता जाता है) What is this idiot doing here ?

वि. आदमी : Just playing fool sir.

सुरेश : Oh! Let me play the fool, with mirth and laughter at old wrinkles come. "Good old Shakespeare ."[64]

---

[63] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952 , पृ.23

[64] वही पृ.47

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजी शिक्षा को लेकर भारतीय समाज कहीं न कहीं दो वर्गों में विभाजित हो गया था। एक वर्ग अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन कर रहा था तो दूसरा वर्ग इस शिक्षा को सारे फँसाद की जड़ मानते हुए इसका पुरजोर विरोध कर रहा था। क्योंकि इस वर्ग के लोगों को लगता था कि हमारे बच्चों को साम्प्रदायिकता का पाठ इसी भाषा में पढ़ाया जाता है जिसके कारण हमारे देश में इतने दंगे होने लगे हैं। जैसाकि '**पठान**' नाटक में **शेरख़ान** नवनियुक्त शिक्षक चिराग़दीन को समझाते हुए कह रहा था कि हमारे बच्चों को फिरंगी वाली तालीम मत देना जो उन्हे साम्प्रदायिक बनाता है –

"शेरख़ान : मगर वह तालीम जो वतन का वफ़ादार और हमजिन्सों का ख़िदमतगुज़ार बनाये। जिस तालीम से सनअत चमके, मआशरत रौशन हो औऱ तहजीब को चार चाँद लगा जायँ। जो दिल में एक अच्छा शहरी और नेक हमसाया बनने की तड़प पैदा कर दे, जो हिम्मत को उभारे , हौसले को बढ़ाये और इरादे को बुलन्दी बख्शे। जो यह सबक़ दे कि खुद जियो मगर दूसरों को भी जीने दो। जो हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख को यकमुश्त रखे , उनके दिलों में एक – दूसरे के लिए और वतन के लिए मुहब्बत का जज़्बा कूट – कूट कर भर दे । ..... न कि फिरंगियों वाली वह तालीम देना जो बच्चों से बोलता है – तू हिन्दू है , तू मुसलमान है , तू सिक्ख है।"[65]

यद्यपि भारत में अंग्रेजी शिक्षा को सम्प्रदायिकता का जड़ मानते हुए एक वर्ग इसका विरोध कर रहा था परन्तु दूसरा वर्ग इस भाषा का पुरजोर समर्थन भी कर रहा था। बहरहाल अंग्रेजी शिक्षा को लेकर ब्रिटिशों का उद्देश्य कुछ भी रहा हो लेकिन भारतीय समाज के लिए यह बहुत अच्छा साबित हुआ। क्योंकि इस भाषा को सीखने के बाद यहां के लोग विज्ञान , पाश्चात्य दर्शन एवं विचारों से भी परिचित होने लगे।

भारतीय समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म

यह अंग्रेजी शिक्षा और जनसंचार की ही देन थी कि भारतीय समाज, बाह्य आडम्बर और कुरीतियों से परे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने में समर्थ हुआ। यद्यपि ब्रिटिशों ने अपने आर्थिक हितों के लिए अंग्रेजी भाषा में शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया परन्तु भारतीय समाज के लिए यह सकरात्मक सिद्ध हो गया। अब भारतीय युवक अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने के बाद पाश्चात्य विचारकों के विचार से , उनके विज्ञान इत्यादि से परिचित होने लगे। इसी परिचय ने उनके अंदर भी यह दृष्टिकोण उत्पन्न किया कि विज्ञान को ही

[65]लालचन्द्र बिस्मिल , पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,1974, पृ.47- 48-52

माध्यम बनाकर हम अपना और अपने देश का विकास कर सकते हैं। जैसाकि एक चित्रण **'दीवार'** नाटक में भी देखने को मिलता है जब विदेशी औरत , जागीरदार सुरेश से कहती है कि आप अपने बूढ़े दीवान को हटाकर मेरे देशभाई को अपना दीवान नियुक्त कर लीजिए। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि वह आपके बंजर भूमि में भी अनाज उत्पन्न करा लेगा, जोकि आपका दीवान नहीं कर पा रहा है। विदेशी औरत अपने देश के विज्ञान के चमत्कार को सुरेश से बताती हुई कहती है –

"वि. औरत : सरकार हमारे मुल्क में विज्ञान के जरिये जो ज़मीन से ज्यादा से ज़्यादा अनाज पैदा करने के तरीके निकले हैं उनसे वह बखूबी वाक़िफ़ है। आपकी जागीर में कई इलाके बंजर पड़े हैं , उनको ज़रख़ेज़ करने के लिए उसके पास चन्द मुफ़ीद तजावीज़ हैं, वह नक्शे के जरिये आपको सब समझा सकता है। मुझे यक़ीन है कि अगर आप उसको अपना दीवान बना दें तो आपको फ़ायदा होगा। आपको अपने इन्तख़ाब पर पछतावा न होगा और न मुझको अपनी सिफ़ारश पर शर्मिन्दगी। अगर इज़ाजत हो तो हाजिर करुँ , आप खुद ही मुलाहिज़ा कर लीजिए। हाथ कंगन को आरसी क्या ?

रमेश : ज़रुर ज़रुर। (सुरेश से) अगर ऐसी बात है भैया तो हम जरुर उसकी कद्र करेंगे।"[66]

इस संवाद से स्पष्ट है कि विज्ञान के बारें में सुनकर भारतीय भी कहीं न कहीं आकर्षित हो रहे थे। और यह आकर्षण स्वाभाविक भी था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास करना चाहता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण यहाँ की अधिकांश जनता कृषि कार्यों से जुड़ी है। इसलिए जब भारतीय जनता का परिचय विज्ञान से हुआ तो उसने अपने कृषि के विकास हेतु विज्ञान के प्रयोग को महत्वपूर्ण स्थान दिया। भारतीय जनता वैज्ञानिक तकनीकी को हर्ष के साथ स्वीकार करते हुए अपने देश में भी उसका प्रयोग करने का प्रयास किया। ऐसा ही एक चित्रण **'आहुति'** नाटक में भी देखने को मिलता है। जब रावलपिंडी से विस्थापित होकर **रामकृष्ण** बम्बई के एक शरणार्थी शिविर में जीवन बिता रहे हैं । तो उनका एक मित्र **लेहनासिंह** जीवन यापन के विषय में बातचीत करते हुए **रामकृष्ण** से कहता है कि

[66] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द , दीवार , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.26-27

बाबूजी आप तो रावलपिंडी में प्रतिष्ठित लोगों में शामिल थे। यहाँ शरणार्थी शिविर में कैसे और क्या कार्य करेंगे तो रामकृष्ण उससे कहता है कि-

"रामकृष्ण : (मुसकुराता हुआ) ओ लेहनासिहं जी वह हिसाब किताब तो रह गये न वहीं – मगर यहाँ भी शुरु हो सकते हैं – जमीन की यहाँ पर भी कोई कमी नहीं – अगर सरकार थोड़ी सी जमीन और रुपये से मदद कर दे तो खेती बाड़ी का काम शुरु कर दूँ। फिर साथ ही एक छोटा सा बाग लगाने का भी ख्याल है। जिसमे होंगे पेशावर के आड़ू- हरीपूर की खुरमानियां – छतर की लुकाट और गुजराँवाल के माल्टे।

लेहनासिंह : पर बाबूजी वह हमारे पंजाब के फल –फूल बम्बई की जमीन में उगेंगे सही – यहाँ तो पूरे चार महीने बरसात लगी रहती है।

रामकृष्ण : बरसात की कोई फिक्र नहीं लेहनासिंह जी! Science के आगे बरसात की कोई पेश नहीं। जाली – बिजली से काम लूँगा, Hot Houses बनाऊँगा। दीवारें –छतें सब शीशे के – उनमे Science की मदद से दुनियां के हर हिस्से के फल –फूल वाले पेड़ –पौधे उगाये जा सकते हैं – लेहनासिंह जी ! Science बड़ी तरक्की कर गई है – साईन्सदां अगर चाहे तो मुल्तान की गर्मी में कश्मीर का सेब और शिमले की सर्दी में मुल्तान की खजूर पैदा कर सकता है।"[67]

देश के विकास में विज्ञान के योगदान को लेकर ऐसा ही एक चित्रण '**कलाकार**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जब सच्चे सौन्दर्य की तलाश में शहर से एक कलाकार पहाड़ों पर आता है और वहाँ के लोगों के साथ घुल मिल कर वहां की संस्कृति को समझने का प्रयास करता है। तभी बातों ही बातों में पहाड़ के गाँवों में बसने वाले लोग जैसे – **लक्खी, बंशी, विशनाँ** इत्यादि **कलाकार** से उसके देश के बारें में पूछते है । तब **कलाकार** विज्ञान के कारण अपने शहर में हुए विकास के बारें में बताते हुए कहता है –

[67] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जून 1950, पृ.96

"लक्खी : अच्छा तो तुम्हारे देश में आदमियों ने बहुत तरक्की कर ली है ?

कलाकार : इतनी कि तुम उसका तसव्वर भी नहीं कर सकते।

लक्खी : अच्छा जी ?

कलाकार : हां , उसके मुकाबले पर तो तुम लोग अभी पत्थर और धातु के जमाने में रहते हो , जहां इंसान पैदा हुआ, जवान हुआ, गाय भेड़े चराई और मर गया।

लक्खी : यह तो ठीक है।

बंसी : तो क्या बाबू तुम्हारे यहां आदमी पैदा होकर मरता नहीं ?

कलाकार : मर तो वहां भी जाता है लेकिन जब तक जीता है ज़िंदगी से पूरी तरह सैर होकर जीता है, वहां वह समन्दर की लहरों और आसमान की हवाओं पर चल सकता है। उसने बादलों से बिजली छीनकर अपनी रातों को रौशन कर लिया है और हवा की लहरों को बस में करके अपनी फ़िजाओं में संगीत बिखेर दिया है। वहां वह तस्वीरों को चलाता है और मशीनों से आदमियों का काम लेता है। वह कामयाबी की एक से एक ऊंची चोटी फ़तह करता चला जा रहा है। चोटियों के साथ ऊपर देखता है और एक दिन उन सितारों को फ़तह रखने की ख़्वाहिश भी रखता है, और उन सितारों से आगे जहान और भी है तो उसको भी।"[68]

कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक समाज के विकास के पीछे कहीं न कहीं विज्ञान का बहुत बड़ा योगदान रहा है। आज विज्ञान के कारण ही मनुष्य बिजली, हवाई जहाज, रेलगाड़ी, अनेक प्रकार की मशीनें इत्यादि बनाने में सक्षम हो सका है। लेकिन कहा जाता है न कि प्रत्येक चीज के दो पहलू होते हैं। एक ओर जहां विज्ञान मनुष्य के विकास में सहायक बना, उनके जीवन शैली को सरल बनाया। दूसरी ओर वही विज्ञान परमाणु बम, तोप, हथियार इत्यादि के रुप में विश्वयुद्ध के दौरान लाखों – करोड़ों लोगों के लिए विनाश का कारण भी बना। हमारा भारतीय समाज एक साथ विज्ञान के दोनों पहलुओं से परिचित

[68] रामानंद सागर / पृथ्वीराज कपूर , कलाकार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई ,प्रथम संस्करण ,सितम्बर1951, पृ.35

हो रहा था। जिसका चित्रण **'कलाकार'** नाटक में बखूबी किया गया है। जब कलाकार गाँव वालों के समक्ष दुनिया के विकास का पूरा श्रेय विज्ञान को देता रहता है। तब उसी गाँव में रहने वाला पुजारी, जो कभी शहर के एक विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे, विज्ञान का दूसरा रुप दिखाते हुए उससे कहते हैं –

"पुजारी : हां मजमुई तौर पर क्यों तरक़्क़ी नहीं कर ली, इसीलिए तो हर बीस बरस के बाद तुम्हारी दुनिया में जंग की तोपें अग्र की सलामी उतारती हैं। जिनके शोलों में लाखों औरतों के सुहाग और करोड़ो बच्चों के माँ - बाप जल जाते हैं। इसीलिए तो भगवान की दी हुई धरती के टुकड़े – टुकड़े करके अलग – अलग मुल्क बनाते हो और इंसान को एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े में जाने के लिए परमिट लेने पड़ते हैं। इसीलिए शायद आज इस धरती के और टुकड़े कर रहे हो और सदियों से रहने वालों को तलवारों की धार पर चला कर दूसरे देशों में रिफ्यूजी, शरणार्थी और महाज़रीन बनाकर पटक देते हो। तुमने मजमुई तरक़्क़ी क्यों नहीं कर ली।"[69]

अंतत: यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिशों ने आर्थिक लाभ कमाने और अपने शासन को सुदृढ़ रखने के उद्देश्य से भारतीय समाज को आधुनिक बनाने का प्रयास किया। इसी प्रयास के तहत इन्होने भारतीयों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षित करने का निर्णय लिया परन्तु यह भी ध्यान में रखा कि भारतीयों को यह शिक्षा उच्च स्तर पर न मिल सकें। भारतीय सिर्फ इतना शिक्षित हो सके कि उनका काम बेहतर तरीके से कर सके न कि उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त कर उनसे किसी तरह की माँग कर सके। इन्होने भारतीय समाज को विज्ञान से परिचित तो कराया परन्तु तकनीकी शिक्षा से हमेशा दूर रखा।

(2.) विभाजन समस्या

भारत – पाकिस्तान विभाजन अंग्रेजों के **'फूट डालो और राज करो'** नीति का एक दुष्परिणाम है। इतिहास साक्षी है कि 1870 ई. के पूर्व भारत में सम्प्रदायवाद का कोई अस्तित्व ही नहीं था। यहाँ प्रत्येक

[69] रामानंद सागर / पृथ्वीराज कपूर, कलाकार , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,सितम्बर1951, पृ.38

धर्म के लोग हिन्दू – मुस्लिम- सिक्ख -ईसाई होने से पहले एक भारतीय हुआ करते थे और इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 1857 ई. की क्रान्ति है , जिसमे हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर ब्रिटिशों के विरुद्ध लड़े। उदित होते राष्ट्रवादी आन्दोलन और भारतीय एकता को देखने के बाद ब्रिटिश शासक भारत में अपने साम्राज्य की सुरक्षा को लेकर चिन्तित हो उठे। शायद इसीलिए उन्होने **'फूट डालो और राज करो'** नीति को एक हथियार के रुप में प्रयोग किया। ब्रिटिशों ने सर्वप्रथम भारतीय एकता को खण्डित करने के लिए यहाँ की जनता को धर्म, सम्प्रदाय, जाति एवं भाषा के आधार पर बाँटने का प्रयास किया। ब्रिटिशों के इसी दृष्टिकोण से भारत में सांप्रदायिकता और अलगाववादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिशों ने हिन्दू-मुसलमान को परस्पर एक- दूसरे के विरुद्ध करने हेतु, उन्होने सर्वप्रथम मुसलमान जमींदार, भू-स्वामियों और मुसलमान शिक्षित वर्गों को अपनी तरफ मिलाने का प्रयास किया। इतना ही नहीं ब्रिटिशों ने बंगाली वर्चस्व के नाम पर क्षेत्रवाद को भी बढ़ावा दिया। इसके साथ ही साथ इसने गैर ब्राह्मण को ब्राह्मण के खिलाफ तथा निम्न जातियों को उच्च जातियों के विरुद्ध खड़ा कर दिया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिशों ने सयुक्त प्रांत और बिहार में राजभाषा के रुप में उर्दू को हटाकर हिन्दी को रखने वाले प्रस्ताव को खूब प्रोत्साहित किया। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रिटिश सम्पूर्ण भारत को जाति, धर्म, सम्प्रदाय एवं भाषा आदि के आधार पर बाँटने का निरंतर प्रयास कर रहे थे जिससे भारतीय परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे और उनकी एकता भंग होती रहे। जिससे 1857 की क्रांति की तरह पुन: कोई राष्ट्रीय आन्दोलन पनप ही न सके।

इसी राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने की दृष्टिकोण से ब्रिटिशों ने शिक्षित मुसलमानों को अपनी तरफ मिलाकर हिन्दुओं के खिलाफ मुस्लिम सम्प्रदाय को जागरुक करने के लिए कहा। धार्मिक अलगाववाद की प्रवृत्ति में **सैयद अहमद खान** की महत्वपूर्ण भूमिका रही। ये एक शिक्षाशास्त्री औऱ समाज सुधारक थे। परन्तु अपने जीवन के अंत समय में रुढ़िवादी विचारधारा के हो गये थे। इन्होने 1880 में एक घोषणा किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों के राजनीतिक हित एकसमान न होकर अलग- अलग है और यदि कभी ब्रिटिश चले जायेगे तो बहुसंख्यक हिन्दु , मुसलमानों का शोषण करेंगे।

विभाजन देश के लिए एक ऐसी त्रासदी थी जिसका प्रभाव कहीं न कहीं आज भी देखने को मिलता है। इससे देश के भीतर विभिन्न प्रकार की समस्याओं ने जन्म लिया। जैसे – साम्प्रदायाओं के बीच पनपने वाला अविश्वास, साम्प्रदायिक दंगे, निरपराध मनुष्य की हत्या, संबंध टूटने की पीड़ा, अपनी भूमि से उजड़ने या उखड़ने की पीड़ा , विस्थापित रुप में नये देश में बसने की समस्या, स्त्रियों की दिन प्रतिदिन दयनीय होती स्थिति इत्यादि।

(2.1) सम्प्रदायाओं के बीच पनपने वाला अविश्वास-

कभी एक साथ मिलकर रहने वाले हिन्दु- मुसलमान विभाजन के नाम पर ही एक – दूसरे को संदेह की दृष्टि से देख रहे थे। पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दु , मुसलमानों से डरे हुए थे तो हिन्दुस्तान में अल्पसंख्यक मुसलमान, हिन्दुओं से सहमें हुए थे। जिसकी एक झलक '**आहुति**' नाटक में भी दिखलाई पड़ती है – जहाँ **राय साहब** ,**लेहनासिंह** से घर गाँव का समाचार पूछते है तो लेहनासिंह उनसे कहता है –

"राय साहब : आओं सजनों – बैठो ! कहो घर में तो सुख शान्ति है न ?

लेहनासिंह : घर में तो वायगुरु की कृपा है – मगर गाँव में .....(बैठता है।)

राय साहब : गाँव में क्या हुआ?

लेहनासिंह : मुसलमान हिन्दुओं पर लाल पीले हो रहे हैं।

राय साहब : लाल पीले हो रहे हैं – अभी आठ दिन हुए हैं मुझे गाँव में से आये तब तो कोई ऐसी बात न थी।

लेहनासिंह : बिल्कुल नहीं थी राय साहब जी – दोनों का आपस में भाईयों जैसा मेल जोल था – फिर वह मेल जोल कोई नया नहीं – पुराने समय से चला आ रहा था – राय साहब जी ! पठान आये – फिर मुगल आये – फिर खालसा जी का राज हुआ – इतनी बादशाहियां बदली – इतनी उथल पुथल हुई पर इन दोनों का मेल जोल वैसे का वैसा रहा – रत्ती भर फर्क न आया।

राय साहब : मगर अब क्यों फ़र्क पड़ गया – इसका क्या कारण हुआ ?

लेहनासिंह : एक लेक्चर

राय साहब : लेक्चर किसने दिया ?

लेहनासिंह : एक बाहर से आये मुसलमान ने – राय साहब जी! वह किसी मरे हुए

आदमी की पुरानी हड्डियां दिखा दिखा कर कहने लगा कि

मुसलमानों यह तुम्हारे उन भाईयों की हड्डियां हैं – जिन्हे काफ़िर

हिन्दुओं और सिक्खों ने शहीद किया है – इतना सुनते ही सब

मुसलमान भड़क उठे और उस भड़कती पर फ़ौजियों ने तेल

छिड़क दिया। अब वह भड़के हुए कहते हैं कि बदला लेंगे –

हिन्दु और सिक्ख काफ़िरों को मारेंगे – उनके घर बार जला देंगे –

उनकी बहू बेटियाँ छीन लेंगे।" [70]

इतना ही नहीं इसी '**आहुति**' नाटक में एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की जान लेने के लिए हथियार के साथ जुलूस बनाकर सड़को पर उतरे हुए हैं।

"(लक्ष्मी घबराई हुई दाखिल होती है)

विशेशराँ : क्यों – क्यों – क्या हुआ लक्ष्मी बहन ?

लक्ष्मी : अभी नौकर बाजार से भाजी लेकर आया है , वह कहता है राजा बाजार में

मुसलमानों का बड़ा जुलूस निकला है, वह कह रहे हैं नहीं छोड़ेंगे

पाकिस्तान - लड़ के लेंगे पाकिस्तान – नौकर कहता है आज जरुर

गड़बड़ होगी ?

राम : गड़बड़ **?**

लक्ष्मी : हाँ – वह यह भी सुन के आय़ा है कि मैरेपादिये के मुसलमान भी बड़े गर्म

हो रहे हैं।

.....

[70] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ. 23-24

विशेशराँ : लक्ष्मी का नौकर खबर लाया है कि मुसलमानों ने बड़ा भारी जुलूस निकाला है।

मेहता : इसका मुझे पहले से ही पता था बहन जी – इसीलिए सबेरे फोन किया था कि राय साहब आ जाये तो उस पर विचार किया जाये।

राय साहब : (बेपरवाही से) इस पर विचार क्या करना है मेहता जी – ऐसे जुलूस तो वह कई दिन से निकाल रहे हैं।

मेहता : मगर आज वह खाली हाथ न थे राय साहब जी बल्लम – बरछे और कुल्हाड़ियाँ उठाये हुए थे।

विशेशराँ : तब तो जरुर गड़बड़ होगी – क्यों मेहता जी होगी ?

मेहता : कह नहीं सकता बहन जी पर जो कुछ देखने सुनने में आया है उस पर ध्यान रखते हुए सन्देह अवश्य होता है।

राय साहब : (गंभीरता से) क्या संदेह होता है मेहता जी ?

मेहता : (गंभीरता से) यही कि यह विदेशियों की भेद नीति के बहकाये हुए किसी दिन स्थानीय शान्ति भंग न कर दें – इनकी कुल्हाड़ियों से स्वदेश एकता की जड़ न कट जाये – इनके बल्लम और बरछे मानव रक्त की नदियां न बहाने लगें।"[71]

ब्रिटिशों की अलगाववादी नीति को भारत के कुछ बुद्धिजीवी वर्ग बहुत ही बेहतर तरीके से समझ रहे थे कि जिस भारत में लोग एक –दूसरे से इतना मिलजुल कर रहते थे, वहां इस तरह के दंगे कैसे प्रारम्भ हो गये। कहीं न कहीं यह ब्रिटिशों की चाल है जो धर्म के नाम पर भारतीयों को परस्पर लड़ा कर अपना हित साधने में लगा है। अन्यथा भारत का कोई भी धार्मिक ग्रन्थ परस्पर बैर की भावना नहीं उत्पन्न करता

[71] लालचन्द्र बिस्मिल , आहुति , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ. 38 - 42

। जैसाकि **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक 'sपठान' में दर्शाया गया है , जहाँ **शेरखान** जो मुस्लिम है, सभी धर्मों का उदाहरण देते हुए अपने हिन्दू दीवान **ताराचंद्र** से कहता है कि –

"शेरखान : तो हम सब पाहतून हैं, पठान हैं। हमारा कभी आपस में झगड़ा नहीं होता,

ताराचंद्र का किताब नहीं कहता कि हमारे साथ झगड़ा करो। हमारा किताब

नहीं कहता कि इसके साथ झगड़ा करो। जवाहरसिंह का किताब नहीं

कहता किसी के साथ झगड़ा करो। तुम लोग किसका किताब पढ़ता है जो

आपस में लड़ने का बात बताता है।

दीवान : फिरंगी का किताब।"

(2.2) साम्प्रदायिक दंगे, आगज़नी लूटमार और हत्याएँ

ब्रिटिशों के फूट डालो और राज्य करो नीति के अन्तर्गत धर्म के नाम पर होने वाले विभाजन ने देश के भीतर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक- दूसरे का शत्रु बना दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके भीतर की मानवीय संवेदना मृतप्राय हो चुकी थी और उसके स्थान पर किसी हिंसक पशु ने प्रवेश कर लिया हो। शायद इसीलिए गाँधी जी के अहिंसावादी मार्ग को त्याग कर हिंसा के मार्ग पर चलते हुए एक – दूसरे के घर को आग के हवाले कर दे रहे थे। जैसाकि आहुति नाटक में उसका चित्रण दिखाई पड़ता है। जो अत्यन्त मार्मिक है –

"(बाहर से दौड़ते भागते आदमियों की आवाजें आने लगती है)

आवाजे : आ गये – आ गये – आ गये –दौड़ो- दौड़ो – भागो – भागो।

रामकृष्ण : (चौंक कर सोफे से उठता हुआ) क्या हुआ ?

चौधरी : देखता हूँ (चौधरी तेजी से बाहर जाता है – वकील और मेहता जी भी साथ जाते हैं – राय साहब टेलीफून की तरफ जाते हैं।

रामकृष्ण : बाहर जाने के लिए सोफा टटोलता हुआ दयालू – दयालू ड्राइवर ?

(बाहर से आवाजें आ रही है – रामकृष्ण तेजी से बरांडे की तरफ हाथ फैलाये जा रहा है – सामने से विशेशराँ बड़ी तेजी से आ रही है)

विशेशराँ : आगये आगये !

राय साहब : हेलो – हेलो (रामकृष्ण ठोकर खाकर गिर पड़ता है)

विशेशराँ : बाबू जी (रामकृष्ण उठता है – उसके माथे से लहू बह रहा है , वह फिर हाथ फैलाये बरांडे की तरफ जाता है) बाबू जी – न जाओ – बाबू जी -ठहर जाओ (रामकृष्ण का हाथ पकड़ती है रामकृष्ण जाने दो विशेशराँ जी – मुझे जाने दो – जानकी अकेली है।

.....

राय साहब : राम आया कि नही?

राम : (बाहर से) दयालू दरवाजे बन्द कर दे। (विशेशराँ तेजी से दरवाजे की तरफ बढ़ती है – राम दाखिल होता है)

विशेशराँ : आ गये बेटा ? (राय साहब राम की तरफ जाते हैं)

राय साहब : क्या हाल है बाहर ?

राम : बहुत बुरा – रत्ते और भरीड़ाँ के पुल के ऊपर तो सख्त लूट मार मची हुई है – अब वह इधर मरी रोड़ की तरफ भी आ रहे हैं – जल्दी से समान निकालो।

आवाजें : (बाहर से) मारो – मारो – मारो – आग लगा दो, जला दो!

राम : वह आ गये **!**

दयालू : (घबराया हुआ आकर) वकील साहब की कोठी को आग लगा दी।

विशेशराँ : च –च-च बेचारी बिल्लो (तेजी से बाहर जाती है)

आवाजे : (बाहर से) जला दो – आग लगा दो – मारो – मारो !

विशेशराँ : (तेजी से आकर) हमारी कोठी भी जलने लगी।

दयालू : (घबराया हुआ दाखिल होकर) बाबू रामकृष्ण की कोठी भी जल

उठी (**राम भागता है)**

आवाजें : मारो.....मारो.....जला दो....खाक कर दो।"[72]

दंगे के इसी भयावह दृश्य का चित्रण **इप्टा** द्वारा मंचित **ख़्वाजा अहमद अब्बास** के नाटक **'मैं कौन हूँ'** में भी बखूबी किया गया है। जहाँ बेनाम आदमी जो अपने जीवन के बारें में पिछली बातें भूल चुका है कि वह कौन है हिन्दु या मुसलमान। यही जानने के प्रयास में वह अपने डॉक्टर से मदद करने को कहता है। डॉक्टर उससे कहता है कि तुम आराम से लेट जाओं और अपने दिमाग पर जोर डालो तुम्हे जो कुछ भी याद आये बोलते जाओं और मैं उसे कागज पर लिखता जाऊँगा। ऐसा करने पर ही यह अंदाजा लग सकता है कि तुम कौन हो –

"बेनाम आदमी : सरनब्ज़ लहलहाते हुए खेत....दूर तक फैले हुए नीला आसमान।

डॉक्टर : That a good description of Punjab . You are Obviously a Punjabi – but from the Eastern Punjab or the Western Punjab.

बेनाम आदमी : (अपने ध्यान में डूबा हुआ) नीला आसमान – एक दरिया बरसात में पानी चढ़ा हुआ – दरिया में किश्तियाँ – और दूर कोई बाँसुरी बजा रहा है। एक नहर .... नहर में बच्चे नहाते हुए.... इन बच्चों मे मैं भी हूँ।

डॉक्टर : वेरी गुड! वेरी गुड! अभीं मालूम हुआ जाता है कि तुम कौन हो ? यह बच्चे जिनके साथ तुम नहा रहे हो हिन्दु है या मुसलमान?

बेनाम आदमी: बस बच्चे हैं।

.....

बेनाम आदमी : अब कुछ नहीं सुनाई देता... कुछ नहीं दिखाई देता।

डॉक्टर : क्यों क्या हुआ

---

[72] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ.51-52-53

बेनाम आदमी : मेरे सर में दर्द हो रहा। हर तरफ अँधेरा। मेरे कानों में एक अजीब शोर .....

(आग लग रही है। हर तरफ शोले ही शोले। शोर बढ़ता ही जा रहा है)

डॉक्टर : यह फ़सादियों का शोर है। ये वही लोग हैं जिनके जुल्म ने तुम्हारे घरबार को तबाह कर डाला , तुम्हारे घरवालों का खून कर डाला। ....सुनो ग़ौर से सुनो ..... वह क्या कह रहे हैं

[ढोल की आवाज तेज हो जाती है।]

बेनाम आदमी : कुछ सुनाई नहीं देता। शोर बहुत है। बस एक लफ्ज़ सुनाई देता है .....

[एक भीड़ के चिल्लाने की आवाज़ आती है – मारो! मारो !! मारो !!!

बेनाम आदमी : मुझे बचाओ।

डॉक्टर : घबराओ नहीं। गौर से सुनो, ये लोग जो आग लगा रहे हैं , शोर मचा रहे हैं , ये हिन्दु हैं , या मुसलमान ? यह बहुत जरुरी है। तभी मालूम हो सकता है कि तुम कौन हो?

[भीड़ की आवाज – मारो! मारो !!]

बेनाम आदमी : ये मुसलमान है

डॉक्टर : वेरी गुड ! इसका मतलब है कि तुम हिन्दु हो

बेनाम आदमी : [घबराकर मुड़कर दूसरी तरफ देखता है] मगर ये भी आग लगा रहे हैं, मुझे मारने आ रहे हैं !

डॉक्टर : ये कौन है ?

[भीड़ की आवाज – मारो! मारो!!]

बेनाम आदमी : ये हिन्दु और सिक्ख हैं। ये भी मुझे मारना चाहते हैं।

डॉक्टर : नो नो हाउ कैन इट बी

बेनाम आदमी : देखो, देखो , वे सब ....हिन्दू और मुसलमान और सिख मिलकर मुझे मारने आ रहे हैं।"[73]

(2.3) बलात्कार एवं अपहरण

विभाजन के दौरान दोनों साम्प्रदाओं के मध्य होने वाले दंगे में महिलाओं को दोहरे दंश झेलने पड़े। फिर चाहे वो हिन्दू महिला हो या मुसलमान। एक ओर तो आगज़नी के कारण महिलाएँ अपने घर से बेघर और परिवार से अलग हो गई थी तो दूसरी ओर दंगाईयों ने उनका शारीरिक शोषण अर्थात् बलात्कार भी किया। इन दंगाईयों ने न सिर्फ बलात्कार किया बल्कि युवा महिलाओं का अपहरण कर अपने साथ ले गये और उन्हे अपने घरों में कैद कर वहाँ भी प्रतिदिन उनका बलात्कार करते रहे। जैसाकि '**आहुति**' नाटक के इस दृश्य से स्पष्ट है जहाँ दंगे के बाद लोग रावलपिंड़ी को छोड़कर बम्बई के एक शरणार्थी शिविर में बैठे हुए है। वहीं पर अन्य लोगों की बातें सुनकर **रामकृष्ण** अपनी बेटी **जानकी** के लिए तड़प उठता है जिसका उसी दंगे में अपहरण हो चुका है।

"अर्जुन : (दाखिल होता हुआ) मेरे देखते – देखते मेरी आँखों के सामने राक्षसों ने

उसे घेर लिया – वह चीख उठी – चिल्लाई – दुहाई दी – मगर उसकी

दुहाई उनकी पिचाशी हंसी में दबकर रह गई- मैं जख्मी पड़ा देख रहा

था, कुछ न कर सका – फिर .....फिर उसके कपड़े.....

रामकृष्ण : (चौंकता हुआ) कपड़े .....जानकी....नहीं....नहीं नहीं।

गुलज़ारी : बाबूजी !

रामकृष्ण : कौन ? गुलज़ारीलाल?

गुलज़ारी : हाँ बाबू जी !

[73] ख़्वाजा अहमद अब्बास, मै कौन हूँ , पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, पृ. 12-15

रामकृष्ण : पता मिला ?

गुलज़ारी : जानकी बहन का ?

रामकृष्ण : हूँ.....हूँ।

गुलज़ारी : अभी तो नहीं बाबूजी मगर मेहता जी कोशिश कर रहे है।"[74]

इन दंगो में जहाँ एक ओर दंगाईयों ने महिलाओं का बलात्कार एवं अपहरण किया। वहीं दूसरी ओर महिलाओं के परिवार के पुरुष सदस्य दंगाईयों से उनकी लाज बचाने के लिए स्वयं अपने हाथों से उन्हे जलती आग में ढकेल दिया। इतना ही नहीं दंगे के दौरान कुछ महिलाएं दंगाईयों के दुर्गति से बचने के लिए स्वयं ही आत्महत्या कर ली। जैसाकि दृष्ट्व्य है –

"हरबंस : (गुलजारी की तरफ देखता हुआ) बेचारा लेहनासिंह !

गुलज़ारी : हाँ .....बेचारा.....

हरबंस : उस दिन मेहता जी कह रहे थे कि इसने अपनी बीबी को अपने हाथों
जलती आग में ढकेल दिया !

गुलज़ारी : (दु:ख के लहजे में) हाँ ! अपने हाथ से (लहजा बदल कर) मगर
अच्छा ही तो किया हरबंस लाल जी ! नहीं तो वह दुष्ट औरों की तरह
उसकी लाज भी लूट लेते।

हरबंस : (क्रोध से) अबलाओं की लाज लूटना तो उनका नित्य कर्म है गुलज़ारी
लाल जी – जिसे वह हमेशा से करते चले आये हैं – पराई बहू
बेटियों की लाज उन्होने कहाँ नहीं लूटी – कब नहीं लूटी ?

गुलज़ारी : मगर वह मेरे गाँव वालों की लाज नहीं लूटने पाये।

---

[74] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ. 55-56

हरबंस : मिलिटरी वाले आ पहुँचे होंगे ?

गुलज़ारी : (सर हिलाता हुआ) नहीं इस दुर्गति से बचने के लिए वह सब कुएँ में डूब मरी !"[75]

यदि यहाँ पर यह कहा जाये कि विभाजन के दौरान होने वाले दंगे में महिलाओं का तीन स्तर पर शोषण हुआ तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा। एक तो दंगे में हुए आगज़नी के कारण महिलाएं बेघर होकर अपने परिवार से बिछड़ गई, दूसरा उनका बलत्कार और अपहरण हुआ। तीसरा शोषण उस समाज के लोगों द्वारा हुआ, जहाँ उनका जन्म और पालन पोषण हुआ था। इसका कारण यह था कि अपहरण की हुई महिलाएँ जब किसी भी तरह स्वयं को बचाकर शरणार्थी शिविर अपनों से मिलने के लिए पहुँची तो समाज के लोगों ने उन्हे दूषित मानते हुए बहुत हेयदृष्टि से देखा। जिससे वो महिलाएँ मानसिक रुप से टूट गई और स्वयं को दूषित मानते हुए आत्महत्या को गले लगा लिया। आज भी प्राय: ऐसा देखने को मिलता है कि जिस महिला से बलत्कार हुआ रहता है , उसकी हिम्मत बढ़ाने की बजाय समाज उसे ही हेयदृष्टि से देखने लगता है। समाज की इस दकियानूसी दृष्टिकोण को आहुति नाटक में बखूबी चित्रित किया गया है - जानकी जिसकी मंगनी (सगाई) राय साहब के बेटे राम से हो चुकी है लेकिन दंगे के दौरान जानकी का अपहरण और बलत्कार हो जाता है। जिसकी वजह से जानकी की पड़ोसी लक्ष्मी, जिसे जानकी बचपन से ही माँ कहती है, उसे खूब बुरा भला सुनाती है। इन्हीं बातों से आहत होकर जानकी पहाड़ी से कूदकर अपनी जान दे देती है।

(लक्ष्मी जानकी से कहती है –)

" मैं तेरे बाप जैसी बेशर्म नहीं – जवान बेटी मलेच्छों के घर रह के आई पर वह बोला तक नहीं – उफ़ तक नहीं की – अगर मेरी बेटी होती तो सामने आते ही उसका गला घोंट देती – दूसरों का धर्म भ्रष्ट करने को साथ – साथ न लिये फिरती – फिर उस मक्कार को कुडुम भी तो वैसे ही मिले हैं – भेडै नूं चन्द्रे तै बारह कोहां दा वल्ला - जैसा वह नीच वैसा वह अधर्मी – धर्म का तो उन्हे ध्यान ही नहीं – समाज का तो डर ही नहीं – धर्म को जैसे बेच खाया है – समाज तो जैसे कोई चीज ही नहीं – पर मुझे क्या, तुझे बहू बना के धर्म नष्ट होगा तो उनका – कुल डूबेगा तो उनका – समाज बुरा कहेगा तो उनको – जगत में थुई-थुई होगी तो उनकी – मेरा इसमे क्या जायेगा। पर तुझे कहे

[75] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ.56-57

देती हूँ जो फिर कभी मेरी बेटी को बुलाया तो कुत्ते के ठीकरे में पानी पिलाऊँगी – बे – शर्म – बे हया।

……..

आवाजें : क्या हुआ ? क्या हुआ ?आत्म हत्या कर ली! पहाड़ी से कूद मरी हाय – हाय।

रामकृष्ण (जानकी का पिता) जानकी की लाश को हाथों पर उठाये दाखिल होता है।[76]

(2.4) पलायन एवं शरणार्थी जीवन

विभाजन के दौरान हुए दंगे और आगज़नी में लोगों की बसी बसाई गृहस्थी उजड़ चुकी थी। अब तो लोग सिर्फ अपनी जान बचाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचने का प्रयास कर रहे थे। उदाहरण के तौर पर – अल्पसंख्यक हिन्दु और सिक्ख पाकिस्तान से पलायन कर हिन्दुस्तान पहुँच रहे थे तो हिन्दुस्तान के कुछ मुसलमान पाकिस्तान जा रहे थे। यद्यपि उस समय हिन्दुस्तान में गाँधी जी ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु से यह घोषणा करवायी कि जो भी मुसलमान हिन्दुस्तान में रहना चाहते है, वह यहां रुक सकते हैं और उनके सुरक्षा की पूरी जिम्मेदारी भारत सरकार की होगी। इस पलायनवाद की स्थिति ने शरणार्थी जीवन को जन्म दिया क्योंकि नये स्थानों पर उनके पास रहने के लिए अपना कोई घर नहीं बल्कि तत्कालीन सरकार द्वारा जीवन निर्वाह हेतु प्रदान किया गया शरणार्थी शिविर था। जिसमे हजारों की संख्या में लोग प्रतिदिन विभिन्न स्थानों से पहुँच रहे थे। पलायन की इसी स्थिति का चित्रण आहुति नाटक में भी बिस्मिल जी ने किया है – जहाँ पंजाब के रसूखदार व्यक्ति राय साहब, उनकी पत्नी विशेशराँ और बेटा राम के साथ उस इलाके के कई परिवार न चाहते हुए भी पंजाब छोड़कर बम्बई जाने को विवश है –

"राय साहब : (होने वाले समधी रामकृष्ण से)उठिये तैयारी कीजिए – मैं तब तक लेहनासिंह को तैयार करता हूँ ।

विशेशराँ : उठो जी !

[76] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ.135 -136 - 142

रामकृष्ण : मगर विशेशराँ जी - वहाँ रहूँगा कहाँ ?

विशेशराँ : रहने की जगह भी मिल जायेगी–पहले यहां से तो निकलें, मौत के मुंह से।

रामकृष्ण : मुझसे यह धरती नहीं छोड़ी जाती ।"[77]

(2.5) अपने जन्मभूमि से उजड़ने की पीड़ा

यद्यपि लोग शिविर में शरणार्थी बनकर जीवन बिता तो रहे थे परन्तु उनके दिलो दिमाग में अपनी जन्मभूमि की यादें निरंतर उन्हे सता रही थी। जिसका एक दृश्य '**आहुति**' नाटक में भी देखने को मिलता है । जहाँ कैम्प में बैठे – बैठे **लेहनासिंह** सूरदास की पंक्ति को गीत के रुप में गाता है तो **रामकृष्ण** पंजाब को याद करता हुआ **लेहनासिंह** से कहता है –

"**लेहनासिंह** : ऊधो मोहे व्रज बिसरत नाहीं

रामकृष्ण : (हल्की आह भर कर) हाँ व्रज बिसरत नाहीं लेहनासिंह

लेहनासिंह : हाँ बाबूजी

रामकृष्ण : मैंने कहा कृष्ण जी ने तो अपने दिल का दर्द ऊधो जी से कह दिया पर हम किससे कहें

कि हमें पंजाब बिसरतत नाहीं – लेहनासिंह जी उन्होने हमें पंजाब से जरुर निकाल

दिया मगर हमारे दिलो से पंजाब की याद नहीं निकाल सके और यह निकल

सकती भी नहीं – हाँ मर जाने पर शायद निकले तो निकले ।"

(2.6) विस्थापित रुप में नये स्थान पर बसने में उत्पन्न समस्याएँ

दंगे में अपना घर – बार और सम्पत्ति खो चुके लोग जब नये देश में बसने के प्रयास में संघर्षरत है तो उस दौरान उन्हे अनेकों प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है । जो व्यक्ति अपने जन्मभूमि में रहते हुए स्वयं के काम- काज हेतु नौकर रखा था ।आज वह शरणार्थी देश में दूसरे के घर नौकरी करने को विवश हो गया है । जैसाकि '**आहुति**' नाटक में **रामकृष्ण** और **लेहनासिंह** के संवाद से स्पष्ट है –

[77] लालचन्द्र बिस्मिल , आहुति , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन ,बम्बई, पृ.90

लेहनासिंह : यह भी वायगुरु की कृपा हुई बाबू जी जो सर छिपाने को जगह मिल गई।

रामकृष्ण : हाँ जगह तो मिल गई और डॉक्टरों के ऑपरेशन से थोड़ी सी नजर भी मिल गई। (मुसकुराता हुआ) यह भी वायगुरु की कृपा ही समझो – पर लेहनासिंह जी मुझे यहां आए एक साल हो गया मगर अभी तक मतलब का काम न मिला।

लेहनासिंह : काम तो बाबू जी! आप उस दिन कह रहे थे कि मिल गया है?

रामकृष्ण : हाँ एक फर्म ने अपनी विलायत की डाक लिखने का काम दिया है। इसका सौ रुपये महीना मिलेगा।

लेहनासिंह : (अफ़सोस और हमदर्दी के लहज़े में) सौ रुपया ! दो – दो सौ रुपये महीने के तो बाबू जी आपने खुद कईं नौकर और मुनीम रखे हुए थे – कोई जायदाद का किराया उगाहने पर – कोई जमीनों के हिसाब – किताब पर।"[78]

इतना ही नही शिविर में रहते हुए शरणार्थियों को न सिर्फ काम पाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था बल्कि सरकार द्वारा प्रत्येक सप्ताह बाँटे जाने वाले अनाज को प्राप्त करने के लिए भी काफी मशक्कत करनी पड़ती थी। उस पर भी शरणार्थियों की संख्या अधिक होने के कारण इतना थोड़ा सा अनाज मिलता था कि पूरे हप्ते पेटभर भोजन भी परिवार के सदस्यों को नहीं मिल पाता था। जैसाकि '**आहुति**' नाटक से दृष्ट्व्य है – जहाँ **दयालू**, **जानकी** से बात करते हुए कहता है –

"दयालू : (दाख़िल होता हुआ) बाबू जी !'

जानकी : वह तो राशन लेने गये हैं।

दयालू : अरे वह क्यों गये – मैं आया तो था ही, राशन भी ला देता

[78] लालचन्द्र बिस्मिल , आहुति , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन ,बम्बई, पृ. 95

जानकी : कई बार ला नहीं दिया।

दयालू : तो क्या हुआ, आज भी ला देता – वहाँ बड़ी तकलीफ होती है बहन जी –

मर्दों की बात तो ख़ैर छोड़ो, वहाँ तो अच्छे घरों की बहू बेटियाँ भी जलती

बलती धूप और छाजों बरसते पानी में घंटो लैन लगाये खड़ी रहती है।

तब कहीं जाके बारी आती है – फिर मिलता क्या है ?गेहूँ के साथ चावल भी,

ज्वार भी, मक्की भी, बाजरा भी- समझो मिला जुला सतअनाजा – फिर वह

भी (हाथ से बता कर) इतना सा – जिसे अगर मैं पेट भर खाऊँ तो तीन ही

दिन चले, बाकी हफ्ते के चार दिन हवा फांक के जीना पड़े।"[79]

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि भारत और पाकिस्तान के रुप में देश का विभाजन ब्रिटिशों के **फूट डालो और राज करो** नीति का एक ऐसा दुष्परिणाम है जिसने भारत की अधिकांश जनता को शरणार्थी के रुप में दर – दर की ठोकरे खाने को विवश कर दिया। फिर चाहे वह हिन्दु हो, मुसलमान अथवा सिक्ख। ब्रिटिशों द्वारा बोया गया साम्प्रदायिकता का यह बीज, दंगे और हिंसा के रुप में देश के सामने आया। इसी दंगे और हिंसा के गर्भ से जन्मे पलायनवाद ने, न जाने कितने परिवारों को उसके जन्मभूमि से विलग होने के लिए मजबूर कर दिया। इतना ही नहीं इसी दंगे ने न जाने कितनी महिलाओं का बलत्कार कर, उसका अपहरण कर, उसे आत्महत्या करने पर विवश कर दिया। देश का यह विभाजन भले ही राजनीतिक रुप से उचित रहा हो परन्तु इंसानियत और मानवता के दृष्टिकोण से इसे कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता।

(3.) सामाजिक जागरण एवं समाज सुधार

यदि हम भारत में 19वीं सदी की विशेषता पर चर्चा करें तो सर्वप्रथम यह कहना बिल्कुल भी अनुचित नहीं होगा कि यह दौर भारत में सामाजिक – सांस्कृतिक जागरण का था। यह बात सत्य है कि यदि कोई अकेला व्यक्ति भी कहीं जाता है तो सिर्फ वह व्यक्ति ही नहीं ,बल्कि उसके साथ -साथ उसकी सभ्यता और संस्कृति भी जाती है। ठीक इसी प्रकार जब ब्रिटिश भारत आये तो अपने साथ वहां की

[79] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जून 1950 पृ.124

संस्कृति और सभ्यता भी लाये। इसके अतिरिक्त ब्रिटिशों ने अपने आर्थिक हितों के लिए ही सही लेकिन भारत में अंग्रेजी शिक्षा ,यातायात और जनसंचार माध्यमों का जो विकास किया , कहीं न कहीं उसका सकरात्मक प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ रहा था। जब भारतीय जनता पढ़ लिख कर शिक्षित होने लगी और पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने लगी तो उसे पाश्चात्य देशों के समाज और भारतीय समाज के मध्य अन्तर समझ आने लगे । भारतीय बुद्धिजीवियों को यह एहसास होने लगा कि पारम्परिक, रुढ़िवादी सामाजिक संरचना के कारण ही मुठ्ठी भर ब्रिटिश उन पर शासन कर रहे हैं। इसलिए शिक्षित भारतीय बुद्धिजीवियों ने पाश्चात्य देशों की शक्ति को तथा भारत की कमजोरियों को पहचानने का प्रयास किया। इसी प्रयास के अन्तर्गत उन्होने महसूस किया कि यदि भारत का विकास करना है तो इसके सामाजिक ढाँचे में थोड़ा परिवर्तन करना आवश्यक है। इसी विचार के तहत भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारतीय समाज में पुन: प्राण फूँकने के उद्देश्य से परम्परागत भारतीय विचारों एवं संस्थाओं में अपनी आस्था रखते हुए पाश्चात्य आधुनिक विचारों को भी आत्मसात करने का निर्णय लिया।

यह बात भी सच है कि किसी भी समाज में जब भी कोई परिवर्तन हुआ है तो उसका नेतृत्व समाज के कुछ ही व्यक्ति करते हैं। भारत में भी सामाजिक जागरण लाने का शुभारम्भ **राजाराम मोहन राय** जैसे व्यक्तित्व ने किया था। इनके अतिरिक्त **देवेन्द्र नाथ ठाकुर , ईश्वर चन्द्र विद्यासागर** आदि महानुभाव ने भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

अठराहवीं सदी में यूरोप के देशों में **बेकन, वॉलटेयर, रुसो , कांट, लॉक, एडम स्मिथ , शैली, बायरन, वडर्सवर्थ** इत्यादि के नेतृत्व में जो बौद्धिक क्रांति हुई थी, कहीं न कहीं उसका प्रभाव भारतीय बुद्धिजीवियों पर भी पड़ रहा था और **राजाराम मोहन राय** भी इससे अछूते नहीं रहे क्योंकि तत्कालीन पाश्चात्य चिंतन के केन्द्र में **तर्क, विवेकशीलता, विज्ञान और मानवतावाद** था। इसके साथ ही साथ 1789 ई. में फ्रांस की क्रांति का **समता, स्वतंत्रता और समानता** का जो नारा था उसका प्रभाव भी भारतीयों पर पड़ रहा था। राजाराम मोहन राय जैसे व्यक्तित्व ने यह महसूस किया कि यदि भारतीय समाज से रुढ़िवाद, अंधविश्वास, कुरीतियां इत्यादि को समाप्त करना है तो उसके लिए लोगों के समक्ष तर्क, विवेकशीलता, मानवतावाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को रखना अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म किसी भी समाज का महत्वपूर्ण अंग होता है और अधिकांश रुढ़िवादी विचारधारा की जड़ इसी धर्म में ही निहित होती है। शायद इसीलिए राजाराम मोहन राय ने सर्वप्रथम अपना ध्यान हिन्दू धर्म में

व्याप्त कुरीतियों की ओर केन्द्रित किया। उन्होने **मूर्तिपूजा**, **निरर्थक धार्मिक कृत्यों** के प्रचलन इत्यादि का विरोध करते हुए एकेश्वरवाद पर बल दिया।

जैसाकि सर्वविदित सत्य है कि प्राचीन काल से ही भारतीय समाज मे स्त्रियों को दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त है ,जो निरंतर जारी भी है । लेकिन उन्नीसवीं सदी में राजाराम मोहन राय ने सर्वप्रथम स्त्रियों के पक्ष में **सती प्रथा** जैसी कुरीति को अमानवीय कृत्य बताते हुए इसका विरोध किया और इसकी समाप्ति के लिए अनेक प्रयास किया जिसके परिणामस्वरुप 1828 ई. में लॉर्ड विलियम बैंटिक के नेतृत्व में यह कुप्रथा हमेशा के लिए भारत से समाप्त हो गई। इसके साथ ही साथ इन्होने **बहुविवाह**, **बालविवाह** इत्यादि का विरोध करते हुए **विधवा पुनर्विवाह** का समर्थन किया। इन्होने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए सम्पत्ति में अधिकार दिये जाने की माँग की थी।

इसके साथ ही साथ इन्होने **जाति प्रथा** को राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक मानते हुए इसका पुरजोर विरोध किया। शिक्षा के क्षेत्र मे इन्होने अंग्रेजी शिक्षा का पूर्ण समर्थन किया था। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा ही भारतीय जनता के भीतर तर्क और विज्ञान के प्रति चेतना उत्पन्न होगी।

इन्होने भारतीय राजनीति में भी सशक्त हस्ताक्षेप किया था। इन्होने किसानों का शोषण करने वाले जमीदारों की खूब निंदा की और मांग किया कि किसानों के द्वारा दी जाने वाली लगान को सदा के लिए निश्चित कर दिया जाये जिससे जमींदार किसानों से मनमानी लगान न वसूल पाये। इसके साथ ही साथ इन्होने यह भी माँग किया कि जो टैक्स फ्री जमीन है , उस पर कोई लगान निर्धारित न किया जाये तथा भारतीय वस्तुओं के निर्यात पर लगाये गये भारी शुल्क को हटाया जाये जिससे भारतीय व्यापारी भी सुगमता से अपने व्यापार को करने में समर्थ हो सके। इन्ही सब मुद्दों को आगे बढ़ाने का काम देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इत्यादि महानुभावो ने किया था।

उन्नीसवीं सदी के राष्ट्रीय जागरण का सर्वाधिक प्रभाव समाज सुधार के क्षेत्र मे देखने को मिला। क्योंकि तत्कालीन बुद्धिजीवियों को एहसास था कि देश के विकास के लिए समाज में सुधार लाना अति आवश्यक है। इसीलिए नवशिक्षित लोगों ने बढ़ चढ़ कर रुढ़िवादी सामाजिक रीतियों तथा प्रथाओं से विद्रोह करना प्रारम्भ किया। इनका विद्रोह पाश्चात्य विचार के तहत समानता और मानवतावाद से प्रेरित था। इनका विचार था कि समाज में सभी को एकसमान जीने का अधिकार है। किसी के साथ भेद भाव करना मानवता के खिलाफ है। भारत के परिप्रेक्ष्य में यह सर्वविदित सत्य है कि इस समाज की सबसे बड़ी कमी महिलाओं और निचली जातियों के साथ उनके बुरे बर्ताव हैं। इसीलिए समाज सुधार के केन्द्र में स्त्री

मुक्ति और जाति प्रथा की जड़ताओं को समाप्त करना था। अब प्रश्न यह उठता है कि समाज के द्वारा स्त्रियों के साथ ऐसा कौन सा बर्ताव किया जा रहा था। जिसकी वजह से बुद्धिजीवियों को समाज सुधार के अन्तर्गत सर्वप्रथम आधी आबादी के हित में आंदोलन करना पड़ा।

<u>स्त्री मुक्ति</u>

इतिहास साक्षी है कि भारत में हमेशा से ही स्त्रियों को पुरुषों से हीन स्थान दिया गया है। पारम्परिक विचारधारा में पत्नी और माँ के रुप में स्त्रियों की खूब प्रशंसा की गई है, परन्तु एक व्यक्ति के रुप में उसे हमेशा ही उपेक्षित भाव से देखा गया है। भारतीय समाज में ऐसा कभी नहीं माना गया कि पुरुषों के सम्बन्ध से अलग स्त्रियों का अपना कोई अलग अस्तित्व भी है ,घरेलू कामकाज के अतिरिक्त उसकी अपनी भी कोई इच्छा है, जिसकी अभिव्यक्ति वह करना चाहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज में स्त्रियों को हमेशा पुरुषों के अधीन रखा गया है। उदाहरण के लिए – हिन्दु धर्म में किसी स्त्री का एक ही विवाह संभव था जबकि पुरुष को कई विवाह करने की आजादी थी। ऐसी ही स्थिति मुस्लिम समाज में भी थी , वहां भी बहुपत्नी प्रथा थी। मुस्लिम स्त्रियाँ तो तलाक को लेकर और भी सहमी रहती थी क्योंकि पुरुषों द्वारा तीन बार तलाक शब्द बोलने से उनका वैवाहिक संबंध समाप्त हो जाता था। इसके अतिरिक्त विधवा महिलाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। कई स्थानों पर तो स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। इतना ही नहीं हिन्दू स्त्रियों को तो उत्तराधिकार में सम्पत्ति पाने का भी अधिकार नहीं था। मुस्लिम स्त्रियों को संपत्ति में अधिकार तो मिलता था परन्तु पुरुषों का केवल आधा। अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि स्त्रियों को शिक्षा से बहुत दूर रखा जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी और समानतावादी विचारों से प्रेरित होकर कुछ बुद्धिजीवियों ने स्त्रियों के इसी दशा को सुधारने के लिए एक आंदोलन प्रारम्भ किया। जिसमें स्त्रियों की शिक्षा, विधवाओं का पुनर्विवाह, एकपत्नी प्रथा प्रचलित करने अर्थात् बहुविवाह का निषेध इत्यादि मुद्दे शामिल थे।

कहा जाता है न कि साहित्य समाज का दर्पण होता है और जिस समाज में राष्ट्र के विकास हेतु इतने बड़े पैमाने पर जनता को जागृत करने का तथा समाज में सुधार लाने का प्रयास एक साथ किया जा रहा हो, वहाँ साहित्यकार अपने कर्तव्य से विमुख कैसे हो सकता है। शायद इसीलिए नाटककारों ने भी अपना कर्तव्य निर्वहन करते हुए समाज सुधार के उन्ही मुद्दों को अपने नाटक में प्रखरता के साथ उठाया जो भारतीय समाज को आधुनिक बनने के लिए अति आवश्यक था। जैसे - सती प्रथा का समापन, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, अंग्रेजी शिक्षा इत्यादि पर बल और बालविवाह , बहुविवाह तथा जातिप्रथा इत्यादि का निषेध।

विधवा पुनर्विवाह

भारतीय समाज के लिए प्रारम्भ से ही यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा है कि यहां विधवाओं को हेयदृष्टि से देखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधवा होना, उस महिला से बहुत बड़ा पाप हो गया है। अभी तो नही परन्तु कुछ वर्षों पहले विधवा महिला को जैसे समाज से बहिष्कृत ही कर दिया जाता था। उदाहरण के तौर पर – किसी महिला को उसके पति के मृत्यु के उपरांत, समाज या घर के सदस्यों द्वारा निर्धारित स्थान पर ही रहना पड़ता था, वह पूरे घर में कहीं भी नहीं आ – जा सकती थी, इसके साथ ही साथ उसे चारपाई की जगह जमीन पर सोना पड़ता था, वो पैर में चप्पल नहीं पहन सकती थी बल्कि उसे नंगे पांव रहना पड़ता था, उसे बिना तेल- मसाले वाले खाद्य पदार्थ का सेवन करना होता था अर्थात् सादा भोजन ही करना पड़ता था। इतना ही नहीं, वह समाज द्वारा शुभ माने जाने वाले किसी भी कार्यों में शामिल नहीं हो सकती थी।

अब प्रश्न यह है कि भारतीय समाज में एक सिक्के के दो पहलू माने जाने वाले स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न – भिन्न नियम क्यूं ? एक ओर जहां किसी महिला के पति के मृत्यु होने पर समाज द्वारा बनाये गये उपर्युक्त कठोर बँधन थे तो वहीं दूसरी ओर किसी पुरुष के पत्नी की मृत्यु पर दूसरा विवाह करने का अवसर था। इसके पीछे कहीं न कहीं भारतीय रुढ़िवादी सोच थी लेकिन पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने से भारतीयों को एहसास हुआ कि यह रीति मानवतावाद और समानता के विचार को खारिज करती है। इस संसार में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन जीने का अधिकार है फिर स्त्री भी एक मनुष्य है तो उसके साथ ऐसा व्यवहार अनुचित है। इसी दृष्टिकोण ने बुद्धिजीवियों को भारतीय समाज में विधावाओं का पुनर्विवाह करवाने के लिए प्रेरित किया। जिसका सकरात्मक परिणाम आज हमारे समक्ष है। इसी संवेदनशील मुद्दे पर भारतीय बुद्धिजीवियों का साथ देते हुए **'पृथ्वी थिएटर'** ने भी **'पैसा'** नाटक के माध्यम से अपनी बात जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। **'पैसा'** नाटक में नाटककार ने **शान्तिलाल** की विधवा बेटी **इन्द्रा के पुनर्विवाह** की बात को एक **विधवा विवाह सहायक समिति** की सदस्या **सरस्वती** द्वारा कहलवाया है। **सरस्वती**, **शान्तिलाल** को समझाने का प्रयास करती है कि **इन्द्रा** की अभी उम्र ही क्या है। उसके सामने पूरा जीवन पड़ा है। अत: पिता होने के नाते आपका फर्ज है कि आप उसका पुनर्विवाह कर दीजिए। जैसाकि दृष्ट्व्य है -

"सरस्वती : नमस्ते जी !

शान्तिलाल : (रुखाई से) नमस्ते।

सरस्वती : मैं विधवा विवाह सहायक समिति की सदस्या हूँ।

शान्तिलाल : (व्यंग से) और चंदा मांगने आई हैं।

सरस्वती : (गंभीर मुसकुराहट से) जी नहीं इस समय मेरे आने का प्रयोजन चन्दा नहीं है।

शान्तिलाल : तो ?

सरस्वती : एक प्रार्थना है कि आप इन्द्रा का पुनर्विवाह कर दें।

शान्तिलाल : (क्रोध से) पुनर्विवाह इन्द्रा का ?

सरस्वती : (पहले भाव से) जी हाँ।

शान्तिलाल : (क्रोध से) यह उस गधे की प्रार्थना है, उस इडियट की , जो यह नहीं जानता कि पुनर्विवाह करते ही इन्द्रा का अपनी किसी मिल पर अधिकार न रहेगा।

सरस्वती : किन्तु उसका जीवन सुखमय बीतेगा।

शान्तिलाल : लाखों की सम्पत्ति हाथ से निकल जायेगी, जीवन सुखमय बनेगा।

सरस्वती : इसलिए कि मन का सुख धन सम्पत्ति पर निर्भर नहीं करता।

शान्तिलाल : तो किस पर निर्भर करता है कंगाली का जीवन बिताने पर , भूखों मरने पर , हूँ।

सरस्वती : आप इस विषय पर क्रोध से नहीं, शान्तिपूर्वक विचार करें तो .....

शान्तिलाल : (क्रोध से) मेरे पास भाषण सुनने का समय नहीं है , आप जा सकती हैं।"[80]

यह भारतीय समाज में विधवा महिला का दुर्भाग्य कहे या समाज की संवेदनहीनता जो किसी महिला की इच्छा को जाने बगैर , चिकित्साशास्त्र और मनोविज्ञान के शारीरिक आवश्यकता के सिद्धांत को नकारते हुए कभी संपत्ति के लालच के में स्वयं महिला के घरवाले उसका पुनर्विवाह नहीं करते, तो कभी दकियानूसी समाज के इस सोच के कारण वह महिला स्वयं ही पुनर्विवाह नहीं करती कि उसके पहले पति से उत्पन्न संतान को पुनर्विवाह के दौरान होने वाला पति स्वीकार नहीं करता। तब वह महिला अपने संतान के भविष्य के लिए अपने शारीरिक आवश्यकता का दमन करते हुए पुनर्विवाह को अस्वीकार कर देती है। जैसाकि

[80] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पैसा , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.109-110

उपर्युक्त संवाद में शांतिलाल के बातों से स्पष्ट है कि वह सिर्फ संपत्ति के लालच में अपनी बेटी इन्द्रा का पुनर्विवाह नहीं करना चाहता।

स्त्री शिक्षा

भारत में स्त्रियां सदियों से पुरुषों की अधीनता और सामाजिक उत्पीड़न का शिकार रही है। प्राचीनकाल से ही स्त्रियों को शिक्षा से कोसों दूर रखा गया। उन्हे सिर्फ गृहस्थ नियमों को सिखाया जाता था। यद्यपि प्राचीन काल में गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी महिलाएँ हुई हैं परन्तु वह सब एक अपवाद हैं। मध्यकाल में तो स्त्रियों पर और भी पाबंद लग गये थे। ऐसी स्थिति में शिक्षा के विषय में सोचना ही गुनाह था। ब्रिटिशों के प्रयास से आधुनिक काल में अंग्रेजी शिक्षा को लेकर जो प्रयास किये जा रहे थे , वह भी स्त्रियों के पहुँच से दूर ही थी। ब्रिटिशों ने स्त्री शिक्षा पर इसलिए ध्यान नहीं दिया क्योंकि स्त्री शिक्षा से उन्हे कोई आर्थिक लाभ नहीं था। स्त्रियां उनके कार्यालय जाकर काम न करती। लेकिन जब भारतीय बुद्धिजीवी पाश्चात्य विचारों से परिचित होने लगे थे तो उन्हे यह समझ आया कि समानता का सिद्धांत कहता है कि सभी व्यक्ति समान है। तो फिर शिक्षा को लेकर स्त्रियों के साथ इतना भेदभाव क्यूँ ? उन्हे भी शिक्षा पाने का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों का। वैसे भी देश की आधी आबादी यदि अशिक्षित रहेगी तो देश का विकास कर पाना मुश्किल होगा। इसी दृष्टिकोण के मद्देनजर भारत में स्त्री शिक्षा की लहर चल पड़ी। इसी स्त्री शिक्षा को लेकर नाटककार **विजन भट्टाचार्य** ने भी अपने नाटक **'नवान्न'** में लिखा है कि यदि स्त्रियों को भी शिक्षित किया जाये तो वो भी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल सकेंगी। जैसाकि इस दृश्य में दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार ललिया की मां बिना पढ़े ही प्रत्येक हिसाब को अपने स्मृति में रखे हुई है। यह दृश्य कुछ ऐसा है जहां ललिया की मां गांव के मुखिया हारुदत्त के सामने चन्दर का पुराना हिसाब बताते हुए कहती है –

"ललिया की माँ : दस। मुझे अच्छी तरह याद है। दस बाँस बेचे थे तुम्हें। तीन रुपये दो आने दाम हुए थे। पर तुमने सिरफ तीन रुपये ही दिये। रेजगारी नहीं थी, इससे दो आने उस बखत नहीं दिये। उसके बाद वह दो आने मुजरा हुए, क्या नाम करके, पाँच पाली धान के हिसाब में। आयी याद ?

चन्दर : (कुछ हँसकर सिर हिलाते हुए) हाँ हाँ , मेरी ही भूल थी, ठीक।

हारुदत्त : (हुक्के से मुँह उठाकर) मुख्तार हो जाती, ललिया की माँ, तू तो जजी अदालत की।

ललिया की माँ : (हँसकर) बाबा, आप खुद ही कहवें कि आजकल औरतें लिखना – पढ़ना सीख के मरदों के साथ ऑफिस कचहरी करें हैं। पढ़ना-लिखना सीख जाती तो, बाबा आपके आशीर्वाद से मैं भी जजी-मुंसफी के वकील – मुख्तारों की अकल ठिकाने लगा आती।"

बहुविवाह का निषेध

रुढ़िवादी भारतीय समाज में बहुविवाह की प्रथा प्राचीनकाल से ही चली आ रही थी। जिसे 19वीं – 20वीं शताब्दी में अनेकों कानून बनाकर इसे रोकने का प्रयास किया गया। प्राचीनकाल में राजा- महाराजा शौकवश, पुत्रप्राप्ति हेतु या किसी अन्य कारण से कई विवाह करते थे जो मध्यकालीन भारत में भी निरंतर जारी रहा परन्तु आधुनिक भारत में बुद्धिजीवियों ने इसे अनुचित मानते हुए इस पर रोक लगाने की मांग की।

वैसे तो पुरुषों द्वारा कई विवाह करने के अनेक कारण होते थे परन्तु उनमे से एक मुख्य कारण पुत्र प्राप्ति की इच्छा थी। भारतीय समाज में प्राय: पुत्रप्राप्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। उन्हे लगता था कि पुत्र मोक्ष की प्राप्ति करवाता है और वंश को आगे बढ़ाता है। इसीलिए हर भारतीय चाहता है कि उसे पुत्र ही उत्पन्न हो और जब ऐसा नहीं होता था तो चिकित्सा विज्ञान के ज्ञान के अभाव में वह इसमे पत्नी की गलती मानते हुए दूसरा विवाह कर लेता था।

यह भारतीय समाज की कैसी विडम्बना थी कि एक ओर महिला के पति की मृत्यु हो जाने पर उसे दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं थी वहीं दूसरी ओर अपनी पत्नी के जीवित रहते हुए भी पुरुषों को कई विवाह करने की स्वतंत्रता थी।

पुत्रप्राप्ति की इसी लालसा और मध्यवर्गीय समाज की धन लालसा को चित्रित करते हुए **'पैसा'** नाटक में दर्शाया गया है कि कैसे समाज में कालिदास जैसे धन के लालची व्यक्ति अपने स्वार्थवश 55 वर्षीय सेठ का विवाह अपने मित्र शान्तिलाल के 18-19 वर्षीय बेटी इन्द्रा से करवाना चाहता है और लड़की का पिता शान्तिलाल भी सिर्फ धनप्राप्ति की इच्छा से अपनी बेटी का विवाह एक वृद्ध सेठ व्यक्ति से करने को तैयार हो जाता है जबकि वह अपनी बेटी की मंगनी पहले से ही अपने मित्र किशोर के बेटे से कर चुका है जिसे उसकी बेटी इन्द्रा बहुत प्रेम भी करती है। संवाद से स्पष्ट है -

" **कालिदास :** (बाहर से) शान्तिलाल जी है छोकरा !

छोकरा : (बाहर से) जी हैं जी !

कालिदास : (प्रवेश करते हुए) शान्तिलाल जी! शान्तिलाल जी ! मैं एक शुभ सूचना लाया हूँ ।

शान्तिलाल : (गम्भीर आश्चर्य से) शुभ सूचना ?

कालिदास : हाँ ! उस दिन सेठ जी ने जो सौदा कराया था उसमे हाथों हाथ बारह हजार मिल गये, जिसमे छ: हजार तुम्हारे होते हैं।

शान्तिलाल : (प्रसन्नता और गंभीरता से) मेरे ?

कालिदास : (मुसकुराता हुआ) हाँ तुम्हारे ! जो मैं लेता आया हूँ।

(जेब से नोटों की गड्डी निकालता है जिसे देख कर शान्तिलाल की आँखों में फिर लालसा चमकती है लेकिन नोट लेने में हिचकिचाता है)

.....

कालिदास : (मुसकुराते हुए) सेठ जी चाहे तो हमें लाखों दिलवा सकते हैं और दिलवायेंगे भी। वह हैं भी दयालु पुरुष, व्यापार जगत में कोई ऐसा नहीं जो उनकी दयालुता का गुणगान न करता हो। मेरी तो दोनों समय यही प्रार्थना है कि वह सदा सुखी रहें और जो उनकी मनोकामना है वह भी पूरी हो।

शान्तिलाल : (आश्चर्य से) मनोकामना ? इतना धन, इतनी सम्पत्ति होते हुए भी उनकी कोई कामना बाकी है ?

कालिदास : है , पुत्रधन की !

शान्तिलाल : उनके घर संतान नहीं क्या ?

कालिदास : नहीं, तीन विवाह किये, पर तीनों पत्नियाँ निस्संतान ही परलोक सिधार गई।

शान्तिलाल : अच्छा !

कालिदास : इसीलिए तो सेठ जी का विचार है अब चौथी शादी करने का।

शान्तिलाल : चौथा विवाह करेंगे ? इस आयु में ?

कालिदास : तो कोई नई बात नहीं, सेठ जी के दादा ने पैंसठ की आयु में पाँचवा विवाह किया था।

शान्तिलाल : पाँचवां !

कालिदास : हाँ !और उसी से वंश का नाम भी चला। फिर सेठ जी तो अभी पाँच कम साठ हैं, और यह कोई बड़ी आयु नहीं, और देखने में भी तो मुश्किल से चालीस के दिखाई देते हैं। लोग सौ – सौ बरस तक जीते रहते हैं। मेरी दादी एक सौ पाँच की होकर मरी थी। हाँ , तो मैं वह विवाह की बात कह रहा था। सेठ जी का विचार है किसी सुन्दर, सुशील और पढ़ी – लिखी कन्या से विवाह करने का है, जैसे ....जैसे....अपनी इन्द्रा.....?

शान्तिलाल : (चौंक कर क्रोध से) इन्द्रा ! तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है , खबरदार जो ऐसी बात की तो।

कालिदास : (डरते हुए) बस ऐसी ही लड़की हो। वह भी खोज रहे हैं , मैं तो उन्हें इन्द्रा ही के सम्बन्ध में कहने वाला था, पर तुरन्त ही ध्यान आ गया कि उसकी मंगनी तो तुम बिहारी से कर चुके हो। जो न कर चुके होते तो बिटिया बड़ी सुखी रहती। पर चलो जी बिहारी भी बुरा नहीं, सुंदर, सुशील ,फिर पढ़ा –लिखा भी। सौ डेढ़ सौ की नौकरी कहीं न कहीं मिल ही जायेगी , कर लेगा जैसे- तैसे गृहस्थी का निर्वाह। पर लेख संजोग की बात है शान्तिलाल जी नहीं तो इन्द्रा जीवन भर राज भोगती राज, और तुम्हारे नाम भी नई मिल की मैनेजिंग एजेन्सी हो जाती।

शान्तिलाल : क्या कहा नये मिल की मैनेजिंग एजेन्सी (उसकी आँखे लालसा से चमक उठती है।)"[81]

अन्तत: कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति हमेशा से ही दोयम दर्जे की रही है परन्तु समाज सुधारकों द्वारा किये प्रयासों से धीरे – धीरे समाज में काफी सुधार देखने को मिलता है। समाज सुधार आन्दोलन के बाद स्त्रियों की स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया क्योंकि अब समाज में विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, को बढ़ावा मिलने लगा और पुरुषों द्वारा किये जाने वाले बहुविवाह को हतोत्साहित किया जाने लगा। स्त्रियों की बदलती इस तस्वीर में चार चाँद लगाने का कार्य भारतीय संविधान ने किया। 1950 में जब देश में संविधान लागू हुआ तो स्त्रियों की दशा और दिशा एकाएक बदल गई क्योंकि इसी संविधान की धारा 14 व 15 के तहत स्त्री व पुरुष की पूर्ण समानता की गारंटी दी गई। 1956 ई. के हिन्दू उत्तराधिकार कानून के तहत पिता की संपत्ति में बेटी को बेटे के समान अधिकार मिला। 1955 ई. के हिन्दू विवाह कानून में विवाह संबंध समाप्त करने का अधिकार मिला। इन्ही अधिकारों के परिणामस्वरुप आज स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में अपना परचम लहरा रही हैं।

जातिप्रथा का विरोध

स्त्रीमुक्ति के साथ जाति व्यवस्था समाज सुधार आन्दोलन का दूसरा प्रमुख निशाना था। उस समय हिन्दू अनगिनत जातियों में बँटे हुए थे। कोई व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता था, उसी जाति के नियमानुसार उसके जीवन का एक बड़ा भाग संचालित होता था। वह व्यक्ति किससे विवाह करे, किसके साथ भोजन करे , इसका निर्धारण उसकी जाति से होता था। इतना ही नहीं, उसके व्यवसाय और उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता का निर्धारण भी उसकी जाति से ही होता था। इन सब के अलावा एक जाति को भी अनेक ऊँचे – नीचे दर्जे में रखा गया था। यह जाति विभाजन, वर्णव्यवस्था के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अन्तर्गत किया गया था। इसमे सबसे नीचे शूद्र आते हैं और इतिहास साक्षी है कि इन्ही शूद्रों का शोषण इस जाति व्यवस्था के तहत खूब हुआ है। भारत में संविधान लागू होने के पूर्व शूद्रों को अछूत माना जाता था। ऊँची जाति के लोग इनकी परछाई से भी दूर रहते थे। गाँव में शूद्रों के लिए कुआँ, तालाब तथा घाट सब अलग था। जिस कुआँ और तालाब का प्रयोग उच्च जाति के लोग करते थे , शूद्रों को उसे छूने तक के लिए मनाही थी। इतना ही नहीं इनसे काम भी वही कराया जाता था, जिसे समाज के अन्य लोग मलेच्छ कार्य समझते थे – जैसे – मैला उठाना , मरे हुए जानवरों को उठाना, उनके खाल निकालना इत्यादि ।

[81] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर, पैसा , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.60 -62

भारतीय बुद्धिजीवी इस बात को समझ रहे थे कि भारतीय समाज का इस तरह जातियों में बँटा होना राष्ट्रीय एकता के लिए ठीक नहीं है। जब ये लोग परस्पर विभाजित रहेंगे तो ब्रिटिशों के साथ संघर्ष कैसे करेंगे। अत: राष्ट्रीय एकता के लिए एक सूत्र में बाँधने हेतु जाति व्यवस्था का समापन अति आवश्यक हो गया था। जो देश आजाद होने के बाद संविधान के माध्यम से कानून बनाकर अस्पृश्यता को समाप्त किया गया।

'**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' के समक्ष भी ये जातिगत भेदभाव के मुद्दे अपने विकराल रुप में खड़े हुए थे। अत: इन लोगों ने भी अपने कला के माध्यम से राष्ट्रीय एकता हेतु जातीय भेदभाव जैसे संवेदनशील मुद्दे को लेकर लोगों को जागरुक करना प्रारम्भ किया। इनसे जुड़े नाटककार अपने नाटक में इस मुद्दे को बड़ी ही प्रखरता से उठाने का प्रयास कर रहे थे। ऐसा ही एक प्रयास **विजन भट्टाचार्य** के नाटक '**नवान्न**' में भी देखने को मिलता है। जहाँ **कुंज** नामक पात्र और उसके चाचा **प्रधान समाद्दार** गाँव के मुखिया **हारुदत्त** को अपनी जमीन बेचने से मना कर देते हैं तो हारुदत्त उसके चाचा प्रधान समाद्दार से जबरदस्ती कम कीमतों पर जमीन खरीदने का प्रयास करता है और धमकी भरे लहजे में प्रधान समाद्दार से कहता है कि प्रधान तुम अपनी बातों से पलट रहे हो। इस बात पर कुंज से रहा न गया और उसने हारुदत्त को जवाब देते हुए कहा कि –

"कुंज : जबान पलटने की बात ही क्या है जी ?क्या बात है जबान पलटने की ? गरीब भूखे लोगों पै जे क्या नाहक जुलम ? उसकी जमीन – वह कहे नहीं बेचूँगा, और जे कहै जाएँ जबान मत पलटो। बड़े आये जबान पकड़ने वाले !"[82]

कुंज का इतना बोलना ही हारुदत्त को नागवार गुजर गया। हारुदत्त को लगा कि यह उसका अपमान है क्योंकि हारुदत्त ऊँची जाति का व्यक्ति था। उसे कोई नीच जाति का व्यक्ति इस तरह से जवाब कैसे दे सकता है ? इसीलिए वह कुंज से गुस्से में कहता है –

"हारुदत्त : बड़ी तेजी दिख रही है जबान में , हूँ। हूं: , तो फिर यह सीधा सिर जरा टेढ़ा करना होगा, लगता है। बेटा नीच जाति की इतनी हिम्मत !

कुंज : ऐ – ऐ, गाली – गलौज मत करना , हाँ कह दिया , अच्छा नहीं होगा।

[82] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.46

हारुदत्त : नीच जात गाली – गलौज हो गई ? हरामजादे की बात सुनो ! नीच जात गाली हो गई

(हारुदत्त अपने कुछ आदमियों को बुलवाकर कुंज को लाठी से पिटवाता है। सिर पर चोट लगने से कुंज जमीन पर बैठ जाता है। उसमे से एक आदमी कहता है कि पैर पकड़ कर माँफी माँग। कुंज छाती के बल लेटकर हारुदत्त के पैर पकड़ने के लिए बढ़ता है। हारुदत्त दो पैर पीछे हटकर थूकता है)

हारुदत्त : पैरों को हाथ मत लगा। पैरों से हाथ मत लगा, हाँ। (कुंज के मुख पर लाठी ठोकते हुए) बड़ी लम्बी- चौड़ी बातें, उं! बड़ी (लाठी ठोकता है) क्यों ? किससे क्या बात कहता है, कुछ होश नहीं रहता ? उं होश नहीं रहता ?"[83]

उपर्युक्त संवाद के माध्यम से कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन भारतीय समाज में किसी निम्न जाति के व्यक्ति को अपने अधिकार के लिए भी उच्च जातियों से बोलने का अधिकार नहीं था। यदि वो किसी कारणवश बोल भी देते थे तो उनका भी हाल कुंज की तरह ही होता था। यदि देखा जाये तो कुंज ने क्या गलत कहा था ? उसकी जमीन है उसे नहीं बेचना था फिर भी हारुदत्त जबरदस्ती जमीन के पीछे पड़ा था और कुंज के मना करने पर बात जमीन से हटकर जाति पर आ गई। अब सवाल यह उठता है कि सिर्फ निम्न जाति के होने के कारण न चाहते हुए भी उसे अपनी जमीन कम कीमत पर बेच देनी चाहिए ? क्या निम्न जाति के व्यक्ति को उच्च जाति द्वारा किये गये अनुचित कार्यों के प्रति विरोध करने का भी अधिकार नहीं था ?

सिर्फ उसी दौर में नहीं आज भी जाति व्यवस्था एक पीढ़ी तक ही सीमित नहीं है, यह लोगों का पीछा करता रहता है । यदि कोई व्यक्ति परिश्रम करके ,खूब संपत्ति कमा कर धनवान भी बन जाता है तब भी कोई बात आने पर समाज, जाति तक पहुँच ही जाता है। समाज कहता है कि मुझे पता है तू किस खानदान से है , तेरे पूर्वज क्या करते थे। समाज ये मानने को तैयार ही नहीं होता कि आज वह व्यक्ति, जो निम्न जाति का है, अपने परिश्रम के कारण आपके समान धनवान हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग जाति को व्यवसाय से जोड़कर देखने का प्रयास उस दौर में करते थे। जैसाकि **'शतरंज के खिलाड़ी'** नाटक में दृष्ट्व्य है जब **मिरजा सज्जाद अली** और **मीर रोशन अली**, जो धन संपत्ति में एकसमान है और हमेशा साथ में

[83] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 47-48

ही शतरंज खेलते है। एक दिन इसी खेल में हार – जीत को लेकर दोनों में बहस हो गई। दोनों क्रोध करते हुए एक- दूसरे की कमियां निकालने लगे। तभी मीरजा झल्लाते हुए मीर से कहता है –

"मीरजा : (खीझकर) अमा आपके खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो आप कायदे जानते।

मीर : देखिए , खानदान तक न जाइए।

मिरजा : अरे, वे तो हमेशा घास छीला किये आप शतरंज क्या खेलिएगा।

मीर : बस अब, एक शब्द बोले तो,अच्छा न होगा।

मिरजा : (चटकारे लेते हुए) रियासत और ही चीज है। (ललकारते हुए) अजी, जाइए भी , गाजीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते – करते उम्र गुजर गयी।

मीर : चुप रहिए बहुत बोल लिए।

मीरजा : (झल्लाते हुए) आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।"

निम्न जाति में जन्म लेना पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के लिए जैसे अभिशाप बन जाता है। क्योंकि महिलाओं को यहां दोहरी मार झेलनी पड़ती है। पहली तो ये कि वह एक महिला है दूसरी ये कि वह निम्न जाति की है। कभी – कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा समाज दोगलेपन का मुखौटा लगाये इन महिलाओं को घूरता रहता है। जिस उच्च जाति के लोग निम्न जाति में जन्मे व्यक्तियों के परछाई से भी दूर रहते हैं , वही लोग निम्न जाति में जन्मी औरतों को बहुत ही गंदी नजर से देखते हैं और उसे पाने के लिए उनके घर के मर्दों को किसी न किसी अपराध में फँसाकर जेल भिजवा देते है। जिससे वह औरत परेशान होकर उनके पास जाये। अब सवाल यह है कि जिस निम्न जाति के व्यक्ति के परछाई मात्र से ही लोगों की पवित्रता भंग हो जाती है , उसी जाति में जन्मी महिला के साथ रहते हुए क्या उनकी पवित्रता में वृद्धि हो जाती है ? इसी सवाल से टकराता हुआ एक दृश्य **'किसान'** नाटक में भी दिखलाई पड़ता है जब गाँव के ठाकुर की नजर नीची जाति के महिला पर है और ठाकुर किस प्रकार उसके पति दुर्गा को एक ऐसे अपराध में फँसा देता है, जो उसने किया भी नहीं है क्योंकि पुलिस, पंच, सरपंच सब ठाकुरों के पक्ष में होते हैं। इसी अत्याचार को बताता हुआ पूरन कहता है –

"पूरन : गनेशी की भैंस नन्हा और पातकी ने कुएँ मे गिरवा दी लेकिन पंचायत ने दुर्गा और सुबरन को अपराधी ठहराया।

सुन्दर : दुर्गा की औरत पर छोटे ठाकुर की नजर थी। दुर्गा और पातकी में कहा – सुनी हो गई थी

। दुर्गा गयादीन, साहू सब के पास गया, थाने में रिपोर्ट की, पुलिस आई तो भैंस गिराने के अपराध में दुर्गा और सुबरन को पकड़ ले गई।"[84]

किसी भी समाज में जाति व्यवस्था एक ऐसे दीमक की भांति होता है जो धीरे – धीरे चीजों को खोखला कर देता है। भारतीय समाज में तो यह सदियों से चला आ रहा है जिसके केन्द्र में अपमान , अमानवीय क्रूरता और जन्मगत असमानता विद्यमान थी। इसी जाति व्यवस्था ने लोगों को अनेक समूहों में बाँट कर रखा था। जो समाज सुधारकों को राष्ट्रीय एकता के लिए बाधा प्रतीत हुआ। एक खास बात यह है कि यह प्रथा सिर्फ हिन्दू धर्म में ही नहीं अपितु मुसलमान,सिक्ख, ईसाई सभी धर्मों में विद्यमान थी। प्रत्येक धर्म मे छुआछूत एवं भेदभाव हो रहा था। लेकिन इन सब स्थितियों में थोड़ा सुधार आना तब प्रारम्भ हुआ, जब भारत में आधुनिक उद्योग, रेल, बसो इत्यादि का संचालन प्रारम्भ हुआ। इसने विभिन्न जातियों के मध्य सम्पर्क को अनिवार्य बना दिया। रेल, बस में यात्रा के दौरान, उद्योगों में एक साथ कार्य करते हुए अछूत एवं भेदभाव की भावना कमजोर पड़ने लगी । इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी इस भेदभाव की प्रथा को कमजोर बनाने का प्रयास किया। शिक्षा के प्रचार ने निम्न जातियों को भी अपने अधिकारों के प्रति जागरुक किया। और 1950 में लागू संविधान ने शोषण को जड़ से समाप्त करने हेतु अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत अस्पृश्यता को अपराध की श्रेणी में रखते हुए उसके खिलाफ कठोर कानून का प्रबंध कर दिया। देशहित में हो रहे प्रयासों के तहत **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थिएटर'** के नाटककारों ने भी अपने लेखनी के माध्यम से समाज सुधार के कार्यों में अपने योगदान को सुनिश्चित किया। अन्तत: कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि समाज सुधारकों और संविधान के द्वारा कानून बनाकर इस जाति व्यवस्था और छुआछूत की भावना को समाप्त करने का प्रयास किया गया जो काफी हद तक सफल भी रहा है परन्तु आज भी छुआछूत की भावना लोगों के जेहन से पूर्णत: समाप्त नही हुई है। आज भी लोग जाने अनजाने जाति के आधार पर भेदभाव के शिकार हो ही जाते हैं।

(4) पारिवारिक समस्याएँ

व्यक्ति, किसी परिवार का न्यूनतम ईकाई और समाज का अभिन्न अंग होता है। परिवार, व्यक्ति और समाज के मध्य सेतु का कार्य करता है। परिवार, एकाधिक व्यक्तियों का वह समूह है , जो विवाह या

[84] शील , किसान, संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति,1957, पृ.18

रक्त संबंध के कारण पारस्परिक एक – दूसरे का चिन्तन करते हुए, साहचर्य भाव से एक ही घर में रहकर वैयक्तिक विकास करने के साथ – साथ परिवार के व्यक्तित्व का निर्माण करता है। औद्योगिक विकास एवं अन्य कारणों से होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरुप मनुष्य, परिवार एवं समाज में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। प्रेम, त्याग, बलिदान, समर्पण इत्यादि परिवार के स्तम्भ होते हैं और जिस दिन ये स्तम्भ डगमगाने लगते हैं , उसी दिन परिवार विखण्डित होने के कगार पर आ जाता है। जिसके फलस्वरुप अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं –

(4.1) जमीन- जायदाद के बँटवारे को लेकर टूटता संयुक्त परिवार

जिस दिन परिवार के सदस्यों के मध्य प्रेम, त्याग, बलिदान, सहयोग के स्थान पर छल, कपट और ईर्ष्या जैसे भाव उत्पन्न हो जाते हैं । उस दिन संयुक्त परिवार का सूर्यास्त होने लगता है और एकल परिवार का सूर्योदय होने लगता है। ऐसे ही एक दृश्य का चित्रण '**दीवार**' नाटक में किया गया है। जहां रमेश और सुरेश नामक दो भाईयों का परिवार एक ही घर में प्रेमपूर्वक एवं खुशी खुशी एक साथ रहता था परन्तु उन दोनों के मध्य एक विदेशी महिला के आ जाने के कारण उन लोगों के बीच प्रेम के स्थान पर ईर्ष्या ने अपना घर बना लिया है और छोटा भाई रमेश अपने परिवार के साथ अलग रहना चाहता है। जिसके लिए वह अपने बड़े भाई सुरेश से बहस भी करता है -

"सुरेश: (बात काट कर) रमेश ! तुम्हे क्या होता जा रहा है ? एक दिन था तुम खुद ही कहा करते थे कि भइया जब तुम सितार बजाते हो तो मेरा मन पढ़ने में अधिक लगता है, आज यह भी तुम्हे बुरी लगने लगी, अच्छा रमेश ! खफ़ा न हो अब यह गलती कभी नहीं होगी।

रमेश : यह गलती जरुर होगी , ऐसी बहुत सी गलतियाँ होंगी और ऐसी गलतियाँ होती ही रहेंगी जब तक हमारा आपस में फैसला नहीं हो जाता, जब तक हम सबसे बड़ी गलती दूर नहीं करते, मैं कहता हूँ हमारे यहाँ एक घर और एक खानदान का रिवाज ही गलत है।

सुरेश : मगर यह रिवाज हमारे बुजुर्गों ने बनाये थे रमेश !

रमेश : मैं उन्हे परमात्मा नहीं मानता, वह भी गलती कर सकते थे और यह शायद उनकी सबसे बड़ी गलती थी। उन्होने यह कभी नहीं सोचा कि दो तलवारें एक म्यान में कभी नहीं रह सकतीं।

सुरेश : नहीं रमेश नहीं, उन्होने भाईयों को कभी तलवार नहीं समझा, वह भाईयों को बाजू समझते थे रमेश ! कभी ऐसा भी हुआ है कि मनुष्य का एक बाज़ू दूसरे बाज़ू से लड़ जाये ?

.....

रमेश : मैंने तो आपसे एक सीधी सी बात कही और आपने बहस छेड़ दी, मैं आपसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता, मैं आपसे अपना हक मांग रहा हूँ , अपना अधिकार।

सुरेश : तो क्या यह तुम्हारा आखिरी फैसला है ?

रमेश : जी हां ! आखिरी फैसला। जब तक जागीर के दो टुकड़े न होंगे, मकान के दो हिस्से न होंगे यह लोग यहीं रहेंगे।"[85]

ऐसा ही एक दृश्य '**किसान**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जहाँ छोटा भाई **जोधा** अपने बड़े भाई **धीरज** से जायदाद में बँटवारा सिर्फ इसलिए चाहता है ताकि वह जुआँ जैसी अपनी बुरी शौक को पूरी कर सके।

धीरज : बँटवारा अच्छा नहीं जोधा ! अपना उल्लू सीधा करने के लिए दुश्मन ने तुम्हे भड़का दिया है।

जोधा : जैसे मैं दूध पीता बच्चा हूँ।

धीरज : (तड़प कर) जोधा! मुकदमा लड़ोगे, कचहरी करोगे, कोई फायदा न होगा। सब जागा – जमीन, कचहरी चाट जायेगी, लोग तमाशा देखेंगे।

जोधा : यह सब पुरानी बातें हैं। जैसे कालका के अकेले तुम्ही हो, मैं आकाश से कूद पड़ा था।

धीरज : (गम्भीर गरजना के साथ) जोधा ! तुम्हे ऐसा कहते शर्म नहीं आती ? तुम्हारी तरह मैं भी जुआरी होता तो बैठने की जगह होती ? मकान, बाग, बगीचा साहू के पेट में और जमीन ठाकुर के गले उतर जाती।

---

[85] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द , दीवार , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952 , पृ.75 -77

अच्छा हो (रुद्ध कंठ से) हम सब को विष दे दो और अपनी मनमानी करो।

जोधा : घबराओं नहीं, अब तुम्हारी मोहिनी ममता का जाल हमें नहीं फँसा सकता। (झिड़क कर) अब वही होगा जो तुम चाहते हो।

धीरज : हम क्या चाहते हैं ?

जोधा : बँटवारा।

धीरज : (आसमान देखते हुए) लगा दो घर में आग, लगा दो। (रुक कर) पेड़ के तने पर बैठ कर जड़ न काटो। (आँसू पोछता है) जोधा , मेरी बाँई भुजा न तोड़ो।"[86]

(4.2) अर्थ और पारिवारिक रिश्ते

आधुनिक जनजीवन को अर्थ ने ऐसी गिरफ्त में ले लिया है कि समस्त मानवीय सम्बन्धों की बुनियाद हिल सी गई है। अब प्रेम, ममत्व, स्नेह, मित्रता आदि के आधार आर्थिक हो गये हैं। जिसके फलस्वरुप पति – पत्नी, प्रेमी – प्रेमिका, भाई- बहन, माँ- बेटी, पिता – पुत्री के रिश्तों में सनातन समरसता समाप्त हो गई है। अर्थाधारित मानवीय संबंधों में कोई संवेदना महत्वपूर्ण नहीं रही अपितु भौतिकता प्रधान हो गई है। जिसके परिणामस्वरुप समस्त मानवीय सम्बन्धों का व्यवसायीकरण हो गया है। आज सभी रिश्ते संवेदनहीन और नीरस होते जा रहे हैं। इसी रिसती मानवीय संवेदना को ही **लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर** द्वारा लिखित नाटक **'पैसा'** में बड़ी ही सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। जहाँ **शान्तिलाल** अपनी बेटी **इन्द्रा** का विवाह एक मिल एजेन्सी और लाखों की सम्पत्ति के लालचवश पचपन वर्षीय उम्रदराज एक सेठ से करने को तैयार हो जाता है। जबकि शान्तिलाल अपनी बेटी इन्द्रा की शादी पहले से ही अपने मित्र किशोर के बेटे **बिहारी** से तय कर रखा है और उन दोनों की मंगनी भी हो चुकी है। इसके साथ ही साथ इन्द्रा और बिहारी सहपाठी भी हैं और एक-दूसरे को प्रेम भी करते है। लेकिन शान्तिलाल चंद सम्पत्ति के लालच में अपनी बेटी के भावनाओं को दरकिनार कर देता है और उस वृद्ध सेठ से उसकी शादी कर इन्द्रा को जीवन भर के लिए दु:ख दे देता है।

(शान्तिलाल अपनी पत्नी सुशीला से चिल्लाता हुआ कहता है -)

---

[86] शील , किसान, संस्कार प्रकाशन , प्रथमावृत्ति,1957 , पृ.12-13

"शान्तिलाल : (आवाज) नहीं होगा , नहीं होगा। (इन्द्रा चौंकती है, वह तेजी से थाल उठाकर किचिन में आ जाती है और छुप कर सुनती है। शान्तिलाल सीढ़ियों पर आता हुआ कह रहा है) अब क्या सौ बार कहूँ , एक बार तो कह दिया कि इन्द्रा का विवाह बिहारी से नहीं , बड़े सेठ से होगा।

सुशीला : (पीछे – पीछे आती हुई) किन्तु सुनिये तो.....

शान्तिलाल : (क्रोध से सीढ़ियाँ उतरता हुआ) मैं किन्तु परन्तु कुछ नहीं सुनना चाहता।

सुशीला : पर आप बिहारी से उसकी मंगनी कर चुके हैं।

शान्तिलाल : (क्रोध से) जो तोड़ी भी जा सकती है।

सुशीला : (भरे स्वर से) तो वह सुखी न रहेगी।

शान्तिलाल : (क्रोध से) क्यों न रहेगी! जबकि पुरुष का सुख होता है धन !और नारी का धनी पुरुष।"[87]

यह भारतीय परिवार की सबसे बड़ी समस्या है कि आज भी प्राय: परिवार का पुरुष सदस्य ही बेटियों के विवाह का निर्णय लेता है। यहां शान्तिलाल भी अपनी बेटी से उसकी इच्छा पूछे बिना सिर्फ रुपयों के लिए उसका विवाह उसके दोगुने से भी अधिक उम्र के व्यक्ति से कर देना चाहता है।

इसी रिसती संवेदना को '**कलाकार**' नाटक में भी चित्रित किया गया। जहाँ गौरां सिर्फ पैसे के खातिर अपने पति के उस कला कृति को बिकवा देती है जिसको उसका पति किसी कीमत पर भी नहीं बेचना चाहता क्योंकि वह पेंटिग उसने अपनी पत्नी **गौरां** के ही बनाये थे और उसकी तमाम भावनाएँ उस पेंटिंग से जुड़ी थी। पेंटिंग बिकने के बाद कलाकार बहुत दु: खी हो जाता है लेकिन उसकी पत्नी गौरां को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता और वह पार्टी में चली जाती है।

"गौरां : अब यह क्या ?

कलाकार : नहीं कुछ भी नहीं। यूँ ही सोच रहा था , आज मैं गरीब हो गया।

---

[87] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पैसा , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954 , पृ.66

गौरां : गरीब हो गये , ऊँह !(चेक निकाल कर दिखाती है) यह देखिए पचास हजार । मोटर आयेगी, अच्छे – अच्छे कपड़े आयेंगे, आपके लिये उम्दा - उम्दा कन्वास, रंग और ब्रुश लाऊंगी , आप अच्छी – अच्छी तस्वीरें पेंट करेंगे , फिर वह बिकेंगी, और हम अमीर हो जायेगे , हमारे बंगले होंगे, ठाठ होगा।

कलाकार : गौरां कला की दौलत पैसा नहीं , प्यार है।" [88]

जिस भारतीय परिवार में पति- पत्नी एक सिक्के के दो पहलू कहे जाते हैं और दोनों को एक-दूसरे की भावनाओ और इच्छाओं का सम्मान कराना सिखाया जाता है। वहीं **गौरां** अपने पति के इच्छा के विरुद्ध उसके बनाये कृतियों को सिर्फ रुपयों की प्राप्ति हेतु बेच देती है। ऐसा नहीं है कि गौरां के पास रुपयों की कमी है और जीवन निर्वाह हेतु ऐसा करना उसकी मजबूरी है। यहाँ सिर्फ गौरां की धन लालसा पति के भावना से अधिक महत्वपूर्ण हो गई।

(4.3) दौलत ही सब कुछ

वर्तमान दौर अर्थ प्रधान होने के कारण आज लोग परिवार के दु:ख सुख में शामिल होने से ज्यादा महत्व दौलत को देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज मनुष्य के जीवन में मानवीय संवेदना और एक – दूसरे के प्रति पारिवारिक लगाव इस कदर समाप्त हो गया है कि धन के लालच में, बेटी के घर से बार – बार फोन आने के बावजूद एक पिता अपनी ही बेटी के घर उस समय जाना मुनासिब नहीं समझता जब उसका अपना दामाद गम्भीर बीमारी से अपनी अन्तिम साँसे गिन रहा है। धनप्राप्ति की महत्वाकांक्षा के सामने दम तोड़ती इसी पारिवारिक प्रेम का एक झलक '**पैसा**' नाटक में दिखलाई पड़ता है। जब शान्तिलाल अपने मरते हुए दामाद को सिर्फ इसलिए देखने उसके घर नहीं जाता क्योंकि वह अपने घर रहकर अपने मित्र कालिदास को बरबाद कर स्वयं व्यवसाय की दुनिया का शंहशाह बनना चाहता है । जबकि इसी दौरान उसकी पत्नी सुशीला अपनी बेटी इन्द्रा के घर से शान्तिलाल को बार – बार फोन करती है। एक बार जब सुशीला फोन करती है तो –

"शान्तिलाल : (काले फ़ोन की घंटी बजती है, शान्तिलाल फ़ोन उठाता है और क्रोध से

[88] रामानंद सागर और पृथ्वीराज कपूर, कलाकार , पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,सितम्बर 1951, पृ.78

कहता है) – कहा तो अभी आता हूँ। (फ़ोन बन्द करता है)

कालिदास : अरे हाँ शान्तिलाल (गिलास पीकर हिचकी) जानते हो आज बाजार किधर जायेगा – डाउन....मंदी (काले और लाल दोनों फ़ोन की घंटी बजती है , शान्तिलाल फोन उठाता है)

शान्तिलाल : (लाल फ़ोन पर) मुनीम जी – हाँ हाँ हैं (कालिदास से तुम्हारा टेलीफ़ून है । (काले फ़ोन पर) हाँ हाँ आता हूँ।(फौरन फ़ोन बंद कर देता है।

.....

सुशीला : मैंने इतनी बार फ़ोन किया आप आये क्यों नहीं ?(शान्तिलाल अपने धुन मे हँस रहा है)। आप हँस रहे है, वहाँ डॉक्टर जवाब दे गया है, मैं आपको लेने आई हूँ , चलिये। (शान्तिलाल फिर जोर से हँसता है) ..... (काले फ़ोन की घंटी बजती है , सुशीला फ़ौरन लपक कर टेलीफून की तरफ जाती है और रिसीवर उठाकर सुनती है। उसका मुंह एकदम पीला पड़ जाता है। वह कह उठती है) सेठ जी गये! इन्द्रा विधवा हो गई !!

शान्तिलाल : (हंसते हंसते एक दम रुकता है) हैं ?

सुशीला : मेरी बच्ची ! मेरी बच्ची का सुहाग उजड़ गया !!छाती पीटती है , शान्तिलाल "नहीं , नहीं" कहता हुआ टेलिफून की तरफ लपकता है।)"[89]

(4.4) स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार

प्राचीनकाल से ही भारतीय परिवार में स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता रहा है। उसे सदियों से पुरुषों की अधीनता तथा सामाजिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है।भारत में विभिन्न धर्मों व उन पर आधारित गृहस्थ नियमों ने स्त्रियों को पुरुषों से हीन स्थान दिया है। भारतीय परिवार में यह कभी भी

[89] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.100-101

नहीं माना गया कि पति से संबंध के अलावा स्त्रियों का अपना अलग व्यक्तित्व भी है। प्राय: यह देखा जाता है कि यदि स्त्रियां पुरुषों के बात में कुछ बोल भी दे तो पुरुष उसके ऊपर तुरंत चिल्लाने लगता है क्योंकि उसकों लगता है कि स्त्रियों का काम सिर्फ रसोई देखना और बच्चे पालना है न कि पुरुषों की बराबरी करना। ऐसा ही एक चित्रण '**नवान्न**' नाटक में भी देखने को मिलता है जहाँ **राधिका** का पति **कुंज** उसके ऊपर इसलिए चिल्लाने लगता है क्योंकि वह कहती है कि परिवार में प्रतिदिन कितना चावल लगता है , इसका हिसाब कभी किया है आपने। पत्नी का यह प्रश्न उसे अपना अपमान महसूस हुआ और कुंज अपने छोटे भाई निरंजन के समक्ष ही अपनी पत्नी **राधिका** को चिल्लाते हुए कहने लगा –

"कुंज : नहीं जरा देखो लच्छन ! सीधी तरह कह देती कि वह धान निबट गया। सो नहीं....औरत – जात की जे चटाक – चटाक बातें सुनकै मेरा एड़ी से चोटी तक सारा तन जल उठै। जरा भी बरदास नहीं होवै।.....काम की न काज की दो सेर अनाज की , ऊपर से - ।"[90]

स्त्रियों को केवल रसोई तक सीमित रखने वाले ऐसे ही पुरुष मानसिकता का एक दृश्य '**पैसा**' नाटक में भी चित्रित किया गया है। जब शान्तिलाल अपनी बेटी इन्द्रा का विवाह पचपन वर्षीय सेठ से करने के लिए कहता है तो इन्द्रा की माँ सुशीला बहुत परेशान हो जाती है। वह अपने पति शान्तिलाल को समझाने का प्रयास करती है कि अपनी इन्द्रा तो इतने कम उम्र की है तो आप वृद्ध सेठ से उसका विवाह सिर्फ रुपयों के लिए क्यों कर रहे है। तब शान्तिलाल उसे डाँटता हुआ कहता है –

"शान्तिलाल : (झुंझला कर) तो मैं भी उसका बाप हूँ, दुश्मन नहीं। हर बात में झक झक, हर बात में मीन मेख। जाओ अपना चूल्हा चौका देखो, जो तुम्हारा काम है।"[91]

अब सवाल यह उठता है कि जिस माँ ने अपनी बेटी को नौ माह गर्भ में रखा, उसे पाल पोस कर इतना बड़ा किया। इस पुरुष मानसिकतावादी समाज मे उसे इतना भी अधिकार नहीं कि वह अपनी ही बेटी के भविष्य के बारें में पिता द्वारा लिये गये गलत निर्णय का विरोध भी कर सके।

---

[90] नेमिचन्द्र जैन (अनु.), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 25

[91] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पैसा , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई,प्रथम संस्करण , जनवरी 1954, पृ.67

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय परिवार की यह बहुत बड़ी समस्या है जहां स्त्रियों को किसी बात में बोलने का भी अधिकार नहीं दिया जाता। यदि कोई स्त्री किसी महत्वपूर्ण बात को बोल भी देती है तो उसे पुरुषों द्वारा ऐसी नजर से देखा जाता है जैसे उसने कोई अपराध कर दिया हो। यह दृष्टिकोण आधी आबादी के लिए उचित प्रतीत नहीं होती।

इतना ही नहीं किसी – किसी परिवार में तो स्त्रियों के अस्तित्व को ही नकारते हुए उसके साथ मार पीट भी किया जाता है। जैसाकि **'पठान'** नाटक में **शेरखान, दीवान ताराचंद्र और पीरख़ान** के इस संवाद से स्पष्ट है –

"**शेरखान :** हम तुम्हारे शहरी लोग की तरह थोड़ा है। दीवान ताराचंद्र ये शहरी लोग किधर बाहर झगड़ा हो, फ़साद हो कि लड़ाई हो, कि डर के भागता है,घर को भागता है, और घर में आके बीबी जरा बात करे – उसको मारता है मारता है।

पीरख़ान : (चीखकर) ओए , औरत को मारता है ?

दीवान : लानत !

पीरखान : ये तुम शहरी लोग मर्द है कि ज़नख़ा है,कि औरत पे हाथ उठाता है ?"[92]

(4.5) माता – पिता के प्रति संतान की उपेक्षा भाव

परिवार के सभी रिश्ते प्यार, समर्पण, सेवा , आदर इत्यादि पर टिका हुआ होता है। जिस बच्चे के पालन- पोषण और अच्छे भविष्य के लिए माँ – बाप अपना सब कुछ न्यौछावर कर देते हैं। वहीं बच्चे बड़े होकर उनकी उपेक्षा करते है। बूढ़े माँ – बाप को जब उनकी जरुरत होती है तो आजकल की संतान को उनकी सेवा करना बोझ सा लगता है। जैसाकि **'पहेली'** नाटक में दर्शाया गया है कि **रमेश** के पिता उसे शहर में पढ़ने के लिए भेजते है और पूरा खर्च भी देते हैं परन्तु वह उन पैसों से सिनेमा देखता है।लेकिन एक दिन जब वो बीमार होते है तो उसे अपने पास गाँव बुलाते है। यह खबर जानने के बाद भी **रमेश** तुरन्त गाँव

[92]लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पठान , नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण,1974 , पृ. 60

जाने के बजाय दो –चार और शहर में रुककर सिनेमा देखना चाहता है। जैसाकि रमेश और उसके दोस्त सुधाकर के संवाद से स्पष्ट है –

"सुधाकर : (चाय का सिप लेते हुए रमेश से) घर से कोई ख़त आया ,फादर की तबियत कैसी है

रमेश : तबियत तो ठीक नहीं , बुलाया है। दो – चार रोज़ और मधुबाली – गीताबाला.... सॉरी मधुबाला –गीताबाली .....फिर तो गाँव में मरना ही है।

.....

रमेश : (चाय वाले शर्मा जी को पैसे देता है।) और सुधाकर के साथ प्रस्थान करता है।

शर्मा : जियो सपूत, बाप वहाँ बीमार पड़े हैं , साहबजादे यहाँ मधोबाली , गीताबाला की जनम पत्तरियाँ तैयार कर रहे हैं।"[93]

यह किसी भी माँ – बाप के लिए कितना दु:खदायी होता कि वो जिस औलाद के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिये। आज वही औलाद जरुरत पर उनका सहारा बनने से अधिक अपने एशो - आराम को महत्व दे रहा है। इसके साथ ही साथ पिता के मेहनत की कमाई को पढ़ाई पर न लगाकर सिनेमा पर व्यर्थ व्यय कर रहा है।

(4.6) नवचेतना और पीढ़ी अन्तराल

यह जरुरी नहीं कि हमेशा माँ- बाप ही अपने औलाद से दु:खी और परेशान हो। कभी- कभी माँ – बाप के जिद्द और उनके अहं के कारण बच्चे भी परेशान हो जाते है। हमेशा यह आवश्यक नहीं कि माँ –बाप के द्वारा लिया गया सभी निर्णय सही ही हो। आज की पीढ़ी पढ़ लिख कर अपने जीवन को अपने अनुसार व्यतीत करना चाहती है, अपना जीवनसाथी स्वयं चुनना चाहती है ,जो शायद हमारे पूर्व की पीढ़ी को पसंद नहीं है। वह चाहते है कि बच्चे उनके इच्छानुसार जीवन जिये, उनके प्रत्येक फैसले को मील का पत्थर समझ कर स्वीकार करें। पूर्व की पीढ़ी चाहती है कि उनके बच्चे विवाह भी उसी से करे, जिसको उन्होने चुना है फिर चाहे उनका यह चुनाव गलत ही क्यों न हो। उनके गलत चुनाव को यदि बच्चे अस्वीकार कर

[93] राजेन्द्र रघुवंशी , पहेली, विश्व साहित्य प्रकाशन, आगरा , पृ.15-16

देते हैं तो, बच्चों को अपने घर से निकल जाने की धमकी भी देते हैं। इसी पीढ़ी के वैचारिक अन्तराल को **'पैसा'** नाटक में दिखाया गया है। इसमे पिता –पुत्र के पीढ़ियों के मध्य बदलते वैचारिक भिन्नता को दर्शाया गया है। जहाँ पिता धन को महत्व देता है तो पुत्र प्रेम को। पिता शान्तिलाल संपत्ति के लालच में अपनी बेटी इन्द्रा का विवाह पचपन वर्षीय वृद्ध सेठ से करना चाहता है जबकि शान्तिलाल का पुत्र और इन्द्रा का भाई मोहन, अपनी छोटी बहन इन्द्रा का विवाह उसके सहपाठी, प्रेमी और मंगेतर बिहारी से ही करना चाहता है। बिहारी और इन्द्रा की मंगनी स्वयं शान्तिलाल ने की थी परन्तु अब सिर्फ संपत्ति के लालच में इन्द्रा की मंगनी बिहारी से तोड़कर वृद्ध सेठ से करना चाहता है। पिता के गलत निर्णय का विरोध करता हुआ मोहन शान्तिलाल से कहता है –

"मोहन : तो आप यह निर्णय कर चुके हैं?

शान्तिलाल : अन्तिम और आखिरी निर्णय।

मोहन : तो आपका यह निर्णय पहाड़ बन के इन्द्रा के सिर पर गिरेगा, उसकी सब आशायें कुचली जायेगी, उसे जीवन भर लहू के आँसू रोने पड़ेंगे। पिता जी अपने निर्णय पर फिर से विचार कीजिए। आप निर्णय करते समय यह भूल गये कि वह बिहारी से प्रेम करती है।

शान्तिलाल : मैं धन के सामने प्रेम का कोई महत्व नहीं समझता मोहन।"[94]

भारतीय समाज के अधिकांश परिवारों में देखा जाता है कि आज भी एक ही परिवार में कई पीढ़ियाँ साथ- साथ रहती है। ऐसे परिवार में एक ही मुद्दे पर भिन्न – भिन्न मत होना स्वाभाविक है। समय के अनुसार जैसे – जैसे लोग शिक्षित हो रहे हैं , वैसे – वैसे उनके विचारों में भी परिवर्तन हो रहे है। यद्यपि यह स्वाभाविक बात है कि शान्तिलाल अपने बेटी के प्रेमवश उसके भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए ही संपत्ति को महत्व देते हुए वृद्ध सेठ से उसकी शादी करवाना चाहता है परन्तु फिर भी कहीं न कहीं यहां मोहन ज्यादा सही प्रतीत होता है क्योंकि सिर्फ धन के आधार पर उस व्यक्ति से विवाह करना बिल्कुल भी उचित नहीं है , जिसे इन्द्रा न तो जानती है और न ही प्रेम करती है। और भारतीय परम्परा में तो विवाह के मूल में ही प्रेम होता। शायद इसीलिए इसे दो दिलों का बंधन कहते है। लेकिन इस विवाह हेतु शान्तिलाल का

[94] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर, पैसा, पृथ्वी थिएटर प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954 पृ. 68

अपना निर्णय आखिरी बताना, पिता – पुत्र के रिश्ते में दरार की वजह बन गई। इसी प्रकार पीढ़ियों वैचारिक अन्तर आजकल परिवारिक समस्या का रुप धारण कर रही है।

कभी – कभी यह भी देखने को मिलता है कि सिर्फ पिता के अहं और जिद्द के कारण ही पिता – पुत्र के रिश्तों में दरार नहीं पड़ते बल्कि पिता के किसी बुरी आदत की वजह से भी बच्चे उनसे परेशान हो जाते हैं । जैसाकि **'किसान'** नाटक में देखने को मिलता है – जहाँ जोधा के जुआँ खेलने की बुरी आदत से उसका बेटा पूरन बहुत दु:खी और परेशान है क्योंकि जोधा जुआँ खेलने के लिए घर की सारी जमीन – जायदाद, बाग –बगीचा इत्यादि ठाकुर और साहूकार के नाम लिख दे रहा है। इतना ही नहीं जोधा अपने बेटे पूरन के ससुराल में जाकर उसकी सास से भी दो सौ रुपये उधार लाकर उसे भी जुएँ में हार जाता है। जोधा के इस करतूत का पता तब चलता है जब पूरन के सासू माँ की चिठ्ठी पूरन के पास आती है। जैसा कि दृष्ट्व्य है –

"(**पूरन चिठ्ठी पढ़कर अपने पिता जोधा को आते देख उससे कहता है)**

पूरन : नाक कटवा आये।

जोधा : क्या हुआ ?

पूरन : नाक कटवा आये, अब पूछते हो क्या हुआ **?**

जोधा : कहाँ नाक कटवा आये ?

पूरन : मेरी ससुराल में, और कहाँ

जोधा : झूठ है।

पूरन : झूठ है ? लो यह चिठ्ठी

जोधा : क्या लिखा है चिठ्ठी में?

पूरन : तुम्हारी काली करतूत ! पूछते हो क्या लिखा है ?

[क्रोध में बाप की ओर दौड़ता है, जैसे गला दबाना चाहता हो]

जोधा : दूर रह, आगे न बढ़ नहीं तो समझ ले। मेरा ही जाया.....।[95]"

पिता के इस करतूत से पूरन को अपमान महसूस होता है। उसे लगता है कि पिता की वजह से रिश्तेदारों और बिरादरी के मध्य उसकी इज्जत नीलाम हो रही है। पिता के इस प्रकार के कार्यों से भी पिता और पुत्र के रिश्ते में दरार उत्पन्न होता है,जो प्रत्येक परिवार के लिए एक बहुत बड़ी समस्या है।

अन्तत: कहा जा सकता है कि आज का युग अर्थप्रधान हो गया है। वर्तमान समय में अर्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है। इस बढ़ते आकर्षण के कारण आज मानवीय संवेदना का दमन होता जा रहा है। अर्थतंत्र सारे रिश्ते- नातों को कुचलता जा रहा है। आज व्यक्ति अर्थप्राप्ति के लिए अपनों के साथ ही अनुचित करने में पीछे नहीं रहता।

अर्थतंत्र के इस दुनिया में अर्थ का महत्व इतना बढ़ गया है कि वह हमारे पारिवारिक संबंधों को ही नहीं अपितु हमारे संवेगों को भी प्रभावित करता है। इतना ही नहीं इसी अर्थ के चक्कर में आज हमारी सूक्ष्म और कोमल भावनाएँ भी बदल गई हैं। आज प्रेम, दया, सम्मान और प्रार्थना तक में अर्थ का प्रवेश हो चुका है। अर्थ के इसी महत्व के कारण आज सम्बन्धों से मानवीय तत्व और प्रेम गायब होने लगा है। शायद इसी कारण लोगों के मन से पारिवारिक लगाव खत्म होता जा रहा है। आज के दौर में लोग अपनों के जिन्दगी और मौत से ज्यादा महत्व धन को देने लगे है। जो पारिवारिक रिश्तों के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है। यही अर्थ ही परिवार के सदस्यों के मध्य अनेक समस्याओं का कारण है। जिसे इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने अपने नाटकों के माध्यम से बड़ी ही सूक्ष्मता से लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रुप में यह कहा जा सकता है कि '**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' द्वारा मंचित किये गये नाटकों की चेतनात्मक प्रकृति बहुआयामी है। इन दोनों मंडलियों के लिए नाटक लिखने वाले नाटककारों ने अपने नाट्य कथ्यों के चुनाव में बड़ी सजगता का परिचय देते हुए अपने पूर्व नाटककारों के सीमित दायरे से स्वयं को मुक्त रखा। '**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सिर्फ मनोरंजन हेतु नाटक के दायरे से स्वयं को निकालते हुए जनवादी प्रतिबद्धता को ध्यान में रखकर ब्रिटिश अत्याचार, भारतीय व्यापारियों और जमाखोरों द्वारा शोषण, इनके शोषण और कालाबाजारी द्वारा निर्मित अकाल और अकाल से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की समस्याओं को अपने नाटक में स्थान दिया। इसके साथ ही साथ इन नाटककारों ने देश में चल रहे स्वाधीनता आन्दोलन को भी प्रमुखता प्रदान करते हुए देश विभाजन और उस विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिकता, साम्प्रदायिकता

[95] शील, किसान, संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति 1957 , पृ.55

से उपजे दंगे, इन दंगों की आड़ में महिलाओं की लुटती अस्मत, हिन्दु- मुस्लिम के जलते घर, घर के राख हो जाने के कारण शरणार्थी जीवन जीने को विवश लोगों की स्थिति इत्यादि समस्याओं को भी नाटक के केन्द्र में रखा।

इन नाटककारों ने अपने सामाजिक सरोकारों का निर्वाह करते हुए समाज सुधार के दौरान उठाये गये मुद्दों को भी अपने नाटक के माध्यम से स्वर प्रदान करने का प्रयास किया। इसी प्रयास का परिणाम है कि विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा का स्वर इनके नाटकों में बुलंद है। इसके साथ ही साथ बहुविवाह, जातिप्रथा इत्यादि के प्रति विरोधी स्वर को अपने नाटकों की मनोभूमि बनाया।

अपेक्षित स्थितियों के अभाव तथा अनपेक्षित स्थितियों की उपस्थिति के टकराव एवं उस संघर्ष से जूझते हुए व्यक्ति के खण्ड – खण्ड होते व्यक्तित्व को अनेक स्तरों पर इन नाटककारों के नाटकों में अभिव्यक्ति मिली है। वैयक्तिक समस्याओं , व्यक्तित्व के विघटन, अप्रतिष्ठा , अस्तित्वहीनता तथा स्वछंद आचरण में दायित्व वहन के बोझ तथा अहम्मन्यता के प्रश्न को इन नाटककारों नें बड़ी ही सूक्ष्मता से उठाया है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजेन्द्र रघुवंशी का नाटक **'पहेली'** है।

इप्टा एवं **पृथ्वी थिएटर** के कुछ नाटककारों ने तत्कालीन अर्थतंत्रीय युग का ताना बाना भी अपने नाटक में बुना। मनुष्य के भीतर से समाप्त होती मानवीय संवेदना को इन नाटककारों ने बड़ी ही सूक्ष्मता से दर्शाया है। आज मनुष्य के लिए माँ- बाप, बेटा- बेटी, भाई – बहन, पति- पत्नी, रिश्ते – नाते आदि से बढ़कर अर्थ महत्वपूर्ण हो गया है। इसी अर्थप्राप्ति के लिए मनुष्य किस तरह अपराधीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है ? किस तरह अपनों को ही प्रताड़ित और दु:खी कर रहा है ? इन सभी तत्वों की पड़ताल इन नाटककारों ने अपने नाटकों में करने का प्रयास किया है।

आज भारतीय सभ्यता का स्थान धीरे – धीरे पाश्चात्य सभ्यता ग्रहण कर रहा है जिसके परिणामस्वरुप पीढ़ी संघर्ष प्रारम्भ हो गया है। पूर्व की पीढ़ी और आज की शिक्षित पीढ़ी में वैचारिक मतभेद उत्पन्न हो गये है, जो मानव के विकास में बाधा उत्पन्न कर रही है। अत: हम कह सकते हैं कि **'इप्टा'** एवं **'पृथ्वी थिएटर'** के नाटककारों ने अपने तत्कालीन परिवेश के यथार्थ को बड़े ही सूक्ष्मता से अपने नाट्य साहित्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जिसे एक सराहनीय कदम कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का नाट्य शिल्प

'इप्टा' एवं **'पृथ्वी थिएटर'** के नाटकों के नाट्य शिल्प पर चर्चा करने से पूर्व सर्वप्रथम यहाँ हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि **शिल्प क्या हैं**? इस प्रयास की वजह यह है कि किसी भी साहित्यिक विधा के सर्जनात्मक तथा संगठनात्मक पक्ष के दृष्टिकोण से शिल्प अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। **'शिल्प'** शब्द अंग्रेजी भाषा के **'टेकनीक' शब्द** का पर्याय है। जिसका अर्थ होता है – 'तकनीक', 'प्रक्रिया', 'प्रविधि', 'कौशल', 'कला प्रवीणता' आदि।

'शिल्प' शब्द को पारिभाषित करते हुए नाट्य समीक्षक **डॉ. नरनारायण राय** ने लिखा है कि – **"शिल्प है अभिव्यक्ति का कौशल। अपनी बात को अधिक से अधिक प्रभावशाली रुप में संप्रेषित करने के लिए जो विधियाँ अपनाई जाती हैं, वही टेकनीक है, वही शिल्प विधान है।"**[96] कहने का तात्पर्य यह है कि शिल्प किसी रचना विधि का नाम है। जो रचनाकार के अंतर्मन में निर्मित होता है। रचनाकार अपने कृति सृजन के प्रारम्भिक अवस्था से लेकर उसकी अन्तिम अवस्था तक जिन विभिन्न प्रकार की विधियों एवं प्रक्रियाओं को काम में लाता है, वे सभी विधियाँ शिल्प की संज्ञा से पहचानी जाती हैं। शिल्प के महत्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि बिना इसके कोई भी साहित्य परिपूर्ण नहीं हो सकता।

शिल्प के अन्तर्गत कथानक, चरित्र-चित्रण, भाषा - शैली, संवाद योजना , देशकाल-वातावरण आदि का समावेश होता है। इसी को आधार बनाकर कोई भी रचनाकार अपनी कृति का सृजन कार्य करता है। जैसाकि कहा जाता है युग एवं परिस्थिति के अनुसार साहित्य लेखन भी परिवर्तित होता रहता है। अत: ज़ाहिर सी बात है कि लेखन परिवर्तन के साथ ही शिल्प में भी परिवर्तन सम्भव है। शायद इसीलिए समय –समय पर रचनाकार परम्परागत शिल्प के स्थान पर नये शिल्पों की तलाश करते रहते हैं।

---

[96] नरनारायण राय, नाट्य विमर्श, पृ.13

अब प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य के प्रत्येक विधाओं का शिल्प एक समान होता है ? तो इसका उत्तर है नहीं, साहित्य के प्रत्येक विधाओं का अपना विशेष शिल्प होता है जैसे – कविता का शिल्प, कहानी और उपन्यास के शिल्प से भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में मन में यह सवाल उत्पन्न होता है कि क्या नाट्य विधा का शिल्प भी अन्य विधाओं से भिन्न है ? यदि हाँ तो नाट्य शिल्प क्या है ?

यदि हम नाटक की बात करें तो हम पाते हैं कि नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य ही नहीं अपितु उससे बढ़कर कुछ और भी है क्योंकि नाट्य रचना की प्रक्रिया नाटककार द्वारा लिखे जाने तक ही सीमित नहीं होती बल्कि उसका पूर्ण प्रस्फुटन और संप्रेषण रंगमंच पर ही जाकर होता है। अपने रंगमंचीय गुण के कारण ही नाटक साहित्य की अन्य विधाओं से एकदम भिन्न है। अत: स्वाभाविक सी बात है कि मंचीयता के कारण इसका शिल्प भी अन्य विधाओं से थोड़ा भिन्न होगा। इसकी अपनी विशिष्ट रचना पद्धति होती है। जिसके माध्यम से नाटककार अपने विचारों को नाटकीय ढंग से एक सूत्र में पिरोता है। यद्यपि अन्य साहित्यिक विधाओं की भांति नाटक में भी शिल्प के अन्तर्गत कथानक, चरित्र – चित्रण, भाषा शैली, संवाद योजना, देशकाल और वातावरण आदि होते है परन्तु इन सब के अतिरिक्त नाटक में जो विशेष बात है, वह है – इसका रंगमंचीय या अभिनेय शिल्प। जिसके अन्तर्गत नाटककार, नाटक के रुप एवं आकार, दृश्यों की सजावट और उसका उचित संतुलन, वेश-भूषा , प्रकाश व्यवस्था तथा ध्वनि प्रबंधन आदि का पूरा ध्यान रखता है। इन सभी बिन्दुओं के आधार पर ही नाटक की दीवार खड़ी होती है। जिसे सम्पूर्णता में नाट्य शिल्प की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसे ही भारतीय विद्वान नाटक के तत्व कहते हैं। इसी नाट्य शिल्प की चर्चा करते हुए नाट्य समीक्षक **डॉ. गोविंद चातक** ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि - **"वस्तुत: हम नाटक की संरचना की बात करते है तो उसको निर्मित करने वाली विभिन्न उपसंरचनाओं , बुनावटों,गठन आदि को भुलाया नहीं जा सकता। नाटक में कथानक, चरित्र – चित्रण, स्थिति, भाषा सन्दर्भ , विषयवस्तु , भावतंतु, विचार और रंगतत्व आदि सभी की अपनी संरचना होती है और इस संरचना की भी छोटी – छोटी संरचनाएँ। इनका परस्पर संबंध और संबंधों का सामंजस्य और अन्विति नाट्यकृति को साकल्य प्रदान करता है।"**[97] कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक के उपर्युक्त ये सभी तत्व एक- दूसरे के साथ जुड़े होते हैं और एक- दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। कथानक नाटक का घटनाक्रम होता है। इस घटनाक्रम में चरित्र की भाव

[97] डॉ. गोविंद चातक, नाटक की साहित्यिक संरचना, पृ. 31

चेष्टाएँ जुड़ जाती है। संवाद इस घटनाक्रम को गति देता है तो पात्रों की क्रियाएँ- प्रतिक्रियाएं रंगनिर्देश द्वारा बतायी जाती है।

यदि हम '**इप्टा**' एवं '**पृथ्वी थिएटर**' के इतिहास को देखते है तो हमें ज्ञात होता है कि इन दोनों के स्थापना का उद्देश्य नाटक को मनोरंजन के धरातल से उतार कर यथार्थ की धरातल पर लाना था। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों का मक़सद नाटक और रंगमंच को हथियार के रुप में इस्तेमाल करते हुए, नाटक को थिएटर कक्ष से बाहर निकाल कर आम जनता के खेत –खलिहान, गली – चौगान तक उसकी पहुँच को बनाना था। इसके साथ ही साथ भारतीय जनता को ब्रिटिश नीतियों से परिचित कराते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए भी जागरुक करना था। अत: ज़ाहिर सी बात है कि इतने महत्वपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इन्हे शिल्प स्तर पर जटिल प्रयास भी करने पड़े होगें।

यदि हम हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास को देखते हैं तो हम पाते हैं कि इप्टा (25 मई 1943ई.) एवं पृथ्वी थिएटर (15 जनवरी 1944ई.) के स्थापना के पूर्व तक हिन्दी नाटक सृजन के धरातल पर अधिकांशत: पारम्परिक कथ्य और शिल्प से ही जुड़ा रहा तथा हिन्दी रंगमंच का विकास तो कई अवरोधों का शिकार होता रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक के प्रारम्भ तक पारसी थिएटर को छोड़कर हिन्दी का अपना कोई स्थायी एवं सुदृढ़ रंगमंच न बन सका था। इन परिस्थितियों के बावजूद **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के स्थापना के साथ ही नाटक एक नया रुप लेकर जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ। नाटक का यह नया रुप ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं से मुक्त था। इस दौरान नाटक सामान्य जनजीवन में अपनी गहरी जड़े रोपने के लिए नए तेवर में दिखाई पड़ता है। यही वह दौर था जब नाटक रंगमंच के सापेक्ष युग जीवन से जुड़ने की सार्थक बेचैनी दिखाकर नये शिल्प को अपनाने का आविष्कार करता दिखाई पड़ता है। अत: इसी दौर से नाटक पारम्परिक स्थापनाओं के साथ-साथ नये शिल्प की तलाश में आगे की यात्रा पर निकल पड़ता है।

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि नाटक रंगमंच को जन्म देता है और रंगमंच नाटक को जीवन। नाटक और रंगमंच वस्तुत: एक – दूसरे के पूरक हैं। रंगमंच के अभाव में नाटक के दृश्य होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती और नाटक दृश्यकाव्य से परे हो जायेगा। इसी दृष्टिकोण के तहत ही **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के स्थापना के साथ ही बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक से नाटक के मनोभूमि में नए – नए रोचक अनुभवों का समावेश होने लगा था। इसका कारण यह था कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** किसी व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि अनेक विद्वतजन के परिश्रम का परिणाम था। ये सभी विद्वान भिन्न –भिन्न क्षेत्रों जैसे – संगीत

, गायन, नृत्य, लेखन, चित्रकला इत्यादि से संबंध रखते थे। अत: स्वाभाविक सी बात है कि जब एक संस्था से अनेक क्षेत्र के लोग जुड़ें होगें तो सभी विद्वतजनों की अपनी भिन्न- भिन्न शैली और अनुभव भी रहा होगा। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि पृथ्वी थिएटर की स्थापना तो अकेले पृथ्वीराज कपूर ने किया था। तो यहाँ मैं स्मरण कराना चाहूँगी कि यद्यपि उन्होने इस थिएटर को अपने अकेले दम पर स्थापित किया था परन्तु पृथ्वीराज कपूर अपने सहयोगियों के साथ ही इसमें काम करते थे। इसमे खेले गये अधिकांश नाटक पृथ्वीराज कपूर के साथ – साथ उनके अन्य सहयोगियों ने लिखा था। पृथ्वीराज कपूर थिएटर को अपनी निजी सम्पत्ति नहीं मानते थे बल्कि उसे एक परिवार के रुप में देखते थे।

जैसाकि हम सभी जानते हैं कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** अपने मंचन के माध्यम से नाटक को कुलीन वर्ग के सीमित रेखा से बाहर निकाल उसे आम जनता तक पहुँचाने का प्रयास कर रहे थे। ये दोनों मंडलियाँ इस बात को बहुत बेहतरीन तरीके से समझ रहे थे कि उनका यह प्रयास तभी सफल होगा जब उनके नाटक आम जनता के सवालों से टकराने में सक्षम होगें। इसी दृष्टिकोण को केन्द्र में रखकर इनसे जुड़े नाटककारों ने अपने नाटक के लिए ऐसे कथ्यों का चुनाव किया जो आम जनता के तत्कालीन समस्या से टकराने की काबिलियत रखते थे। चूंकि ये रंगमंडलियाँ पूरे देश में भ्रमण करते हुए अपने नाटकों का प्रदर्शन करते थे और उस प्रदर्शन के लिए ये जहां भी जाते थे, वहाँ की तत्कालीन समस्याओं को अपने नाटक के केन्द्र में रखते थे। ऐसा करने के पीछे इनका उद्देश्य होता था अधिक से अधिक आम जनता से जुड़ना। और यह जुड़ाव तभी सम्भव था जब हम उनकी मनोस्थिति को मंचन के माध्यम से स्वर प्रदान करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों मंडलियों के नाटक के कथानक के रुप में तत्कालीन समस्या हुआ करती थी।

अब ज़ाहिर सी बात है कि जब नाटक को मनोरंजन के धरातल से उतार कर यथार्थ के धरातल पर, ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता से मुक्त कर और कुलीन वर्ग से बाहर निकाल कर आम जनता के बीच लाया जा रहा था तो यह स्वाभाविक था कि नाटक मे उनकी समस्याओं को कथावस्तु के केन्द्र में रखकर, उसी वर्ग को प्रतिनिधित्व प्रदान करने वाले पात्र, उनकी वेशभूषा, रहन- सहन, खान-पान और भाषा इत्यादि को प्रयोग में लाया जाये जिससे नाटक के मंचन का अपना उद्देश्य पूरा हो सके। अत: इन दोनों मंडलियों के द्वारा नाटक और रंगमंच को एक नया रुप देने के लिए तदनुरुप बन्ध की तलाश में परम्परा का पुनरान्वेषण प्रारम्भ किया गया। जिसके परिणामस्वरुप नयी नाट्य भाषा का आविष्कार हुआ। नाटक के रंगमंचीयता के कारण शारीरिक भाव- भंगिमा को प्रस्तुत करने वाली भाषा को अपनाया गया। शिल्प के स्तर पर अनेक प्रयोग किये जाने लगे। पारम्परिक रुपबन्ध, चरित्र धीरे – धीरे समाप्त होने लगे। कहा जा सकता है कि नाट्य

रचना उन तमाम वास्तविकताओं से प्रेरित एवं संचालित होने लगी जो स्वंतत्रान्दोलन के अन्तिम चरण के दौरान उत्पन्न परिस्थितियों के दबाव के कारण समाज में आर्विभूत होने लगा था।

परतंत्र भारत में मानव निर्मित अकाल और विभाजन के बाद लोगों के जीवन में बड़ी तीव्रता से परिवर्तन आया। भूख से मरते लोग और विभाजन के दौरान होने वाले दंगे, साम्प्रदायिकता, आगज़नी बलात्कार और जन्मभूमि से दूर शरणार्थी के रुप में लोगों की पीड़ा इत्यादि बदले हुए परिवेश ने प्राय: साहित्य के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। अत: व्यक्ति के जीवन में हुए इस बदलाव का प्रतिबिम्ब नाटक में भी अभिव्यक्त हुआ। आम जनता के जीवन में होने वाले इस बदलाव की समग्र अभिव्यक्ति भारतेन्दु और जयशंकर प्रसाद आदि के नाटकों के परम्परागत रचना शिल्प द्वारा सम्भव नहीं था। विभिन्न समस्याओं द्वारा बदली हुई इसी परिस्थिति और मानसिकता को अभिव्यक्त करने में जब पुराना शिल्प समर्थ नहीं हुआ तो पाँचवे दशक में **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** नए शिल्प की तलाश में बेचैन होने लगा क्योंकि नए शिल्प के बिना वह परिवर्तित हुई तमाम परिस्थितियों को व्यक्त नहीं कर सकता था। यही कारण था कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने नाट्य रचना के सिद्धांतो को नये सिरे से पड़ताल कर अपनी रचनाओं में नये प्रयोगों को व्यवहारिक धरातल प्रदान करने का प्रयास किया। इस प्रयास में पुराने शिल्प, तकनीक इत्यादि प्रभावहीन, अनाकर्षक और अनुपयोगी साबित होने लगे। इसी प्रक्रिया के तहत **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा नाट्य रचना और मंचन में नए- नए शिल्पों की तलाश प्रारम्भ हुई। जिस पर यहाँ सूक्ष्मता से दृष्टिपात किया जायेगा।

जैसाकि पूर्व में ही बताया जा चुका है कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों को किसी एक व्यक्ति विशेष ने नहीं लिखा है अपितु इसे विभिन्न विद्वानों द्वारा रचा गया था। अब ज़ाहिर सी बात है कि सभी विद्वानों की अपनी- अपनी भाषा शैली होती है। जो उनके द्वारा की गई रचना में भी कहीं न कहीं स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। अत यहाँ हम नाट्यशिल्प के दृष्टिकोण से **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों पर क्रमवार दृष्टिपात करेगें –

कथानक एवं वस्तु विन्यास

नाटक की रचना में मूलत: कथानक को सबसे महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान अरस्तू कथानक को ही नाटक का प्राण मानता था। भारतीय आचार्यों ने भी कथानक के महत्व को स्वीकार किया है। अब प्रश्न उठता है कि कथानक है क्या ? कथानक को पारिभाषित करते हुए **नेमिचन्द्र जैन** ने अपनी पुस्तक **'रंगदर्शन'** में लिखा है कि –" कथानक मूलत: वह घटना विन्यास है जिसके द्वारा

नाटक की भाव – वस्तु को रुप मिलता है। नाटक का कथानक केवल घटनाओं का समूह मात्र नहीं, वह घटनाओं का ऐसा क्रमबद्ध संयोजन है जो किसी सत्य का उद्घाटन करें, जिसके माध्यम से कथा से सम्बद्ध पात्रों की अनुभूति के स्तर पर इस प्रकार खुलते जायें कि वे स्वयं तथा दर्शक अपने सच्चे स्वरुप की उपलब्धि करें। दूसरे शब्दों में , नाटकीय कथानक की घटनाएँ मनमाने ढंग से एकत्र की हुई नहीं होतीं, बल्कि उनका एक निश्चित क्रम और रुप होता है – निश्चित प्रारम्भ, विकास और अंत होता है। यह क्रम अनिवार्य रुप से कालपरक नहीं होता। नाटक के कथानक की घटनाएँ प्राय: ऐसे स्थल पर प्रारम्भ होती हैं जहाँ किसी न किसी प्रकार का स्थिति परिवर्तन आसन्न हो, और फिर नाटककार के उद्देश्य के अनुरुप आगामी अथवा अतीत की घटनाओं के द्वारा कथावस्तु एक ऐसे चरम बिन्दु तक विकसित होती है जहाँ पहुँच कर पात्रों और दर्शकों दोनों को ही एक नयी भावोपलब्धि होती है। नाटकीय घटना विन्यास और कथानक की यह विशेषता उसे कथा साहित्य के अन्य रुपों से बुनियादी रुप में अलग करती है।"[98]

इप्टा एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों के कथानक के केन्द्र में प्राय: ब्रिटिश शोषण, अकाल, भुखमरी, जमाखोरी, कालाबाजारी, विभाजन, साम्प्रदायिकता, दंगे, आगजनी, बलात्कार इत्यादि घटनाएँ हैं। जिस पर तृतीय अध्याय में विस्तार से चर्चा किया जा चुका है। अब यहाँ पर यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि तत्कालीन इन गम्भीर समस्याओं को कथानक के रुप में ग्रहण करते हुए **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने अपने नाट्यालेख में किस प्रकार के वस्तु विन्यास को अपनाया है। क्योंकि नाटककार चाहे जिस युग का हो उसके विषय में कहा जाता है कि – वह जीवन और जगत से प्राप्त अनुभवों और उसकी अभिव्यक्ति की बेचैनी से निरंतर जूझता रहता है। इस प्रक्रिया में वह उपलब्ध नाट्य शिल्प पर गहराई से विचार करके नये शिल्प रुपों का अन्वेषण करता रहता है। अत: अभिव्यक्ति के कई रुप, ढाँचे और मसविदे तैयार करता रहता है। परन्तु यह जरुरी नहीं कि उसका तैयार ढाँचा या आलेख उसे अन्तिम संतुष्टि दे। वह बार – बार उसमे परिवर्तन करता रहता है। नाट्य रचना प्रक्रिया का यह क्रम अनवरत क्रियाशील होकर अपने अनुकूल शिल्प का चुनाव करता रहता है। इस प्रकार संवेदना से लेकर अभिव्यक्ति के स्तर तक रचना प्रक्रिया से जूझकर आधुनिक नाटक जो वस्तु विन्यास प्राप्त करता है, वह अपनी मौलिकता लिये होता है। वस्तु विन्यास के स्तर पर आधुनिक नाटकों के इसी मौलिकता को नाटकों के प्रसिद्ध समीक्षक **नर नारायण राय** ने तीन बिन्दुओ में स्पष्ट किया है।

[98] नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, चौथी आवृत्ति,2014, पृ. 26-27

"प्रथम बिन्दु यह है कि आधुनिक नाटककारों ने अर्थ प्रकृतियों, संध्यंगों एवं अंक दृश्य योजना का बहिष्कार कर ऐसे नाटक भी लिखे जिनमे केवल दृश्य संख्याएँ भर हैं।

द्वितीय, ऐसे प्रयोगशील नाटक लिखे गये जिनमे या तो केवल दो अंक होते हैं या जो केवल पूर्वार्द्ध – उत्तरार्द्ध में बँटे होते हैं या बिना किसी विभाजन के निर्देश के बीच केवल मध्यान्तर के संकेत दिये गये होते हैं जो स्वत: नाटक को दो हिस्सों में बाँट देता है।

तृतीय बिन्दु यह है कि आधुनिक नाटककारों ने ऐसे नाटक भी लिखे जिसमे किसी प्रकार का विभाजन नहीं है। नाटक बस शुरु होता है और समाप्त हो जाता है। निर्देशक चाहे तो कहीं भी मध्यान्तर करें या न करें।"[99]

अब हम देखेंगे कि वस्तु विन्यास के स्तर पर **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के लिए नाटक लिखने वाले नाटककार अपनी रचनाओं में पारम्परिक वस्तु विन्यास के साथ – साथ आधुनिक वस्तु विन्यास के रुपों को आत्मसात करने में कितना सफल हुए हैं।

इप्टा के मंचन हेतु नाट्य रचना करने वाले विख्यात रचनाकार **विजन भट्टाचार्य** के कुछ नाटकों में वस्तु विन्यास को लेकर उपर्युक्त परिवर्तन देखने को मिलता है। इन्होंने अपने नाटक '**जबानबंदी' (अन्तिम अभिलाषा)** में अंक दृश्य योजना का बहिष्कार किया है। इस नाटक में इन्होंने अकाल से उत्पन्न भुखमरी को केवल दृश्यों के माध्यम से चित्रित किया है। यह सम्पूर्ण नाटक चार दृश्यों में लिखा गया है।

'**नवान्न**' नाटक में **विजन भट्टाचार्य** ने फिर पारम्परिक शैली को अपनाते हुए इस पूरे नाटक को अंकों और दृश्यों में विभाजित कर लिखा है। इसमे कुल चार अंक है। जिसके प्रथम और दूसरे अंक में पाँच – पाँच दृश्यों को चित्रित किया गया है तथा तीसरे अंक में दो दृश्य और चौथे अंक में तीन दृश्य हैं।

इप्टा के मंचन हेतु **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा लिखित नाटक '**मैं कौन हूँ**' अपने पारम्परिक पद्धति से हटकर, अंकों एवं दृश्यों के बंधन से स्वतंत्र एक ऐसी रचना है जो शुरु होती है और समाप्त हो जाती है। इस नाटक के आलेख स्तर पर कोई विभाजन नहीं है। यह निर्देशक पर निर्भर करता है कि वो मंचन के दौरान मध्यान्तर करता है अथवा नहीं।

[99] शर्मा, (वनबीर प्रसाद), आधुनिक हिन्दी नाटक, अनंग प्रकाशन, प्रथम संस्करण,2001, पृ.154

'मैं कौन हूँ' नाटक की भांति **'जालीदार पर्दे'** नाटक भी है जो हबीब तनवीर की रचना है। इसमे भी अंको एवं दृश्यों का कोई प्रावधान नहीं है अपितु यह नाटक भी प्रारम्भ होता है और समाप्त हो जाता है। नाटककार की तरफ से कोई बंधन नहीं है, निर्देशक चाहे तो मध्यांतर कर सकता है अथवा नहीं।

प्रेमचन्द्र की कहानी **'शतरंज के खिलाड़ी'** को हबीब तनवीर ने नाटक में रुपांतरित करने के दौरान स्वयं को अंको की परम्परा शैली से मुक्त रखा। इन्होने इस कहानी को नाटक का रुप देते समय सिर्फ दृश्यों में विभाजित किया है। इस पूरे नाटक में सात दृश्य है।

इसी प्रकार **माचिनेनि वेंकटेश्वर** द्वारा लिखित एवं **विश्वमित्र आदिल सुब्बाराव** द्वारा अनुदित नाटक **'दलम'** भी आधुनिक वस्तु विन्यास का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। **'दलम'** एकांकी नाटिका है। इस नाटक को नाटककार ने सिर्फ दो दृश्यों में विभाजित करते हुए लिखा है जो कि स्वयं में एक नया प्रयोग था। **राजेन्द्र रघुवंशी** ने भी **'पहेली'** नाटक लिखते हुए पूरे नाटक को केवल दो दृश्यों में ही चित्रित किया है।

नाट्यालेखन के स्तर पर वस्तु विन्यास को लेकर जहाँ एक ओर **इप्टा** के लिए नाटक लिखने वाले नाटककारों ने अधिकांशत: आधुनिक वस्तु विन्यास के रुपों का अनुसरण किया वहीं दूसरी ओर **पृथ्वी थिएटर** के लिए नाटक लिखने वाले अधिकांश नाटककारों ने नाट्य परम्परा के अनुसार अंको और दृश्यों का विभाजन जैसे वस्तु विन्यास के पारम्परिक रुपों को स्वीकार किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इप्टा की भांति पृथ्वी थिएटर के लिए लिखे गये नाटकों में कोई ऐसा नाटक देखने को नहीं मिलता है जिसमे आधुनिक वस्तु विन्यास परम्परा के अनुसार केवल दो अंक हो या सिर्फ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध हो या फिर नाटक प्रारम्भ होकर बिना किसी मध्यांतर के समाप्त हो जाता हो। अपितु इसके विपरीत पृथ्वी थिएटर के नाटककारों ने अपने नाट्य रचना में अंक - दृश्य विधान का खूब अनुसरण किया। जैसाकि इनके नाटकों से स्पष्ट है –

लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर द्वारा लिखित नाटक **'पठान'** सिर्फ अंको में ही विभाजित है। सम्पूर्ण नाटक कुल तीन अंकों में है। इसमे कोई दृश्य विधान है ही नहीं।

पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल और इन्द्रराज आनन्द द्वारा रचित नाटक **'दीवार'** तीन एक्ट में विभाजित कर लिखा गया है। इन एक्ट को भी सीन में विभाजित किया गया है। पहले एक्ट में दो सीन है, दूसरे एक्ट में तीन सीन है और तीसरे एक्ट में एक सीन है। अर्थात् सम्पूर्ण नाटक एक्ट और सीन में विभाजित है।

लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर द्वारा रचित नाटक **'पैसा'** भी एक्ट के रुप में लिखा गया है। इसमे भी किसी दृश्य का उल्लेख नहीं किया गया है।

रामानन्द सागर और पृथ्वीराज कपूर द्वारा लिखित **'कलाकार'** नाटक अंक और सीन में व्यवस्थित किया गया है। यह सम्पूर्ण नाटक तीन अंको में लिखा गया है। इसके पहले अंक में दो सीन है ,दूसरे अंक में भी दो सीन है तथा तीसरे अंक में एक ही सीन है।

पृथ्वी थिएटर का एक प्रसिद्ध नाटक **'आहुति'** है जो लालचन्द्र बिस्मिल की रचना है। इसमे नाटककार ने एक नया प्रयोग किया है। इस नाटक को बिस्मिल जी ने तीन एक्ट में तो विभाजित किया है परन्तु दृश्य विभाजन न करते हुए इस एक्ट को कार्यस्थल के रुप में चित्रित किया है। जैसे इन्होने पहले एक्ट में रायसाहब के घर को केन्द्र में रखा है, दूसरे एक्ट में कथानक के विस्तार के साथ ही रिलीफ कैम्प को चित्रित किया और तीसरे एक्ट में रिफ्यूजी कैम्प का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस नाटक में नाटककार ने प्रत्येक एक्ट को एक नाम दे रखा है।

पृथ्वी थिएटर का अन्तिम और प्रसिद्ध नाटक **'किसान'** है। इसके रचनाकार शील है। इन्होने इस नाटक को तीन अंको में विभाजित किया है।

यदि हम आधुनिक वस्तु विन्यास के शिल्प स्तर पर इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों को देखते हैं तो हम पाते हैं कि आधुनिक वस्तु विन्यास के स्तर पर इप्टा के नाटककार इसके अधिक करीब है जबकि पृथ्वी थिएटर के लिए नाटक लिखने वाले नाटककार पारम्परिक वस्तु विन्यास के अधिक करीब हैं। इसका मतलब यह बिल्कुल भी नही हुआ कि इप्टा पूर्णत: नाट्य परम्परा के वस्तु विन्यास को अस्वीकार करता है और आधुनिक वस्तु विन्यास का अंधानुकरण करता है। इप्टा के भी कुछ नाटक अंकों और दृश्यों के विभाजन के साथ लिखा गया है। उदाहरण के लिए – इप्टा का प्रसिद्ध नाटक **'नवान्न'** है। जो अंकों और दृश्यों में विभाजित है। ठीक इसी तरह पृथ्वी थिएटर भी पूर्णत: पारम्परिक वस्तु विन्यास को ही नहीं अपनाता अपितु आवश्यकतानुसार आधुनिक वस्तु विन्यास को अपनाते हुए अपनी युग चेतना को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए – **'आहुति'** नाटक में यद्यपि एक्ट के आधार पर नाटक को विभाजित किया गया है परन्तु सभी एक्ट को दृश्य के अनुसार एक नाम दे दिया गया है। जो स्वयं में एक नयापन लिए हुए है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही दौर में लगभग एक जैसा उद्देश्य लेकर स्वयं की स्थापना करने वाले दो रंगमंडलियाँ अपने नाटक के वस्तु विन्यास में इतनी भिन्नता क्यों रखती हैं ? इसका कारण यह हो सकता है कि इप्टा अव्यवसायिक रंगमंडली है जबकि पृथ्वी थिएटर एक व्यवसायिक रंगमंडली है। अव्यवसायिक

होने के कारण यदि इप्टा के नाटक अनेक दृश्यविधान से भरे होते तो मंचन के दौरान उन दृश्यों को मंचित करने में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता क्योंकि भिन्न – भिन्न दृश्यों को मंचित करने के लिए अधिक संसाधन की आवश्यकता पड़ती और उस संसाधन की पूर्ति हेतु धन की जरुरत होती। अब अव्यवसायिक रंगमंच होने के कारण इप्टा इतना धन कहाँ से एकत्रित करता। वहीं दूसरी ओर यद्यपि पृथ्वी थिएटर का उद्देश्य नाटक को जनसामान्य तक पहुँचाना था परन्तु इसके संस्थापक पृथ्वीराज कपूर जी पारसी थिएटर से काफी हद तक प्रभावित थे। पारसी थिएटर का तड़क भड़क उन्हे आकर्षित करता था। इसके अतिरिक्त थिएटर स्थापना के वक्त तक पृथ्वीराज कपूर हिन्दी सिनेमा की जानी मानी हस्ती बन चुके थे। जिन्हे अभिनय हेतु पारिश्रमिकी भी प्राप्त होती थी और उस धन का उपयोग ये अपने थिएटर के लिए भी करते थे। अत: इन्हे दृश्य मंचन हेतु संसाधन जुटाने में उतनी तकलीफ नहीं होती थी जितना की इप्टा थिएटर को। शायद इसीलिए इप्टा के नाटककारों को वस्तु विन्यास के नये रुपों की तलाश करनी पड़ी और पृथ्वी थिएटर अपने पारम्परिक वस्तु विन्यास के साथ भी सहज बना रहा।

पात्र एवं चरित्र

अभिनीत विधा होने के कारण नाटक में चरित्र- चित्रण का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। नाटक में कथानक और चरित्र एक –दूसरे के अन्योन्याश्रित होते हैं। क्योकिं नाटक में ऐसे ही घटना विन्यास प्रांसगिक होते हैं जो चरित्रों के व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं और उनकी आत्मोपलब्धि में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार पात्र भी नाटक में अपने कार्य व्यापार द्वारा ही जीवित रहता है और अपने कार्यों के द्वारा ही वह नाटक को आगे बढ़ाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक की घटनाओं को मूर्त साकार रुप देना, उसके यथार्थ को मंच पर उभारना, नाटक के लिखित शब्दों को अपने कार्य व्यापार द्वारा जीवंत बना देने का कार्य पात्र या चरित्र ही करता है।

इप्टा एवं **पृथ्वी थिएटर** के स्थापना वर्ष से ज्ञात होता है कि इन दोनों की स्थापना एक ऐसे दौर में हुआ था जब विश्व स्तर पर द्वितीय महायुद्ध चल रहा था और देश के भीतर स्वतंत्रता संग्राम अपने अन्तिम दौर में था। अत: ऐसे उथल –पुथल के वक्त इन दोनों नाट्य मंडलियों ने अपने नाटक में सामान्य जन की समस्याओं जैसे – ब्रिटिश शोषण, अकाल, भुखमरी, जमाखोरी, कालाबाजारी, साम्प्रदायिकता, दंगे, विभाजन, बलत्कार, विस्थापन इत्यादि को कथानक के रुप में चुना। अब ज़ाहिर सी बात है कि जब समस्या आम जनता से सम्बन्धित थी तो पात्र ऐतिहासिक एवं पौराणिक कैसे हो सकते थे ? कहने का तात्पर्य यह

है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों के पात्र या चरित्र समाज के साधारण लोग थे ना कि कोई दैवीय पात्र और न ही कोई राजा – महाराजा या कुलीन वर्ग से सम्बन्धित अन्य पात्र।

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के लिए नाटक लिखने वाले नाटककार अपने युगीन समस्याओं के प्रति सचेत थे और उन्ही समस्याओं को यथार्थ रुप देने हेतु तदनुरुप पात्रों का गठन भी करते थे। इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों में शिल्प की नवीनता कथावस्तु तक ही सीमित नहीं थी अपितु यह नवीनता पात्र योजना में भी देखने को मिलती है। प्राय: आधुनिक हिन्दी नाटकों में पात्र योजना को लेकर यह विशेषता दिखाई पड़ती है कि यहाँ पात्रों का अपना कोई नाम नहीं होता है बल्कि उन्हे **अ, ब , स, द, ह** अथवा **क, ख, आ, ई** इत्यादि रुपों में जाना जाता है। जैसे- **मणि मधुकर** के नाटक '**रसगन्धर्व**' में पात्र **अ, ब , स, द ,ह** तो '**बुलबुल सराय**' में **क,ख, आ, ई** आदि है। लेकिन यदि देखा जाय तो इस परम्परा की शुरुआत इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के वक्त ही हो गई थी जब इप्टा के मंचन हेतु **ख़्वाज़ा अहमद अब्बास** ने '**मैं कौन हूँ**' नाटक लिखा था। इस नाटक में ख़्वाज़ा अहमद अब्बास ने देश विभाजन के बाद लोगों की मरती संवेदना और धर्म के नाम पर हिन्दू एवं मुस्लिम द्वारा किये जा रहे कृत्यों को बखूबी दर्शाने का प्रयास किया है। '**मैं कौन हूँ**' नाटक में नाटककार ने एक ऐसे पात्र का सृजन कर डाला जो मानसिक रुप से विक्षिप्त है और उसे अपना नाम तक नहीं याद हैं। ऐसे व्यक्ति को अब्बास जी ने कोई नाम न देते हुए तत्कालीन हिन्दू और मुस्लिम लोगों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों पर समान प्रहार करने के उद्देश्य से इस नाटक के प्रमुख पात्र को '**बेनाम आदमी**' से सम्बोधित किया, जो स्वयं में शिल्प के स्तर पर एक नया प्रयोग था। क्योंकि यदि नाटककार ने इस व्यक्ति को कोई नाम प्रदान कर दिया होता है तो वह धर्म के नाम पर होने वाले दंगे को तटस्थ भाव से न दिखा पाते। नाम के अनुसार नाटककार का झुकाव किसी न किसी धर्म की ओर हो ही जाता और वह उस धर्म का पक्षधर साबित कर दिया जाता। जबकि दंगा और अत्याचार तो दोनों धर्म की ओर से किया जा रहा था। अत: ऐसी स्थिति में एक ऐसे पात्र का गठन जिसका न कोई नाम है, न कोई पहचान है और न ही कोई अस्तित्व है फिर भी पूरे नाटक में प्रमुखता से छाया हुआ है। पात्र के रुप में ऐसा प्रयोग शिल्प का उत्कृष्टतम रुप है। यह '**बेनाम आदमी**' मानसिक रुप से विक्षिप्त होते हुए भी पूरे नाटक में तत्कालीन दंगे और अपराध की घटना को परत दर परत खोल कर रख देता है।

किसी मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु नाटककार द्वारा पात्र को कोई विशेष नाम न देने की परम्परा **पृथ्वी थिएटर** के नाटकों में भी देखने को मिलती है। **पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल और इन्द्रराज आनन्द** द्वारा लिखित एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटक '**दीवार**' में भी बिना नाम के पात्र संयोजन किया गया है। यहाँ नाटककारों ने ब्रिटिश सत्ता से प्रत्यक्ष टकराव से बचते हुए अपने नाटक में ब्रिटिश सत्ता के शोषण

एवं अत्याचार को भारतीय जनता के समक्ष दिखाने हेतु ब्रिटिश शोषकों को उद्घाटित तो किया परन्तु उन्हे कोई नाम न देकर **विदेशी औरत, विदेशी 1 और विदेशी 2** नामक संज्ञा से अभिहित किया। यह पात्र योजना शिल्प के स्तर पर तो नवीन था ही। इसके साथ ही साथ सत्ता से बिना टकराये हुए भारतीय जनता को ब्रिटिश नीतियों के प्रति जागरुक करने का नाटककार का उद्देश्य भी पूर्ण हो जाता है।

इप्टा द्वारा मंचित नाटकों में पात्र गठन के शिल्प स्तर पर कई नवीनगत प्रयोग देखने को मिलते हैं। **माचिनेनि वेंकटेश्वर राव** द्वारा लिखित तथा **विश्वमित्र आदिल एवं सब्बाराव** द्वारा अनुदित नाटक **'दलम'** में भी निजाम के तानाशाही दमन और शोषण को अंजाम देने वाले गुण्डों को **फौजी** की संज्ञा से संबोधित किया गया है। इस पेशेवर संबोधन के माध्यम से नाटककार ने एक ऐसे पात्र को रचने का प्रयास किया है जिसका कार्य सामान्य जनता पर बल प्रदर्शन करने के कारण पूर्णत: नकरात्मक है परन्तु नाटककार ने **फौजी** शब्द से अभिहित कर उसके इस नकरात्मक कार्य को भी कहीं न कहीं उचित ठहराने का प्रयास किया है क्योंकि शायद नाटककार को लगता है कि फौजी तो अपने कर्तव्य को करते हुए निजाम के प्रति वफादारी व्यक्त कर देशभक्ति का कार्य कर रहे हैं। कुछ हद तक यह उचित प्रतीत होता है क्योंकि प्राय: आज भी देखा जाता है कि जब जनता अपने जायज़ माँग को लेकर सत्ता के विरुद्ध धरना प्रदर्शन करती है तो भी सत्ता में बैठे लोग सेना के माध्यम से जनता पर बल प्रयोग करा कर उनकी संगठित शक्ति को तोड़ने का प्रयास करते हैं और वर्तमान जनता भी सेना के इस कार्य हेतु सेना से अधिक सत्ता की निंदा करती है। जनता को लगता है कि ये फौजी तो अपने कर्तव्य का निर्वाहन कर रहे हैं। जब देश का निजाम या शासक ही जनता की भलाई के बारें में न सोचकर उनका शोषण कर रहा है तो फिर ये फौजी तो सेवक मात्र हैं, ये क्या ही कर सकते हैं। ये तो सिर्फ अपने निजाम के आदेश का पालन मात्र कर रहे हैं।

पेशे के आधार पर पात्र का संयोजन सिर्फ **इप्टा** के नाटकों में ही नहीं दिखलाई पड़ता वरन् **पृथ्वी थिएटर** के नाटक भी इससे अछूते नहीं हैं। यहाँ तक कि पृथ्वी थिएटर के नाटककार न सिर्फ पात्र की योजना पेशे के आधार पर किये है अपितु इन नाटककारों ने नाटक का शीर्षक ही पेशे के आधार पर रख दिया है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण रामानंद सागर एवं पृथ्वीराज कपूर द्वारा रचित **'कलाकार'** नाटक है। इसमे नाटककार ने मुख्य पात्र को उसके शौक के आधार पर ही गढ़ दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति विशेष की रुचि या शौक को एक पात्र के रुप में सृजन कर देना स्वयं में अनोखापन और नयापन ग्रहण किये हुए है। जिसकी शिल्प के स्तर पर भी जितनी तारीफ़ किया जाये उतनी ही कम है।

इतना ही नहीं **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटकों में समाज की उस विडम्बना को भी पात्र योजना के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है जहाँ महिलाओं को हमेशा दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि का विकास करने वाली स्त्री जो अनेक कष्टों को सहकर भी पुरुष को जन्म देती है, उसका पालन-पोषण कर समाज में उसे एक पहचान देती है और दुर्भाग्य ऐसा कि उसी पुरुष सत्तामक समाज मे उसकी अपनी कोई पहचान नहीं होती। उस स्त्री को विवाह के पूर्व उसके पिता के नाम से और विवाह के उपरांत पति के नाम से एवं बच्चे के जन्म के बाद उस बच्चे के माँ के रुप में जाना जाता है। समाज के इसी आधी आबादी के बृहत्तर संघर्षों को स्पर्श करते हुए **इप्टा** के प्रसिद्ध नाटक '**नवान्न**' और '**ज़बानबंदी**' (**अन्तिम अभिलाषा**) में नाटककार **विजन भट्टाचार्य** नें अपने स्त्री पात्रों को उसी रुप में चुना है। जैसे – '**जबानबंदी**' नाटक में मुख्य पात्र **परान मंडल** की पत्नी को कोई नाम न देकर नाटककार ने पूरे नाटक में उसे सिर्फ **बैंदा की माँ** कहा है। ऐसे ही बैंदा (परान मंडल का पुत्र) की पत्नी को भी उसकी खुद की पहचान न देकर उसे **बैंदा की स्त्री** ही कहा है। जबकि ये दोनों महिला पात्र नाटक के प्रारम्भ से अंत तक नाट्य कथानक को प्रमुखता से उद्घाटित करती हैं। ऐसा ही एक पात्र योजना '**नवान्न**' नाटक मे भी देखने को मिलता है जहां नाटककार नें एक महिला पात्र को **मुन्नी की माँ** कहकर सम्बोधित किया है। नाटककार द्वारा कुछ स्त्री पात्रों को उनका अपना नाम या पहचान न देकर बच्चे या पति द्वारा पहचान करवाने का प्रयास नाट्य शिल्प के स्तर पर एक नया प्रयोग था।जिसके माध्यम से नाटककार अकाल की समस्या के साथ - साथ समाज की उस समस्या से भी टकराने का प्रयास कर रहा था जो किसी एक व्यक्ति की समस्या न होकर समाज की आधी आबादी की समस्या थी।

स्त्री पात्रों को नाम के तौर पर उनकी पहचान न देकर उनके पति के नाम पर पूरे नाटक में उनकी पहचान करवाने का यह शिल्प तत्कालीन दौर में अपने ऊँचाईयों को छू रहा था। क्योंकि '**नवान्न**' और '**ज़बानबंदी**' नाटक की भांति '**शतरंज के खिलाड़ी**' नाटक में भी यह शिल्प देखने को मिलता है। यह नाटक **हबीब तनवीर** द्वारा **प्रेमचन्द्र** के इसी शीर्षक कहानी का नाट्य रुपांतरण है। इस नाटक में भी मुख्य पात्र **मिरजा सज्जाद अली** और **मीर रोशन अली** की पत्नियों का अपना कोई नाम नहीं है अपितु उन्हे पूरे नाटक में **नवाब मिरजा की बेगम** तथा **नवाब मीर की बेगम** के नाम से अभिहित किया गया है।

इप्टा की भांति पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों में भी ये शिल्प देखने को मिलता है कि किसी महिला पात्र को अपना कोई पहचान न देकर उसे पति या बच्चे के नाम या उसके रिश्ते से पहचाना जाता है। **शील** द्वारा लिखित एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक '**किसान**' में इसकी झलक दिखलाई पड़ती है। नाटक

की महत्वपूर्ण महिला पात्र को, जो शिक्षित भी है, कोई नाम न देकर नाटक के प्रारम्भ से अंत तक उसे **पूरन की औरत** संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इप्टा के अधिकांश नाटक सामाजिक यथार्थवाद से जुड़ा हुआ है जिसमे तत्कालीन समस्याओं को प्रखरता से उठाया गया है। यद्यपि इप्टा के नाटकों का कथ्य सामाजिक यथार्थवादी है परन्तु पात्र योजना के स्तर पर प्रतीकात्मकता देखने को मिलती है। **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा लिखित नाटक '**मैं कौन हूँ**' मे हिन्दू – मुस्लिम नामक धर्म आधारित पात्रों को गढ़ा गया है जो सम्पूर्ण नाटक में कहीं भी सशरीर उपस्थित नहीं है परन्तु देश विभाजन के बाद हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी होने का प्रतीक है। हिन्दु और मुस्लिम शब्द रुपी पात्र नाटक में कहीं भी सशरीर उपस्थित नहीं है परन्तु फिर भी पूरे नाटक पर छाया हुआ है। हिन्दू कहने मात्र से मन मस्तिष्क में ऐसा चित्र उभर कर सामने आता है कि अमुक व्यक्ति हिन्दुस्तान का नागरिक होगा और मुस्लिम कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही वह पाकिस्तान का होगा। मात्र एक शब्द से किसी व्यक्ति के देश और उसकी नागरिकता को चिन्हित करने का यह प्रयास शिल्प के स्तर पर एक बड़ा प्रयोग कहा जा सकता है।

तत्कालीन ब्रिटिश युग में ब्रिटिशों के विरुद्ध कुछ भी कहना खतरे से खाली नहीं था। अत: नाटककार अपने कर्तव्य का निर्वाहन प्रतीक रुप में करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटककार ब्रिटिश नीतियों का विरोध और उसके प्रति भारतीय जनता को जागरूक करने का कार्य प्रत्यक्ष रुप से न करके अप्रत्यक्ष रुप से करने का प्रयास करते थे। इसी प्रयास के परिणामस्वरुप पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटक '**दीवार**' में पात्र के योजना स्तर पर इस प्रतीकात्मक शिल्प को नाटककार के द्वारा अपनाया गया है। यद्यपि नाटककार ने मुख्य पात्र को **सुरेश** और **रमेश** के नाम से अभिहित किया है परन्तु दरअसल ये दोनो **जवाहरलाल नेहरु और जिन्ना** के प्रतीक हैं। नाटककार ने बड़े सूक्ष्मता से इन दोनों पात्रों के क्रिया – व्यापार द्वारा इन नेताओं को चिन्हित करने का प्रयास किया है। अत: पात्र का गठन एक साधारण व्यक्ति के रुप में करके उसके क्रिया द्वारा एक असाधारण व्यक्तित्व की झलक दिखाना पृथ्वी थिएटर के लिए पात्र योजना के स्तर पर एक अनूठा और बेहतरीन प्रयोग था।

यदि हम इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों में पात्रों की योजना पर चर्चा करें तो हम पाते हैं एक ही युग दौर होने के कारण इन दोनों के समक्ष समस्याएँ भी समान थी। और उन्ही तत्कालीन समस्याओं को अपने नाटकों की मनोभूमि बनाने के कारण इन दोनों के पात्र भी लगभग समान ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों के पात्र ऐतिहासिक या पौराणिक न होकर सामान्य जन हैं। जिसे हम प्राय: अपने आसपास के

परिवेश में देखते, सुनते रहते हैं। इन दोनों के नाटकों का अध्ययन करने के उपरांत यह ज्ञात होता है कि नाटक में पात्रों की संख्या को लेकर पृथ्वी थिएटर के नाटक इप्टा के नाटक से कुछ आगे हैं। कहने का अर्थ यह है कि पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों में पात्रों की संख्या इप्टा द्वारा मंचित नाटकों में पात्रों की संख्या से अधिक होते हैं। प्राय: पृथ्वी थिएटर के नाटकों में पात्रों की संख्या पन्द्रह से तीस तक है जबकि इप्टा के कुछ नाटकों को छोड़ दिया जाये तो उनके पात्रों की संख्या पाँच से दस तक ही हैं।

भाषा एवं संवाद योजना

भाषा और संवाद किसी भी नाटक के प्राणतत्व होते हैं। नाटक में कथावस्तु का उद्घाटन, देशकाल एवं वातावरण का निर्माण तथा चरित्रों की स्थापना आदि भाषा और संवादों के माध्यम से ही होती है। शब्द और अभिनय के माध्यम से नाटक की भाषा उभरती है और नाटककार के भावों को दर्शकों तक संप्रेषित करती है। **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककार अपने समसामयिक परिवेश और युगबोध के प्रति अति संवेदनशील थे। तत्कालीन समय में लोगों के जीवन में जो बदलाव आया था, शायद इसी कारण इनके नाटककारों ने इतिहास और पुराण के आदर्शों का त्याग कर सामान्य जन की पीड़ा, हताशा, कुंठा, शोषण, भुखमरी, साम्प्रदायिकता, दंगे, बलात्कार तथा अवसरवाद आदि के यथार्थ को विभिन्न स्तरों पर अपने नाटकों में चित्रित किया। मानव के निरंतर अमानव में बदलने एवं विसंस्कृतिकरण के नए दमघोटू परिवेश ने इन नाटककारों को गहरे प्रभावित किया। इस समस्त परिवेश से उपजी तीखी संवेदना को व्यक्त करने के लिए ही **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककार पारम्परिक भाषा शिल्प के साथ – साथ नए भाषा शिल्प की ओर भी उन्मुख हुए। इन नाटककारों ने भाषा शिल्प के स्तर पर विभिन्न भंगिमाओं को अपनाया ।

वैसे तो नाटक की भाषा जितनी सरल, सहज और बोलचाल के करीब होती है उतनी ही नाटककार और दर्शक के लिए सही होती है क्योंकि नाटक केवल लेखन मात्र तक सीमित नहीं होता जिसके परिणामस्वरुप एक शिक्षित वर्ग ही उसका पाठक बन सकता है। नाटक की सम्पूर्णता रंगमंच पर होती है और मंचन के वक्त नाटक के दर्शक प्रत्येक वर्ग के लोग होते हैं फिर चाहे वह पढ़ा – लिखा शिक्षित वर्ग हो या खेतों में काम करने वाले किसान मजदूर वर्ग। यदि नाटक की भाषा जटिल एवं संश्लिष्ट होगी तो वह अशिक्षित दर्शक वर्ग के समझ से परे होगी और इस स्थिति में नाटककार अपने उद्देश्य में असफल हो जाता है।

ध्यातव्य है कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** का उद्देश्य ही था – नाटक को सामान्य जनता तक पहुँचाना। अत: स्वाभाविक सी बात है कि इनके नाटकों की भाषा भी काफी हद तक सरल, सहज और बोलचाल के करीब रही होगी परन्तु ये दोनों रंगमंडलियाँ जिस ब्रिटिश कालीन दौर में या इसके बाद आजाद भारत में अपनी रचना कर रहे थे ,वहाँ सत्ता के नीतियों के विरुद्ध प्रत्यक्ष रुप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं था। अत: जहाँ एक ओर **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने सत्ता के शोषण एवं उनके नीतियों का विरोध करने तथा भारतीयों के प्रति हो रहे अत्याचार को उजागर करने हेतु **प्रतीकात्मक भाषा** का प्रयोग किया तो वहीं दूसरी ओर भारतीय जमाखोर, कालाबाजारी एवं चोरबाजारी के प्रति विरोध को अभिव्यक्त करने हेतु **व्यंग्यात्मक भाषा** का प्रयोग किया। इतना ही नहीं इन दोनों रंगमंडलियों के नाटककारों ने अपने नाटक को बोझिल होने से बचाने के लिए **हास्य भाषा** का भी बखूबी प्रयोग किया है और तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य को उजागर करने हेतु इन नाटककारों ने हिन्दी- अंग्रेजी शब्दों के मिश्रित रुप को अपना कर एक नयी **मिश्रित भाषा** का भी बहुतेरे प्रयोग कर नाटक को युग परिस्थितिजन्य रुप दे दिया है। इन सब के अतिरिक्त **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने नाटक को और अधिक प्रभावशाली तथा प्रहारात्मक बनाने के लिए **अंग्रेजी, अपभ्रंश, पठानी, संस्कृत, उर्दू , फ़ारसी** आदि शब्दों का प्रयोग करने के साथ ही साथ **भक्तिगीत**, **लोकगीत, मुहावरा, लोकोक्ति, शेर- ओ- शायरी तथा कवियों के पद या उनकी कविताओं की पंक्तियों** आदि का भी बेहतरीन प्रयोग किया है।

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के समस्त नाट्य लेखन को तत्कालीन परिस्थितियों के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्थिति, देश विभाजन से उत्पन्न पीड़ा , समाज सुधार, पारिवारिक समस्याएँ और बदलते मानवीय संबंधों के सन्दर्भ में सही नाट्य भाषा की तलाश कहा जा सकता है। नाटक में नाटकीय शब्द और उसकी उचित एवं सार्थक जगह खोजने की छटपटाहट, बेचैनी और प्रयोगधर्मिता इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के लिए नाटक लिखने वाले विभिन्न नाटककारों में दिखती है। इन नाटककारों द्वारा अकाल से उत्पन्न अपने समय की सबसे जटिल संश्लिष्ट परिस्थितियों और बदलते मानवीय संवेदनाओं आदि को प्रामाणिक अभिव्यक्ति देने के लिए एक सच्ची, खरी, तनावपूर्ण और स्वत: स्फूर्त रंगभाषा की सृष्टि किया गया जो नाटक, रंगमंच और मानवीय जीवन को एक बिन्दु पर ले आती है।

यदि हम इप्टा के भाषा शिल्प की बात करें तो ज्ञात होता है कि इनके विभिन्न नाटककार अपने कथानक को जीवंत बनाने हेतु अपनी भाषा में शब्द के अर्थ और उसकी ध्वनि दोनों पर समान बल देते हैं तथा व्याकरण सम्मतता की अपेक्षा कथ्य के यथासम्भव सम्पूर्ण सम्प्रेषण और नाटकीय प्रभाव को अधिक महत्वपूर्ण माना।

इप्टा को प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचाने वाले नाटककार **विजन भट्टाचार्य** अपने नाटक **'नवान्न'** में अकाल से पीड़ित किसान, जो भुखमरी के कारण अपने गाँव को छोड़कर शहरों में भीख माँगने को विवश है उनके लिए **अपभ्रंश** शब्दों का प्रयोग करते नजर आते हैं। अकाल पीड़ितों के द्वारा अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग कराकर नाटककार ने अकाल की भयावह स्थिति को जीवंत बना दिया है। गाँव के अकाल पीड़ित अशिक्षित जनता द्वारा अपभ्रंश शब्दों का यह प्रयोग सम्पूर्ण नाटक में देखने को मिलता है। इस तरह का भाषा प्रयोग नाटक को **लोक** के करीब लाकर खड़ा कर देता है। उदाहरण के लिए – नाटक के प्रमुख पात्र **प्रधान समाद्दार** भीख माँगते हुए कहता है –

"प्रधान: (लँगोटी पहने खड़ा कोठी की ओर हाथ उठाकर चीखते हुए) और कित्ता गला फाड़ूँ, बाबूजी, दो कौर भात के लिए? तुम लोग क्या सब बहरे हो गये हो ? कुछ भी नहीं सुनो ? हिरदै क्या तुम्हारा बिल्कुल पथरा गया है, बाबू ? ए माई- बाप, ए बाबूजी, कित्ता अन्न तुम्हारा सड़क पर गिरा बिखरा पड़ा है पर इस बूढ़े के लिए दौ कौर को भी तुम्हारा मन नहीं पसीजै ? बाबूजी, तुम्हारे क्या प्रान नहीं बाबूजी ? ए माई – बाप, बापूजी, ए माई – बाप...."[100]

अपनी भाषा के माध्यम से कथानक को दर्शकों के समक्ष जीवंत बनाने का ऐसा ही एक उदाहरण **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित **'पठान'** नाटक में भी देखने को मिलता है। इस नाटक में नाटककार ने विभाजन समस्या को कथा के केन्द्र में रखते हुए एक पठान परिवार को चित्रित किया है। पठान परिवार का यह चित्रण तब और जीवंत हो उठता है जब पूरे नाटक में **पठानी, पश्तो, उर्दू शब्दों** का प्रयोग करते हुए दिखाया गया है। जिस प्रकार इप्टा के **'नवान्न'** नाटक में प्रारम्भ से अंत तक अपभ्रंश के शब्द देखने को मिलते हैं। ठीक उसी प्रकार **'पठान'** में **पठानी शब्दों** का प्रयोग देखने को मिलते हैं। इस नाटक में एक छोटा बच्चा भी पठानी भाषा ही बोलता हुआ नजर आता है। जिसका एक उदाहरण दृष्टव्य है – जब नाटक के मुख्य पात्र **शेरख़ान** का बेटा **बहादुरख़ान** अन्य बच्चों के साथ बाहर खेल रहा है और उसके घर पर काम करने वाली **गुलाबजान** उसे बुलाती है तो बच्चा कहता है कि फिर क्या शोर मचाने लगी। इस पर गुलाबजान कहती है कि आपके पिता शेरख़ान बुला रहे है और वे कह रहे हैं कि अपने मित्र वजीरचन्द्र को भी साथ लेते आना। इसी संवाद को पठानी शब्दों में कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है -

"गुलाबजान: (बुर्ज पर से) बहादुरख़ाना! हई बहादुरख़ाना !

[100] नेमिचन्द्र जैन (अनु.), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.69-70

बहादुरख़ान : (बाहर से) ब्यास चग़े लगै वे ?

गुलाबजान : ख़ान साहब द बोली जोया , वजीरचन्दे रोर तम वाया , दुआड़ा राज़ई।

बहादुरख़ान : (बाहर से) ख़ा ख़ा, दरज़ू।"[101]

भारत में ब्रिटिश आगमन और अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय समाज में भाषा को लेकर एक नया चलन देखने को मिलता है। आज लोग वार्तालाप के स्तर पर हिन्दी और अंग्रेजी भाषा को मिश्रित कर देते हैं। भारत में यह स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलती है कि एक ही वाक्य में कुछ शब्द हिन्दी के होते हैं तो कुछ अंग्रेजी के होते हैं। दोनों भाषाओं का यह मिश्रित रुप **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों में भी दिखलाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों के पात्र ऐतिहासिक या पौराणिक नहीं होते थे जो शुद्ध संस्कृतनिष्ठ भाषा या तत्सम शब्दों का प्रयोग करेंगें। अपितु इनके पात्र सामान्य जन होते थे जो हिन्दी भाषा तो जानते ही थे लेकिन ब्रिटिशों द्वारा प्रदत्त अंग्रेजी शिक्षा के कारण अंग्रेजी भाषा से भी परिचित हो चुके थे। **मिश्रित भाषा** का यह रुप प्राय: **इप्टा** के लगभग सभी नाटकों में परिलक्षित होता है। **विजन भट्टाचार्य** के नाटक '**नवान्न**' में भी शहरी रईसों द्वारा हिन्दी और अंग्रेजी के मिश्रित रुप का प्रयोग देखने को मिलता है। जब बंगाल में मानव निर्मित अकाल के कारण लाखों लोग भूखे मर रहे थे तो उनकी मदद करने के बजाय ऐसी विपदाजन्य स्थिति में भी शहर के एक रईस के घर शादी समारोह में हजारों लोगों की दावत की जा रही थी। और उसी समारोह में एकत्रित **निर्मल बाबू, गृहस्वामी** तथा अन्य रईस व्यक्ति जमाखोरी और कालाबाजारी जैसे कृत्य की प्रशंसा करते हुए परस्पर वार्तालाप के दौरान कहते हैं –

"**निर्मल बाबू**: बड़ा राजसी ठाठ – बाट कर डाला राय साहब। हजार आदमियों की दावत आजकल के जमाने में कोई हँसी – खेल नहीं।

व्यक्ति 1 : और क्या **!**

निर्मल बाबू: चीजवस्तु का सब इन्तजाम ठीक से हो गया ? कोई परेशानी तो नही हुई ?
गृहस्वामी : परेशानी यानी, काला बाजार। काला बाजार जब तक है तब तक.....

[101] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर, पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली, प्रथम संस्करण,1974 पृ. 83

व्यक्ति 1 : उसका कोई क्या करे, भाई। सच पूछो तो यह काला बाजार है इसीलिए अब तक कोई काम रुका नहीं.....नहीं तो..... आदमी क्या करे ब्लैक मार्केट के सहारे के सिवाय क्या रास्ता है ! और सब छोड़ो, मामूली चीज चीनी को ही लो। घरवाली कहती है महीने में कम से++* कम डेढ़ मन चीनी तो चाहिए ही। नहीं जुटी माने उधर वह बिल्कुल..... जानते ही हो, हे: हे :, डैडलाक, कंप्लीट डैडलाक। पर इतनी चीनी कहाँ मिले ओपन मार्केट में जाओ, नहीं, नहीं, नहीं। सारे दुकानदार हाथ औंधे किये बैठे हैं। कहीं नहीं मिलेगी तुम्हे यह चीनी। क्या करें इसलिए जिये – बाबू ब्लैक मार्केट, जियें हमारे जमाखोर। अरे ज्यादा से ज्यादा एक के चार ही तो लेंगे। पर चीज तो ठीक – ठीक मिल जायेगी। करें क्या, बोलो, पैसा साथ तो जाएगा नहीं।"[102]

इस पूरे प्रसंग में बंगाल की तत्कालीन परिस्थिति की मार्मिक दृश्य को चित्रित किया गया है। कि किस प्रकार समाज का एक वर्ग सिर्फ रुपये होने के कारण जमाखोरी और कालाबाजारी की इस कदर प्रशंसा कर रहा है जबकि यही जमाखोरी और कालाबाजारी ने गरीब किसानों को भूखों मरने को विवश कर दिया है। जहाँ पेट भरा होने के कारण रईसों के मुख से अंग्रेजी के शब्द फूलों की भांति निकल रहे हैं वही भूख के मारे गरीबों के मुख से शब्द ही नहीं निकल पा रहे थे।

मिश्रित भाषा का ऐसा ही एक अनोखा रुप **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा रचित और **इप्टा** द्वारा मंचित नाटक '**मैं कौन हूँ**' में भी देखने को मिलता है। जब मानसिक रुप से विक्षिप्त **बेनाम आदमी** अपनी पहचान जानने हेतु डॉक्टर से बात करता है तो उसकी भाषा अत्यन्त नाटकीय, आकर्षक और चौंकाने वाली होती है। जिससे नाटककार का परिवेश ज्ञान परिलक्षित होता है। **बेनाम आदमी** सिर्फ इसलिए अपनी पहचान जानना चाहता है ताकि वो दंगाईयों को यह बता सके कि वह हिन्दू है या मुसलमान। जिससे उसे खाने के लिए रोटी मिल सके।

"(बेनाम आदमी एक मेज पर लेटा हुआ है – सर उठाए हुए। एक डॉक्टर उसको देख रहा है।)
डॉक्टर : (अंग्रेजो की तरह टूटी फूटी भाषा में) Now, Now, Relax, relax – everything will be all right. अभी मालूम हुआ जायेगा तुम कौन है – हिन्दू या मुसलमान या सिख ?आँखे बंद कर लो। दिमाग पर जोर न डालो। ढीला छोड़ दो। फिर जो कुछ तुम्हे याद आए बोलते रहो। (काग़ज़ पेन्सिल लेकर बैठ जाता है) Yes ! हाँ , बोलो, क्या ध्यान में आता है ?"[103]

---

[102] नेमिचन्द्र जैन (अनु.) , विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 68
[103] ख़्वाजा अहमद अब्बास, मैं कौन हूँ , पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, पृ.12

मिश्रित भाषा का ऐसा ही एक चित्रण **राजेन्द्र रघुवंशी** के नाटक '**पहेली**' में भी दिखलाई पड़ता है। जब दो विद्यार्थी **सुधाकर** और **रमेश**, शर्मा जी के चाय के दुकान पर एक पढ़े - लिखे युवक **बैजल** की बेरोजगारी का मजाक उड़ाते हैं। इसी कारण से बैजल क्रोध में आकर वहाँ से चला जाता है तो सुधाकर शर्मा जी से कहता है कि शायद **बैजल** नाराज हो गये तो **रमेश** कहता है –

"रमेश: (लापरवाही से) नो, नो, नो, ही इज इन्सल्ट प्रूफ। डोएन्ट वरी आय नो हिम वैरी वेल। ऐसी बातें, तो सुबह से शाम तक पड़ती रहती हैं, वो परवा नहीं करते।"[104]

हिन्दी और अंग्रेजी शब्दों का यह मिश्रित रुप उस दौर में इतना प्रचलित हो गया था कि यह लोगों के जुब़ान पर हुआ करता था। अत: पृथ्वी थिएटर के नाटककार भाषा के इस मिश्रित रुप से कैसे अछूते रह सकते थे। भाषा का यह मिश्रित रुप पृथ्वी थिएटर के अधिकांश नाटकों में परिलक्षित होता है। जिसका कुछ उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है – '**कलाकार**' नाटक में जब कलाकार द्वारा अपनी पत्नी **गौरां** की बनायी गई कुछ तस्वीरों को उसका दोस्त रमेश खरीदना चाहता है तो कलाकार तुरंत ही उसे बेचने से मना कर देता है। तब रमेश अपने मित्र कलाकार से कहता है कि –

"रमेश: यह कसर नफ़्सी छोड़िये। आप चाहें तो दिन में ऐसी बीस तस्वीरें बना दें। Humility is the greatest virtue of an artist ! भाभी ! Art for art sake तो सुना था, लेकिन Art for artist sake कभी नहीं सुना था।"[105]

हिन्दी – अंग्रेजी शब्दों का यह मिश्रित रुप पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित '**आहुति**' नाटक में शुरु से अंत तक देखने को मिलता है। इसका एक उदाहरण यहाँ दृष्ट्व्य है –जब **रायसाहब** और उनके मित्र **रामकृष्ण** जो रिश्ते में समधी बन गये थे, ब्रिटिश शासन को लेकर परस्पर बातें कर रहे हैं। इसी दौरान रामकृष्ण ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि –

"रामकृष्ण: (मुसकुराते हुए) वह Government जो हमारे देश को बाप दादा की जागीर समझे हुए थी – जिसके Lord Brent Ford ने डंके की चोट पर कहा था We Conquered India by the sword and by the sword shall hold it. जिसे Lord Curzon ने लिखा था कि –if we lose India, the

[104] राजेन्द्र रघुवंशी , पहेली, विश्वसाहित्य प्रकाशन, आगरा , पृ.14

[105] रामानंद सागर और पृथ्वीराज कपूर, कलाकार,पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,सितंबर 1951, पृ. 74

sun of our empire will set. जिसके बदनाम वज़ीर Churchil ने महात्मा गाँधी को Naked Faqir कहने की जुर्रत की है – जो कहता है Government का दिवाला निकालने को वज़ीर नहीं बना – जिसने अपने गुरगे ऐमरी की ज़ुबान से धमकी दी है कि हम Congress से कोई बातचीत नहीं करना चाहते। हम किसी के हुक्म पर हिन्दुस्तान को छोड़ने को तैयार नहीं।"[106]

मिश्रित भाषा का ऐसा ही रुप पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित '**पैसा**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जब शान्तिलाल अपने मित्र कालिदास के साथ व्यापार में हुए लाभ की खुशी मनाते हुए शराब पीते रहते हैं तो शान्तिलाल मिश्रित भाषा मे ही बोलता है –

"शान्तिलाल: हाँ मैं पिऊँगा, जरुर पिऊँगा। आज नहीं पिऊँगा तो कब पिऊँगा। Come let us celebrate (गिलास से गिलास मिलाकर दोनों पीते हैं, फोन की घंटियाँ बराबर बज रही है) यह टेलीफून खामख़ाँ Disturb कर रही है , इससे कहो Shut up. यह तुम्हारी बात मानेगी। You are going to be the king of the market now."[107]

इतना ही नहीं इप्टा के नाटककारों ने न सिर्फ मिश्रित भाषा का प्रयोग किया अपितु तत्कालीन शिक्षित युवा पात्रों को फर्राटेदार अंग्रेजी भी बोलते हुए दर्शाया है। क्योंकि तत्कालीन परिवेश के अनुसार भारतीय युवक ब्रिटिश शासन में नौकरी पाने के लिए अंग्रेजी भाषा सीखने पर खूब बल देते थे। भारतीयों द्वारा किया जाने वाला यही प्रयास एक ऐसे वर्ग की संरचना करता है जो फर्राटेदार अंग्रेजी बोलते हैं। ऐसे ही एक युवक का चित्रण **ख़्वाजा अहमद अब्बास** के नाटक '**मैं कौन हूँ**' में देखने को मिलता है। जहाँ युवक एनाउन्सर द्वारा नाटक के प्रारम्भ मे ही फर्राटेदार अंग्रेजी सुनाई पड़ती है। जब एनाउन्सर कहता है –

"**पहला एनाउन्सर**: This is All India Radio broadcasting from Bombay. Here is the news. An unidentified corpse was discovered this morning lying in a pool of blood in one of the lanes connecting Mohammad Ali Road with Kalbadevi. The deceased had two stab wounds - one in the back and the other in the abdomen. As it could not

[106] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, पृ.16

[107] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण, जनवरी 1954, पृ.97-98

be established whether the corpse is that of a Hindu or a Muslim. It has not yet been given either for burial or cremation but is detained in the morgue. A peculiar feature of this fatality was that the dead man had a grin on his face as if he had died laughing. Anyone who can identify…."[108]

यद्यपि ब्रिटिशों ने कम वेतन पर कर्मचारी रखने और अपने कार्यों को विस्तार देने हेतु भारत में अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा दिया था। लेकिन भारतीयों के लिए यह हितकर साबित हुआ। अब भारतीय अंग्रेजी सीखकर न सिर्फ ब्रिटिशों से उन्ही की भाषा में बात करने में सक्षम हो गये बल्कि इसी शिक्षा के माध्यम से वह पाश्चात्य विचारों से भी परिचित होने लगे थे। भारतीयों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर ब्रिटिशों से ही अंग्रेजी में बातचीत करने का ऐसा ही एक उदाहरण **पृथ्वी थिएटर** के '**दीवार**' नाटक में दिखलाई पड़ता है। जब सुरेश नामक पात्र विदेशियों से फर्राटेदार अंग्रेजी में बातचीत करता हुआ कहता है –

"सुरेश: (सब को देखकर) You are all here, hello hello, What is this idiot doing here?

विदेशी 2 : Just playing fool sir.

सुरेश : Oh !let me play the fool, With mirth and laughter at old wrinkles Come. 'Good old Shakespear'. (सब हँसते हैं, रामू टोपी उतार कर, पांव जोड़ झुक कर सलाम करता है) That's better (विदेशी औरत की तरफ बढ़ते हुए) Lovely weather."[109]

फर्राटेदार अंग्रेजी का ऐसा ही एक चित्रण '**पैसा**' नाटक में भी दिखलाई पड़ता है। जब बैंक मैनेजर शान्तिलाल अपने बच्चे **मोहन** और **राधा** के कहने पर शेक्सपियर के नाटक '**रोमियो जूलियट**' के एक अंश का अभिनय करते हुए है उसके संवाद को बोलता है – (शान्तिलाल नाटकीय अंदाज में बाहर वाले दरवाजे पर जाता है और तुरंत आकर)

---

[108] ख़्वाजा अहमद अब्बास, मैं कौन हूँ , पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, पृ.3-4

[109] पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल और इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई,प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.47

“He jests at scars, that never felt a wound –

But, soft! What light through yonder, Window breaks?

It is the east, and Juliet is the sun!

Arise, fair sun, and kill the envious moon,

Who is already sick and pale with grief,

That thou her maid art far more fair than she:

She speaks, yet she says nothing; what of that?

Her eye discourses; I will never answer it.”[110]

यद्यपि इन रंगमंडलियों के नाटककारों ने समय की माँग के अनुसार अपने नाटकों में फर्राटेदार अंग्रेजी भाषा का प्रयोग बृहत स्तर पर किया लेकिन इन नाटककारों नें बदलती हुई चकाचौंध की इस दुनिया में अपने भारतीय संस्कार को भी अपनी स्मृति में रखा। शायद इसीलिए इन नाटककारों ने जहाँ युवाओं या पेशेवर लोगों को अंग्रेजी भाषा बोलते दिखाया हैं वहीं दूसरी ओर पूजा - अर्चना या नैतिक उपदेश हेतु संस्कृत भाषा का प्रयोग सूक्ष्मता से किया है। जिसका एक उदाहरण पृथ्वी थिएटर के ‘**कलाकार**’ नाटक में देखने को मिलता है। जब पहाड़ी के एक गाँव में बसे हुए लोग एक साथ शिव मन्दिर मे आरती करते हैं तो पुजारी संस्कृत में श्लोक कहता है –

“शिवशंकर – शिवशंकर – जगदम्बे जगदम्बे।

शिवशंकर – शिवशंकर- जगदम्बे जगदम्बे।।

आत्मा त्वं गिरिजा मति: सहचरा: , प्राणा: शरीरं गृहम्।

पूजा ते विषयोपभोग रचना, निद्रा समाधिस्थिति: ।।

संञ्चार: पदयो: प्रदक्षिणाविधि: , स्तोत्राणि सर्वा गिरो।

[110] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.49

यद्यत्कर्म करोमितप्तदखिलं , शम्भो तवाराधनम् ।।"[111]

संस्कृत भाषा का ऐसा ही प्रयोग पृथ्वी थिएटर के **'पैसा'** नाटक में कई स्थानों पर दिखलाई पड़ता है। जिसकी एक झलक यहाँ दृष्ट्व्य है – जब बैंक मैनेजर **शान्तिलाल** को उसका एक मित्र **कालिदास** गलत माध्यम से धन कमाने के लिए कहता है तो शान्तिलाल अपने एक मित्र **किशोर** के पत्र को पढ़ते हुए कालिदास को समझाने का प्रयास करता है कि धन कमाना गलत बात नहीं है परन्तु अपनी मेहनत और ईमानदारी से ना कि किसी दूसरे व्यक्ति से धोखा करके । किसी के साथ बुरा करके धन कमाना पाप है। इसी संदर्भ को शान्तिलाल संस्कृत श्लोक के माध्यम से कालिदास को समझाने का प्रयास करता हुआ कहता है -

"अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रम – संजातवारिणा"[112]

शान्तिलाल के इस श्लोक पर कालिदास झुंझलाकर कहता है कि क्या हम लोग मेहनत नहीं करते हैं। अरे अनाज के जमाखोरी इत्यादि कामों में भी तो दिन भर लोगों से फोन पर बात करना पड़ता है, लोगों के पास आना – जाना पड़ता है। अरे चप्पलें घिस जाती है। और तुम कहते हो कि हम मेहनत नहीं करते। तब शान्तिलाल फिर उसे समझाते हुए कहता है कि लेकिन हमें कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिसमे समाज के सभी लोगों का कल्याण हो। यदि समाज का एक वर्ग भी पीछे रह गया तो वह समाज विकास नहीं कर सकता। इसी बात को वह फिर संस्कृत के एक श्लोक के माध्यम से समझाता हुआ कहता है कि क्या तुम भूल गये जो हमें बचपन में विद्यालय में पढ़ाया जाता था – तुम्हे वह श्लोक याद नहीं, कहता हुआ इस श्लोक को पढ़ता है -

"सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्य करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।

।।ओ3म् शान्ति शान्ति शान्ति।"[113]

---

[111] रामानंद सागर और पृथ्वीराज कपूर, कलाकार, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,सितंबर 1951, पृ. 5

[112] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.23

[113] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर , पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई,प्रथम संस्करण,जनवरी 1954, पृ.24, 129,138

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटककारों ने अपने तत्कालीन बदले हुए परिवेश में जीवन की विसंगतियों, विद्रूपताओं, टूटते – बिखरते नैतिक मूल्यों, हताशा- निराशा, कुण्ठा, शोषण, भ्रष्टाचार बेरोजगारी, अवसरवाद, स्वार्थलिप्सा आदि को विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त करने के लिए अपने नाटकों में **व्यंग्यात्मक भाषा** का बेहतरीन प्रयोग किया है क्योंकि उस समय राष्ट्र का जो माहौल था, उसकी अभिव्यक्ति व्यंग्यात्मक भाषा के बिना नामुमकिन था। इसीलिए इन नाटककारों ने **व्यंग्यात्मक भाषा** को अपने नाटकों में एक हथियार के रुप में प्रयोग किया। जिसका एक उदाहरण **राजेन्द्र रघुवंशी** के नाटक **'पहेली'** में दिखलाई पड़ता है- कि किस प्रकार भूखी गरीब जनता को चुनाव के वक्त नेता, अन्न की समस्या को दूर करने का वादा कर उनका वोट तो ले लेते है परन्तु चुनाव के उपरांत कभी वापस यह देखने नहीं आते कि वह गरीब जनता अपनी भूख को कैसे शान्त कर रही है। नेताओं की इसी मक्कारी को नाटककार ने **बैजल** नामक पात्र द्वारा किये गये व्यंग्य के माध्यम से कुछ इस प्रकार दर्शाया है –

"बैजल: खाँ साहब, ये गलत है कि हिन्दुस्तान की अन्न समस्या आपके एक वक्त भूखे रहने से हल हो जायेगी – अरे हम तो कई – कई फ़ांके कर चुके , मगर कुछ न हुआ। (फिर एक बड़ा सा ग्रास मुँह में रखता है) जान गया, इस बार दो – चार को भूखा मारकर आप भी लीडर बनने वाले हैं साहब।"[114]

इसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर भी व्यंगात्मक भाषा की झलक देखने को मिलती है। जब **खां साहब** समाचार पत्र पढ़ते हुए एक लाइन पर जोर देकर चाय वाले शर्मा से कहते हैं –

"खां साहब: नंगों ने भूखों को लूट लिया!

शर्मा: जो न हो जाये थोड़ा है, इस रामराज्य में।"[115]

इन व्यंगात्मक पंक्तियों के माध्यम से ही नाटककार ने तत्कालीन राजनीतिज्ञों की अपने जनता के प्रति उपेक्षा एवं नीरसता के भाव को दर्शाने का प्रयास किया है।

व्यंगात्मक भाषा की ऐसी झलक पृथ्वी थिएटर के **'पठान'** नाटक में भी देखने को मिलता है। जब शेरखान के दीवान ताराचंद के बेटे वजीरचंद के हाथों अपने आत्मरक्षा के दौरान दूसरे गढ़ी के एक युवक

---

[114] राजेन्द्र रघुवंशी, पहेली, विश्वसाहित्य प्रकाशन, आगरा, पृ.27

[115] वही पृ. 32

की हत्या हो जाती है। तो उस गढ़ी के लोग शेरख़ान से वजीरचंद की माँग करते हैं लेकिन जब शेरख़ान ऐसा करने से इंकार कर देता है तो दूसरे गढ़ी के लोग शेरख़ान की गढ़ी पर हमला कर देते हैं। इस युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से वहाँ के मुल्ला दोनों पक्षों के मध्य हस्तक्षेप करते हैं। मुल्ला साहब शेरख़ान को समझाते हुए कहते हैं कि

मुल्ला (शेरख़ान से कहते हैं) हक़ का मसला बड़ा नाजुक है शेरख़ाना ! लेकिन फिर भी क़ातिल को माँगना क़न्दहारी ख़ान का हक़ है और हमारे वतन का रिवाज भी।

शेरख़ान : लेकिन उसके एवज मुँहमाँगी रक़म देना यह भी तो रिवाज है, मुल्ला साहब !"[116]

दरअसल शेरख़ान का यह शब्द भारतीय व्यवस्था पर एक व्यंग्य है। जिस व्यवस्था के तहत जानबूझ कर बड़े से बड़े अपराध को अंजाम देने वाला अपराधी भी पैसे के दम पर निर्दोष साबित कर दिया जाता है। यहाँ तो बहादुरख़ान से आत्मरक्षा के दौरान अंजाने में यह अपराध हुआ था।

यदि हम प्रतीकात्मक भाषा की बात करें तो हम देखते है कि नाटक में प्रतीकात्मक भाषा तो छोड़िए, इस दौरान इन नाटककारों द्वारा पूरा का पूरा नाटक ही प्रतीकात्मक रुप में लिखा गया है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित **'दीवार'** नाटक है। जिसमे कहीं भी हिन्दु – मुसलमान नाम नहीं आता है परन्तु प्रतीकात्मक रुप में **'दीवार;** भारत – पाकिस्तान विभाजन की कथा है। सुरेश और रमेश नामक पात्र प्रतीक रुप में नेहरु और जिन्ना के रुप में प्रस्तुत किये गये हैं और विदेशी लोगों के रुप में ब्रिटिशों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।

ऐसे ही **'पठान'** नाटक में शेरख़ान का गढ़ी पूरे राष्ट्र का प्रतीक है , जिसकी सुरक्षा गढ़ी के लोगों की जिम्मेदारी है फिर चाहे वह हिन्दु हो या मुसलमान। ठीक इसी प्रकार नाटककार ने प्रतीकात्मक रुप में दर्शकों को इंगित किया है कि भारत राष्ट्र सबका है और इसकी सुरक्षा देश के प्रत्येक नागरिक की जिम्मेदारी है , फिर चाहे वह किसी भी जाति और धर्म का हो।

प्रतीकात्मकता का यह प्रयोग इप्टा के नाटकों में भी देखने को मिलता है। ख़्वाज़ा अहमद अब्बास द्वारा रचित नाटक **'मैं कौन हूँ'** में नाटककार ने **बेनाम आदमी** का उसकी पहचान याद में मदद करने वाले डॉक्टर को ब्रिटिश के रुप में प्रस्तुत किया है। जो भारतीयों की मदद करने के बहाने उनके मन में धर्म के

[116] लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली, संस्करण 1974, पृ.167

नाम पर विष भरता है। जिसके फलस्वरुप भारतीय धर्म के नाम पर परस्पर लड़ते रहे और ब्रिटिश इसका फायदा उठाते हुए भारत को लूटते रहें।

इप्टा एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने मनुष्य के अन्तर्जीवन को अपना नाट्यकथ्य बनाया है। मनुष्य के अन्तर्मन में परिचालित विरोधी प्रवृत्तियों से द्वन्द्व उत्पन्न होता है। इसी द्वन्द्व को पाश्चात्य नाटककारों ने नाटक का प्राण माना है। इस द्वन्द्व में जब संघर्ष मिल जाता है तो एक तनाव उत्पन्न होता है। इसी तनाव को नाटककार भाषा में व्यक्त करता है। अत: एक नाटककार को ऐसी ध्वनियों, शब्दों और वाक्यों का संयोजन करना होता है जो नाटक के मर्म को अधिक से अधिक उभार सकें। अत: इन्ही नाटकीय परिस्थितयों को अधिक से अधिक उभारने के लिए **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने अस्फुट ध्वनियों , खाँसी, हवा की सरसराहट, बारिश की बूँदे, बिजली चमकना आदि अनेक प्रकार की ध्वनि सम्बद्ध युक्तियों का अपने नाटकों में बहुतायत प्रयोग किया है। संगीत के प्रयोग ने इन युक्तियों को और भी प्रभावशाली बना दिया है। इस प्रकार की नवीन युक्तियों ने नाटककारों को वस्तु संप्रेषण के लिए नया हथियार प्रदान किया है। जो नाटकीय परिस्थिति को सघन बनाने, पात्र की मानसिकता को व्यक्त करने, नाटक के संवेद्य को प्रतीकात्मक अर्थ देने, नाटक को घटनास्थल की सीमाओं से बाहर निकालकर परिवेशगत विस्तार से जोड़ने तथा नाटकीय स्थिति को गहरी रंगत देने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन दोनों रंगमंडलियों के नाटककारों ने पार्श्व से आती ध्वनियों का इस प्रकार संयोजन किया कि जहाँ वे एक ओर रंगस्थल का सम्पूर्ण विस्तार के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है, वहीं दूसरी ओर उस वातावरण की सृष्टि भी करती है, जो नाटकीय स्थिति को उभार सके। इस प्रकार ध्वनियों का यह संयोजन नाटकीय स्थिति को गहराने, पात्र के मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने तथा वातावरण निर्माण करने के साथ ही साथ स्वतंत्र रुप से दर्शक के मस्तिष्क में किसी बिम्ब को उजागर करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। इन नाटककारों द्वारा ध्वनियों का ऐसा प्रयोग नाट्य भाषा का एक अंग प्रतीत होता है। जिसकी विशेषता यह है कि शाब्दिक अभिव्यक्ति से परे अस्पष्ट भावों की विविधता को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया है। **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के अधिकांश नाटकों में ऐसी ध्वनियों का सार्थक प्रयोग किया गया है। जैसे – इप्टा द्वारा मंचित नाटक '**नवान्न**' में **गों गों गों गों** की ध्वनि से इंसान के प्रति कुत्ते के क्रोध को दर्शाया गया है क्योंकि जिस जूठन को खाना कुत्ता अपना अधिकार समझता है, अकाल के दौरान भूख से तड़पता इंसान उस जूठन को कुत्ते से छीनकर स्वयं खा लेता है। सिर्फ **गों गों** की ध्वनि ही अकाल के दौरान इंसानों की हालत को व्यक्त करने में पूर्णत: सफल प्रतीत होता है। इसी प्रकार **जबानबंदी** नाटक में **थू – थू, थू – थू** ध्वनि ही घृणा के भाव को प्रदर्शित करने में सक्षम है। इसी **जबानबंदी** नाटक में ही **ऐं.....SSSS** ध्वनि उदासीनता की ओर इंगित करती है। तो **चें**

चें चें चें ध्वनि लड़ाई – झगड़ा के वक्त झल्लाहट को अभिव्यक्त कर रही है। इसी प्रकार **ओ .....S……S** ध्वनि हताशा – निराशा की ओर संकेत करता है। **ऊँSSS…..**ध्वनि किसी लाचार के प्रति दया भाव को व्यक्त करता है। **ऐं ऐं** तथा **पें पें** ध्वनि से बच्चे के रोने का भाव प्रकट होता है।

ऐसी ही ध्वनियों का प्रयोग **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों में भी दिखाई देता है। पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटक **पैसा** में **अ र र र र, द द दीयें, छ छ छोकरा , ज ज ज जी , ग ग गाड़ी , अ अ अच्छा जी, स स सबेरे,** इत्यादि ध्वनियों के माध्यम से नाटककार ने पात्र के तोतलेपन को बखूबी प्रस्तुत कर दिया है। इसी तरह **किसान** नाटक में नाटककार ने किसी बात को नकारने के लिए पूरे वाक्य का प्रयोग न करके सिर्फ **ऊहूँ ऊहूँ** ध्वनि का प्रयोग किया है। इन सब भावों के लिए नाटककार द्वारा किसी वाक्य का प्रयोग न कर सिर्फ ध्वनियों द्वारा व्यक्त करना इनके भाषा चातुर्य को परिलक्षित करता है। इन दोनों रंगमंडलियों के नाटककारों द्वारा ध्वनि प्रयोग की एक खासियत जहाँ एक ओर ध्वनियों, शब्दों, एवं पदों इत्यादि को दोहराना होता हैं, वही दूसरी ओर नाटकों में आवेश या आवेशात्मक स्थिति को व्यक्त करना भी होता है।

कहा जाता है कि गीत – संगीत मानव जीवन का अभिन्न अंग है। इसलिए नाटक में इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि कथावस्तु को सहजता के साथ दर्शकों तक पहुँचाने के लिए नाटककार भाषा में काव्यात्मकता और गेयता का प्रयोग करता है। नाटककार द्वारा काव्यात्मक और लयात्मक भाषा के प्रयोग से नाटक में लालित्य का निर्माण हो जाता है। जैसाकि **नेमिचन्द्र जैन** ने अपनी पुस्तक **'रंगदर्शन'** में कहा है कि –" **नाटक की भाषा एक विशेष प्रकार के काव्य की भाषा है, जिसका व्यंजनापूर्ण, भावगर्भित और उद्दीपन होना एकदम अनिवार्य है। वास्तव में काव्यात्मकता, भावों, अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की सघनता, सार्थकता और महत्व, नाटक के आवश्यक गुण है** ।"[117]

कहने का तात्पर्य यह है कि लयबद्ध और काव्यात्मक भाषा कथावस्तु की गम्भीरता को बड़े ही सहज भाव के साथ दर्शकों तक संप्रेषित करती है। काव्यात्मक भाषा वातावरण निर्माण में भी सहायक सिद्ध होती है । जब किसी भी भाषा में लयात्मकता और गेयतात्मकता का प्रयोग किया जाता तो वह अधिक प्रभावशाली हो जाती है। और नाटक में इसी प्रभावशाली शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है जिससे नाटक अपने भाव को उसी रुप में दर्शकों तक पहुँचा कर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल सिद्ध हो सके। शायद इसीलिए **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने अपने नाटकों में ऐसी भाषा का खूब प्रयोग किया है। इन नाटककारों नें अपने नाटकों में **गीत, लोकगीत , शेरो – ओ – शायरी, कवियों के पद एवं दोहे**

[117] नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2014, पृ. 29-30

आदि का बहुतेरे प्रयोग किया है जिसका उद्देश्य है दर्शकों को कथावस्तु की ओर आकर्षित कर उन्हे शुरु से अन्त तक बाँधे रखना। **राजेन्द्र रघुवंशी** के **'पहेली'** नाटक का यह उदाहरण दृष्ट्व्य है –

"हमें नई दुनिया रचने दो! हमे नई दुनिया रचने दो !!

चूर गुलामी की ज़ंजीरें,

ख़त्म शोषकों की तब्दीरें,
साम्राज्य की रात कटे, अब नई किरन उगने दो !
हमें नई दुनिया रचने दो !!
मेहनतकश अपना हक़ पाये,
जीवन अपना सुखी बनाये,
नये नियम – कानून बनें, अब नव – समाज रचने दो
हमें नई दुनिया रचने दो "[118]

इस गीत के माध्यम से नाटककार ने भारतीय जनता के उस मनोस्थिति को सम्पूर्णता में दर्शाने का प्रयास किया है जहाँ जनता सत्ता के शोषण के विरुद्ध आंदोलन को तत्पर है। अब जनता गुलामी के बंधन से मुक्त हो अपने सपनों के भारत का निर्माण करना चाहती है। इतनी बड़ी जनाकांक्षा को सिर्फ एक गीत के माध्यम से प्रस्तुत करने का यह शिल्प वास्तव में क़ाबिले तारीफ़ है।

गीतों के माध्यम से कथावस्तु के मार्मिक स्थल को उजागर करने का यह शिल्प **इप्टा** के साथ -साथ **पृथ्वी थिएटर** के प्राय: सभी नाटकों में दिखलाई पड़ता है। नाटक के अध्ययन के दौरान यह नजारा भी देखने को मिला है कि एक ही नाटक में प्रसंगानुसार कईं गीतों का प्रयोग किया गया है। कभी – कभी तो एक ही गीत को नाटक के कई स्थानों पर गाया गया है। जिसका एक उदाहरण **'दीवार'** नाटक है। इस नाटक में प्रारम्भ से लेकर अंत तक कथावस्तु के बीच –बीच में कुल आठ गीतों का संयोजन किया गया है। जिसकी झलक हमें पृष्ठ संख्या 1, 16, 44, 50, 61, 65, 66, 67 (65,66,67 पर एक ही गीत) 86 और 96 पर देखने को मिल जाती हैं। परन्तु यहाँ एक ही गीत को उदाहरण के रुप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

[118] राजेन्द्र रघुवंशी, पहेली, विश्वसाहित्य प्रकाशन, आगरा, पृ.45

"अपनी व्यथा सुनाने आये हैं, दाता तेरे द्वार।
दु:खों की कथा सुनाने आये हैं, दाता तेरे द्वार।
आज हमारे घर आंगन पर काले बादल छाये हैं। अपनी ..
टूट रहे हैं दिन में तारे देखो, तन पर चिथड़े फटे हमारे देखो
लटक रहे सीने पर भाले देखो, भूखे प्यासे नंगों की दुर्दशा
दिखाने आए हैं।
तल्वारों के बीच तड़पता, हिया दिखाने आये हैं।
चक्की में पिस रही प्रजा की दशा दिखाने आये हैं।
आज आँधियों की छाया में दिये जलाने आये हैं। दाता तेरे...."[119]

इस गीत की चंद पंक्तियों के माध्यम से नाटककार ने भारतीय प्रजा की उस मार्मिक दुर्दशा का वर्णन कर डाला जिस प्रजा का जमींदार ब्रिटिशों के बहकावे में आकर भोग विलास पूर्ण जीवन जीने में डूबा हुआ है। इस विलासी जमींदार को अपनी प्रजा की कोई चिन्ता नहीं है। जमींदार के इस बदलाव के कारण आज प्रजा भूखों मरने पर विवश है। इसी विवशता के चलते प्रजा अपने दयनीय स्थिति से परिचय कराने हेतु जमींदार की पत्नी के पास आये हुए हैं। प्रजा को उम्मीद है कि शायद जमींदार की पत्नी से ही उन्हे कुछ मदद मिल जाये। कथानक के मध्य इतनी बड़ी बात को इतनी मार्मिकता के साथ गीतों के माध्यम से कहना, पृथ्वी थिएटर का यह अनोखा प्रयास शिल्प की नवीनता को ही दर्शाता है।

इतना ही नहीं **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों द्वारा कभी- कभी पात्रों के वृत्ति- प्रवृत्ति को साकार करने तथा मन की इच्छाओं को वाणी प्रदान करने के लिए भी गीतों का प्रयोग किया गया है और इनके यह गीत लोकनाट्य शैली पर आधारित **लोकगीत** के रुप में होते थे। जिसका एक उदाहरण इप्टा के '**नवान्न**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जब नाटक में किसान भुखमरी की मार को झेलने के बाद पुन: अपने खेतों में फसल उगाते हैं तो फसल कटने के पश्चात् नई फसल के उत्साह में उत्सव मनाते हैं। इस उत्सव में जहाँ एक ओर पुरुष किसान द्वारा अनेक प्रकार के खेल खेले जाते हैं तो स्त्रियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर लोकगीत गाती हैं । यह गीत दृष्ट्व्य है –

[119]पृथ्वीराज कपूर, रमेश सहगल एवं इन्द्रराज आनन्द, दीवार, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जुलाई 1952, पृ.50

"हाट से ले ली थी गले की हँसुली, सतलड़ाहार
डोरिये की सुन्दर साड़ी किनारीदार
पसन्द करने वर नदी पार करके आएगा
उसे देख हँसकर चली जाना, बिना कुछ बोले।"[120]

उपर्युक्त गीत के अतिरिक्त इप्टा के '**नवान्न**' नाटक में दो अन्य गीत भी है जो पात्र के मनोवृत्ति को उजागर करते हुई नजर आती हैं। यह गीत **निरंजन** नामक पात्र द्वारा गाया गया है –

"कड़ी आग में जल – जलकर सोना बनूँगा
यह बात तो झूठ निकली,
मै तो लाचार हो गया।
दु:ख की जलन में सुख है
यह विज्ञ लोगों की बात है
रास्ते में इकतारे पै लोग गातै हैं,
पर मैं तो लाचार हो गया।"[121]

इस गीत में निरंजन स्वयं को इसलिए लाचार समझ रहा है कि उसे कुछ भी समझ नहीं आ रहा है कि लम्बे अकाल के बाद गाँव वाले के परिश्रम को कैसे सुरक्षित रखा जाये अर्थात् इस नई फसल को जमींदार, महाजन आदि से कैसे बचाया जाये ?क्योंकि जैसे ही किसान अपनी फसल को काटेगें , जमींदार इस बार और अकाल के दौरान का भी लगान वसूलने चला आयेगा और महाजन अपना सूद वसूलने। यदि इन सब को फसल दे दिया जायेगा तो फिर किसान परिवार के पास खाने को क्या बचेगा। उसे यही चिन्ता है कि कहीं किसान फिर से भुखमरी के कगार पर न आ जाये।

नाटकों में लोकगीत का यह प्रयोग **शील** द्वारा लिखित एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटक '**किसान**' में भी देखने को मिलता है। जब कई महीनों से सिंचाई के अभाव में सूखे पड़े खेत को देख कर किसान वर्ग चिन्तित रहता है। तभी एक दिन उन्हे आकाश में घिरते हुए बादल दिखाई पड़ते हैं तो किसानों

[120] नेमिचन्द्र जैन (अनु.) विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ. 115
[121] वही, पृ.106-107

की खुशी का ठिकाना नहीं रहता। उनके मन में अपनी खेती के लिए एक नई उम्मीद जग जाती है। इसी खुशी को अभिव्यक्त करने हेतु नाटककार ने इस लोकगीत का प्रयोग किया है जो दृष्ट्व्य है –

" देखो कक्कू घुमरै लाग बदरवा,
कारे – कारे , भूरे – भूरे
छोटे – छोटे , बड़े – बड़े
देखो कक्कू घुमरै लाग बदरवा।
लम्बे चौड़े गोल सँभाले
पानी लाये पानी वाले,
टकरायेंगे गरजेंगे अब ,
झूम झूम कर बरसेंगे अब,
देखो कक्कू , देखो, देखो !
गरजन लागे बदरवा।"[122]

इस लोकगीत के अतिरिक्त '**किसान**' नाटक में अन्य तीन गीत और भी हैं। जिसकी प्रस्तुति नाटक के पृष्ठ संख्या 4, 24, 68, 69,70, 104 पर की गई है। (68, 69,70 104 पर एक ही गीत प्रस्तुत है)

पृथ्वी थिएटर के नाटकों में **लोकगीत** और लोकनृत्य का सुन्दर प्रयोग '**कलाकार**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जहाँ पहाड़ के एक गाँव में बसे सभी नर – नारी एक स्थान पर एकत्रित होकर पहाड़ी वेशभूषा में एक साथ नाच गा रहे हैं – वह लोकगीत दृष्ट्व्य है –

"लहर मारे हो- लहर मारे हो,
जैसे गंगा में जमना लहर मारे हो।
गोरी कन्ता के संग में लहर मारे हो,
लहर मारे हो- लहर मारे हो
जैसे गंगा में जमना लहर मारे हो ।।"[123]

[122] शील , किसान , संस्कार प्रकाशन, प्रथमावृत्ति,1957, पृ. 33

[123] रामानंद सागर और पृथ्वीराज कपूर, कलाकार, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,सितम्बर 1951, पृ.19

इस गीत के अतिरिक्त कलाकार नाटक में अन्य कई गीतों की झलक दिखाई पड़ती है। जिसका जिक्र नाटक के पृष्ठ संख्या 6, 14, 18, 20, 21, 30,50 और 88 पर किया गया है।

गीतों के प्रयोग में पृथ्वी थिएटर के नाटककार **इप्टा** से दो कदम आगे नजर आते हैं। क्योंकि पृथ्वी थिएटर के नाटककारों ने अपने नाटक में किसी भी शुभ अवसर का वर्णन करने के बजाय उससे संबंधित मांगलिक गीतों के माध्यम से ही उस अवसर को चित्रित कर दिया है। उदाहरण के तौर पर '**आहुति**' नाटक का प्रारम्भ ही **रायसाहब** के घर पर एक गीत के माध्यम से हुआ है। और गीत से ही यह पता चल जाता है कि इस घर में किसी का विवाह है। रायसाहब का घर पंजाब में है तो यह वैवाहिक गीत पंजाबी में है ,जो विवाह के अवसर पर हिन्दू घरानों में वर पक्ष की औरतें गाती हैं। यह गीत इस प्रकार है –

"उड़के लंघ जाणां माहाराज सारी उमरां करदा राज –
उड़के लंघ जाणां।
उचा उचा कोट नीवां दरवाजा –
निकि जहईवन्नी दिआ माहाराज – उड़के लंघ जाणां।
जे तूं पाया जामा वे जीवें – जे तूं पाया जामा –
तेरे सगण मनावे मामा – उड़के लंघ जाणां।"[124]

इस गीत के अतिरिक्त '**आहुति**' नाटक में अन्य चार गीत और भी हैं। जिसका जिक्र नाटक के पृष्ठ संख्या 54, 55, 71, 101, 120 पर किया गया है।

ऐसे ही मांगलिक अवसर को गीतों के माध्यम से व्यक्त करने की यह अदा पृथ्वी थिएटर के '**पठान**' नाटक में भी देखने को मिलता है। जब नाटक के मुख्य पात्र **शेरख़ान** को विवाह के कई वर्षों बाद अपने कुल का दीपक अर्थात् पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। जिसका नाम **बहादुरख़ान** रखा गया। इस पुत्र के जन्मोत्सव पर गढ़ी में सामूहिक उत्सव होता है। जिसमें यह मांगलिक गीत गाया जाता है। इस गीत में पठानी शब्दों का प्रयोग किया गया है। जो कुछ इस प्रकार है -

"बई कुरबान
ख़ान साहब पिसर मुबारक़ हो,

[124] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जून 1950, पृ. 1

मुयदये खुशअसर मुबारक़ हो,
चश्मे उम्मीद हो गई रोशन,
यानी नूरे नज़र मुबारक़ हो,
ओ ख़ान, वाला शान,
तेरा पूरा हुआ अरमान,
तेरा जिये बहादुरख़ान ।"[125]

इस गीत के अतिरिक्त '**पठान**' नाटक के अन्य गीत पृष्ठ संख्या 2, 4,7,14 और 125 पर वर्णित है। इन गीतों की खास विशेषता यह है कि ये अधिकांशत: पठानी भाषा में है या उससे कुछ शब्दों से सराबोर है।

गीतों के प्रयोग में यह पृथ्वी थिएटर के नाटककारों की कुशलता ही कही जा सकती है कि इन्होने गीत के माध्यम से नाटक के शीर्षक को ही चरितार्थ कर दिया है। पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटक '**पैसा**' इस शिल्प का प्रत्यक्ष प्रमाण है। '**पैसा**' नाटक में नाटककार ने **नज़ीर अकबराबादी** के एक ही गीत को पूरे नाटक में कई स्थानों पर प्रस्तुत किया है। यह गीत है –

"पैसा ही रंग रुप है पैसा ही माल है।
पैसा न हो तो आदमी चर्खे की माल है ।।
पैसे ही का अमीर के दिल में ख़्याल है,
पैसे का ही फ़क़ीर भी करता सवाल है।
पैसा ही फ़ौज, पैसा ही जाहो जलाल है,
पैसे ही का तमाम यह दंगो दवाल है।
पैसा ही रंग रुप है पैसा ही माल है।"[126]

इस गीत से ही नाटककार ने नाटक के सम्पूर्ण कथावस्तु को प्रस्तुत कर दिया है कि आज व्यक्ति के लिए रिश्तों से बढ़कर पैसा ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है और इसी पैसे के चक्कर में वह अपने सगे- सम्बन्धियों को त्यागने या दु:ख देने में भी एक बार नहीं सोचता। इतना ही नहीं इसी पैसे के लिए व्यक्ति किसी के प्राण लेने में भी नहीं हिचकता। पैसे के चक्कर में मानव की यह मरती मानवीय संवेदना हमारे समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती है।

---

[125] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली, संस्करण 1974 , पृ. 72

[126] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण,जनवरी 1954 , पृ.31

इतना ही नहीं **पृथ्वी थिएटर** के नाटककारों ने अपने नाटकों में हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा के कुछ कवियों की पंक्तियों का भी बेहतरीन प्रयोग किया है। जबकि इप्टा के नाटक इस प्रयोग में नगण्य दिखाई पड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकों के आलोचनात्मक अध्ययन के बाद यह देखने को मिला है कि जहाँ कवियों के दोहे , पद एवं पंक्तियों के प्रयोग में **इप्टा** नगण्य दिखाई पड़ता है वहीं दूसरी ओर **पृथ्वी थिएटर** इस प्रयोग के स्तर पर काफी ऊँचाईयों पर खड़ा दिखाई देता है। उदाहरण के तौर पर **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक '**आहुति**' में लेहनासिंह नामक पात्र, बम्बई के शरणार्थी शिविर में बैठे हुए पंजाब को याद करते हुए सूरदास की यह पंक्ति गाता है –

"ऊधौ मोहे ब्रज बिसरत नाहीं – मोहे ब्रज बिसरत नाहीं रे ऊधौ, मोहे –
याद पड़त जब ब्रज की गलियां – ब्रज की गलियां, ब्रज की गलियां
हूक उठे – हूक उठे – हूक उठे मन माहीं रे ऊधौ – मोहे ब्रज....."[127]

इसी नाटक में ही लेहनासिंह एक अन्य स्थान पर कबीर के दोहे को गाता है –

"चलती चक्की देख के , दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच आ, साबत बचा न कोय ।।"[128]

यहाँ नाटककार ने कबीर के दोहे में आये दो पाटन का अर्थ देश विभाजन के बाद हिन्दूस्तान और पाकिस्तान से लिया है। जिसके बीच में आकर न जाने कितने लोगों की जान चली गई।

ठीक इसी प्रकार पृथ्वी थिएटर के '**कलाकार**' नाटक में भी **टैगोर** और **शेक्सपियर** की पंक्तियाँ उस समय देखने को मिलती है जब **कलाकार** और **पुजारी** नामक पात्र के मध्य शहरी और ग्रामीण जीवन पर तर्क – वितर्क हो रहा है। कलाकार शहरी विकास और वहाँ के लोगों के महत्वाकांक्षा का समर्थन करते हुए टैगोर की इस पंक्ति को उदाहरण के तौर पर कहता है –

" I would ask for still more
If I had the sky with all the stars
And the world with its endless riches."[129]

---

[127] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,जून 1950, पृ. 94

[128] लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति, पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण, जून 1950 पृ.121

[129] रामानंद सागर और पृथ्वीराज कपूर, कलाकार, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन,बम्बई, प्रथम संस्करण,सितम्बर 1951, पृ. 35

इसी नाटक में कलाकार तर्क – वितर्क के दौरान आजादी के बात पर **शेक्सपियर** की पंक्ति का उदाहरण के तौर पर प्रयोग करते हुए कहता है –

"I must have liberty

Withal as larger a charter s wind."[130]

पृथ्वी थिएटर के '**पठान**' नाटक में पात्र दीवान ताराचन्द्र **गुरुनानक** की एक पंक्ति का उल्लेख करता हुआ कहता है –

"एक ने कही, दूसरे ने मानी।

कहे गुरुनानक दोनों ज्ञानी ।।"[131]

इन कवि पंक्तियों के अतिरिक्त **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटकों में **शेरो- ओ- शायरी** और **तुकबंदी** भाषा की झलक दिखलाई पड़ती है। जिसका एक उदाहरण **इप्टा** के '**पहेली**' नाटक में देखने को मिलता है। जब शर्मा के चाय के दुकान पर बैठें – बैठे **खां साहब** और **वकील** अपने जीवन की समस्याओं से उत्पन्न झल्लाहट को दूर करने के प्रयास में अपना समय व्यतीत करते हुए इन पंक्तियों को अर्ज करते हैं। पहले वकील अर्ज करता है उसके प्रतित्युत्तर में खाँ साहब भी चंद पंक्तियाँ कहते हैं -

(वकील अर्ज करता है)

" यूँ गुज़ारे ज़िन्दगी, इंसान हँसते बोलते,

जान भी निकले, तो मेरी जान हँसते बोलते।

.....

मैं , अगर , तुमसे, हँसा , बोला,

तो क्या बेजा किया

क्या नहीं इन्सान से , इन्सान हँसते बोलते

.....

(खां साहब कहते हैं)

न हमको छेड़ , ऐ बादे बहारी,

राह लग अपनी।

---

[130]वही पृ.37

[131] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण,1974, पृ.93

तुझे अठखेलियाँ सूझी है

हम बेज़ार बैठे है ।।"[132]

शायरी की भांति तुकबंदी भाषा का ऐसा ही एक दृश्य **इप्टा** के '**नवान्न**' नाटक में देखने को मिलता है। जब अकाल के बाद नई फसल के रुप में धान, निरंजन के घर में आता है तो उसके घर की स्त्रियाँ इतनी प्रसन्न होती हैं कि निरंजन की भाभी राधिका और उसकी पत्नी विनोदिनी परस्पर हँसी मजाक करते हुए धान समेटती रहती हैं। तभी राधिका अपनी देवरानी विनोदनी से कहती है कि –

" जितनी हँसी उतना रोना, ऐसा राजा दशरथ का कहना ।"[133]

इसी '**नवान्न**' नाटक में एक स्थान पर और तुकबंदी देखने को मिलती है। जब नई फसल के खुशी में गाँव के उत्सव में मुर्गा लड़ाने का खेल होता है और उस खेल में **फेकू मियाँ** का मुर्गा जीत जाता है तो उत्सव में आये अन्य लोग कहते हैं -

"फेकू मियाँ का मुरगा जीता ।

मियाँ का दिल बन गया पपीता ।।"[134]

तुकबंदी भाषा का यह प्रयोग **पृथ्वी थिएटर** के नाटकों में भी देखने को मिलता है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण '**पठान**' नाटक में देखने को मिलता है। जब **शेरख़ान** अपनी पत्नी **खैरउन्निसां** को छेड़ते हुए कहता है –

" वक्ते पीरी शबाब की बातें,जैसे होती हैं ख़्वाब की बातें ।"[135]

यद्यपि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** दोनों के नाटकों में **लोकोक्तियों** और **मुहावरों** के प्रयोग देखने को मिलते हैं परन्तु गीतों की भांति इसके प्रयोग मे भी **इप्टा** की अपेक्षा **पृथ्वी थिएटर** अधिक क्रियाशील है। इनके कुछ नाटकों में मुहावरे अधिक हैं तो कुछ नाटकों में लोकोक्ति अधिक हैं। लेकिन एक बात सत्य है कि संवादों के मध्य मुहावरा और लोकोक्ति का प्रयोग इनके नाटकों को जनसामान्य के अधिक नजदीक ले जाता हुआ प्रतीत होता है।

इप्टा द्वारा मंचित नाटकों में '**चलनी में दूध दुहो और करमों को दोष दो**' , '**अपने मुँह मिया मिट्ठू**' , '**धीरे – धीरे पूंछ हिलाय, वही बाघ फाड़ खाय**' **(नवान्न)** , '**पेट में चूहा कूदना**' **(जबानबंदी)** ,

---

[132] राजेन्द्र रघुवंशी, पहेली, विश्व साहित्य प्रकाशन,आगरा, पृ.20

[133] नेमिचन्द्र जैन(अनुवादक) , विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली,प्रथम संस्करण, 2013, पृ.109

[134] वही, पृ. 118

[135] लालचन्द्र बिस्मिल और पृथ्वीराज कपूर , पठान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, दिल्ली,संस्करण,1974, पृ.152

'जोरु का गुलाम' (जालीदार पर्दे) , इत्यादि लोकोक्ति और मुहावरा देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त **'पहेली' , 'मैं कौन हूँ' , 'शतरंज के खिलाड़ी', 'दलम'** आदि में लोकोक्ति और मुहावरा का प्रयोग नगण्य दिखाई पड़ता है।

पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों में **'मैं दूध पीता बच्चा हूँ' , 'चैन की बंशी बजाना', 'उल्टी गंगा बहाना', 'घर में आग लगाना' , 'चोरी की चोरी ऊपर से सीना जोरी' , 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', 'हथेली पर सरसों नहीं जमती' , 'पत्थर पर सिर मारना' , 'खिसयानी बिल्ली खम्भा नोचे' , 'जले पर नमक छिड़कना', 'हाथी के दाँत खाने के कुछ और दिखाने के कुछ और' , 'इधर कुँआ उधर खाई' , 'आटे दाल का भाव मालूम होना' , 'रस्सी जल गयी पर बल नहीं गया' , 'ईट से ईट बजाना' , 'बूढ़े मुँह मुँहासे' , 'चोर चोरी से जाय मगर हेरा फेरी से नहीं' , 'पाँव पर कुल्हाड़ी मारना' , 'दाँतो पसीना आना' , 'सैंया भये कोतवाल अब डर काहे का' , 'आँखों की पुतली होना' , 'प्यास लगने पर कुआँ खोदना' , 'जोरु का गुलाम' , 'दूधों नहायें पूतों फलें' , 'जाको राखे सांईयाँ मार सके न कोय' , 'भूखे पेट न होय भजन'** आदि लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग विभिन्न नाटकों में खूब किया गया है।

रंगमंचीय शिल्प

जैसाकि पूर्व में ही बताया जा चुका है कि नाट्य लेखन सम्पूर्ण नाट्य प्रक्रिया का एक अंश मात्र होता है। उसका मंचन उसकी अगली और लेखन से कई गुना ज्यादा महत्वपूर्ण कड़ी है। फिर यहाँ तो **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** का उद्देश्य ही था – रंगमंच को हथियार के रुप में इस्तेमाल करते हुए जनसामान्य को शिक्षित एवं जागरुक करना। शायद इसीलिए इनके नाटककारों ने अपने नाटकों में कथावस्तु, पात्र, भाषा, बिम्ब, प्रतीक, लय आदि के अतिरिक्त तत्कालीन नवीन रंग संरचना पर भी ध्यान केन्द्रित किया। अब प्रश्न यह उठता है कि कथावस्तु, पात्र एवं चरित्र –चित्रण, भाषा एवं संवाद के अतिरिक्त ऐसे कौन से तत्व है जिसे हम रंगमंचीय शिल्प के अन्तर्गत समाहित करते हैं और उसकी तलाश नाटकों में करते हैं । तो इसका जवाब यह है कि नाटक एक दृश्यात्मक विधा है और मंच पर इसे दृश्य रुप देने हेतु जो भी शिल्प प्रयोग मे लाये जाते हैं ,उसे रंगमंचीय शिल्प के रुप में जाना जाता है। इस शिल्प के अन्तर्गत **दृश्यबन्ध, वेशभूषा, प्रकाश-योजना और ध्वनि तथा संगीत योजना** का समावेश होता है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना अति आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक के जिस दौर में **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** का उदय हुआ था ,उस दौर तक हिन्दी रंगमंच के नाम पर पारसी थिएटर को छोड़कर अन्य कोई विकसित रंगमंच या परम्परा नहीं थी। और यदि हम **पारसी थिएटर** की बात करें तो यह एक व्यावसायिक रंगमंच था जिसका उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाना था ना कि जनता को शिक्षित या जागरुक करना। आर्थिक लाभ के इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए ही पारसी थिएटर का पूरा बल अधिक से अधिक दर्शकों को आकर्षित करने पर होता था और इसी आकर्षण के लिए पारसी थिएटर रंगसज्जा, भड़कीलापन, चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन इत्यादि पर अधिक बल देता था। जिसके फलस्वरुप साधनों के प्रचुरता तथा हैरत में डाल देने वाले यांत्रिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण था। इन सब साधनों को एकत्रित करने हेतु धन की आवश्यकता होती थी।

रंगमंच के इस खर्चीले वातावरण में **इप्टा** जैसे अव्यावसायिक रंगमंडली के लिए समस्या महसूस करना स्वाभाविक था। लेकिन **इप्टा** से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों ने इसका भी समाधान निकाल ही लिया कि किस प्रकार बिना किसी तामझाम के नाटक और रंगमंच को एक नया रुप प्रदान किया जा सकता है। इस समाधान के तहत ही **इप्टा** ने **नाटक की विषयवस्तु** और **अभिनेताओं की क्षमता** पर बल देकर, बिल्कुल सादे काले परदे के सामने नाटक मंचित करके , यांत्रिक और दिखावटी मंचसज्जा के मोह पर पहला तीव्र प्रहार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उस पारसी थिएटर के तड़क – भड़क वाले दौर में भी इप्टा के नाटक साधनहीनता , तड़क – भड़क और अलंकरण के अभाव के बावजूद , अपने कथ्य की तात्कालिकता, सार्थकता तथा गंभीरता के दम पर प्रभावशाली सिद्ध हुए। इप्टा के इस प्रयास का परिणाम यह हुआ कि भारतीय रंगमंच में नाटक को , विशेषकर उसकी कथावस्तु तथा अभिनेता को पुन: प्रतिष्ठा मिली।

किसी भी कथावस्तु को प्रभावशाली तरीके से दर्शकों तक संप्रेषित करने के लिए सबसे जरुरी होता है कि उस कथावस्तु की दृश्यबंध संरचना कैसी है क्योंकि रंगमंच नाट्य रचना के भीतर होता है। नाट्य रचना के प्राणत्व की तरह सूक्ष्म रुप में नाट्य तंतुओं में अंतर्लीन रंगमंच का व्यक्त रुप होता है। नाट्य प्रस्तुति के लिए आयोजित दृश्यबन्धादि , जहाँ सम्पूर्ण जीवन स्थिति को घटित होते हुए दिखाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दृश्यबंध के माध्यम से ही सम्पूर्ण घटना को मंच पर घटित होते हुए दिखाया जाता है। अत: इप्टा के नाटकों में शिल्प चेतना में आये हुए बदलाव के कारण रंग – चेतना में भी बदलाव लाना स्वाभाविक था। अब रंगमंच के चौखटे को पहले की भांति किसी नाटक की रंग – संरचना प्रस्तुत करने के

क्रम में ही महत्व नहीं दिया जाता था अपितु अब रंगमंच का महत्व इस रुप में देखा जाने लगा था कि वह नाटक के कथ्य को दृश्य बनाकर , उसे मूर्तरुप में कैसे अभिव्यक्त करता है।

यह बात सच है कि प्रत्येक नाटक स्वयं मे अपना मंच कल्पना लिये हुए होता है और भिन्न-भिन्न नाटकों का मंच सज्जा भी भिन्न – भिन्न होता है। अत: इप्टा के नाटकों में भी यह भिन्नता दिखाई पड़ती है। इनके कुछ नाटक पारम्परिक मंच सज्जा की ओर झुकी हुई हैं तो कुछ नाटकों में यथार्थवादी मंच का आग्रह है। इप्टा ने इस स्तर पर अपने नाटकों में कई नये प्रयोग किये हैं ।

इप्टा के प्रसिद्ध नाटक **'नवान्न'** में नाटककार ने प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व को उस पात्र के द्वारा प्रयुक्त भाषा एवं क्रियाकलापों के माध्यम से खोलने का प्रयास किया। नाटककार ने एक ओर जहाँ शहर के रईसों को अकाल के दौरान भी दावत करते और अंग्रेजी बोलते हुए चित्रित किया है वहीं दूसरी ओर इस नाटक में अकाल की भयावह स्थिति को दर्शाने के लिए एक कूड़ेदान के पास कुंज और राधिका तथा कुछ कुत्तों की गों गों की आवाज को इंगित किया है और फिर थोड़ी देर बाद कुंज के हाथों से टपकते रक्त को दिखाया है।

'नवान्न' नाटक का मंचन सर्वप्रथम इप्टा द्वारा 1944 ई. में **शम्भुमित्रा** के निर्देशन में हुआ था। इस निर्देशन के बारें में यह कहा जाता है कि इसके बाद रंगमंच की दुनिया में एक नए युग की शुरुआत हो गई थी। क्योंकि इसके मंचन में **शम्भुमित्रा** ने फटे- पुराने टाट को पर्दे के रुप में इस्तेमाल किया था और अकाल पीड़ित लोगों के दयनीय स्थिति को दिखाने हेतु जूट और बोरे को पात्रों के वस्त्र के रुप में इस्तेमाल किया था। जैसाकि पटना में विजन भट्टाचार्य के जन्म शताब्दी वर्ष को मनाते हए **अनीश अंकुर** ने अपने वक्तव्य में कहा था – **"नवान्न का मंचन शहरी दर्शकों के लिए इसलिए भी अजीबोगरीब था कि नाटक का मंच जूट और बोरों से भर गया था। ऐसा इसलिए क्योंकि अकाल के बाद बोरों के चिथड़े ही लोगों के वस्त्र थे।"**[136] मंचन में इस प्रकार का प्रयोग तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण था। अकाल के दौर में भुखमरी के कगार पर खड़े लोगों के पास पेट भरने के लिए अन्न नहीं था तो तन ढ़कने के लिए वस्त्रों की कल्पना बहुत दूर की बात थी। कहने का तात्पर्य यह है कि यह मंचन यथार्थवादी आग्रह लिये हुए था।

निर्देशक शम्भुमित्रा ने **मंच, प्रकाश और ध्वनि** का बेहतरीन प्रयोग करते हुए रईसों के चकाचौंध वाली कोठी को मंच के दाँयी हिस्से में और कूड़ेदान के पास पत्तलों से जूठन कुरेदते कुंज , राधिका और

[136] www.Hastakshep.com, 15/02/2021

कुत्ते का दृश्य मंच के बाँयी ओर **स्पॉट लाइट** के माध्यम से एक साथ दिखाने का नवीन प्रयास काबिलें तारीफ़ था। अमीरी और गरीबी का दृश्य एक साथ दिखाकर निर्देशक ने दर्शकों की अन्तरात्मा को झकझोर दिया था। शायद यही कारण था कि बंगाल की भुखमरी का दर्द पूरे देशवासियों का दर्द बना और बंगाल की इस मुसीबत को दूर करने के लिए देश के प्रत्येक कोने से आर्थिक सहायता मिली।

इसी नाटक में शम्भुमित्रा ने अकाल के दौरान शहरों में रईसों के घर हुए दावतों में पत्तल में बचे जूठन को खाने हेतु इंसान और कुत्ते के मध्य हुए खींचातानी को **ध्वनि प्रयोग** के माध्यम से बहुत बेहतरीन तरीके से प्रस्तुत किया। निर्देशक ने मंच के पीछे से कुत्ते के गुर्राने की आवाज को ध्वनि यंत्रों के मदद से प्रस्तुत कर मंच पर कुंज के हाथों से खून की बूँदों को इतनी सूक्ष्मता से प्रदर्शित किया कि दर्शक को समझने में देर न लगी कि पत्तल में बचे जूठन खाने के दौरान ही वहाँ मौजूद कुत्ता कुंज को काट लिया है क्योंकि उस पत्तल में बचे जूठन को कुत्ता भी खाना चाहता था। लेकिन जब वह कुंज के कारण पत्तल का जूठन नहीं पा सका तो कुत्ते ने क्रोध में कुंज के हाथों में काट लिया। यहाँ यह कहना बिल्कुल अनुचित नहीं होगा कि निर्देशक शम्भुमित्रा ने फटे- पुराने टाट, जूट, बोरा, प्रकाश और ध्वनि आदि का शिल्प स्तर पर नवीन और बेहतरीन प्रयोग **'नवान्न'** नाटक को गरीबी के भूगोल के रुप में प्रस्तुत कर बंगाल के दर्द को पूरे देश तक पहुँचाने में अपार सफलता अर्जित की है।

1944 ई. में इप्टा के मंचन के पश्चात् **'नवान्न'** नाटक का एक बार पुन: मंचन 1948 ई. शम्भुमित्रा द्वारा स्थापित ग्रुप थिएटर **'बहुरूपी'** द्वारा किया गया था। जिसका निर्देशन **कुमार रॉय** ने किया था। इसके बाद तो विभिन्न स्थानों पर **नवान्न** के कई मंचन हुए।

इप्टा के नाटक रंगमंचीय शिल्प के स्तर पर अपनी परम्परा से बहुत आगे नजर आते हैं। भारतीय नाट्य परम्परा में, संस्कृत नाट्य परम्परा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत नाटकों में जहाँ एक ओर किसी विशेष व्यक्ति को नायक – नायिका के रुप में चित्रित किया जाता था वहीं दूसरी ओर युद्ध, हत्या और यौन संबंध जैसे दृश्य एकदम वर्जित थे क्योंकि नाट्यालेख के स्तर पर ऐसे दृश्यों को लिखना तो आसान होता है परन्तु मंच पर उसे मूर्त रुप में प्रस्तुत करना असहज हो जाता है। परन्तु इप्टा ने व्यक्ति विशेष की परम्परा को तोड़ते हुए सामान्य जन को नायक – नायिका के रुप में स्थापित किया और संस्कृत परम्परा की मर्यादा को बनाये रखते हुए भी यौन संबंध जैसे दृश्यों को चित्रित करने का जो साहस भरा कदम उठाया था ,वह वाक़ई में काबिले तारीफ था। उदाहरण के तौर पर – **'ज़बानबंदी'** नाटक उल्लेखनीय है। इस नाटक में नाटककार **विजन भट्टाचार्य** ने यौन संबंध को दिखाने के लिए एक नये शिल्प को ईजाद किया। जिसके तहत नाटककार ने अकाल के दौर में भीख माँगने को विवश बैंदा की युवा स्त्री को नई साड़ी तथा अन्य साजो-

सज्जा के साथ प्रस्तुत कर दिया। एक भिखारी स्त्री के पास नई साड़ी तथा श्रृंगार के अन्य समान इस बात की ओर संकेत कर दिये कि यह स्त्री अपने शरीर को किसी पैसे वाले पुरुष को बेच रही है। जिसका संवाद कुछ इस प्रकार है –

"**(तरल अन्धकार के बीच बैंदा, बैंदा की स्त्री तथा अन्य लोग फुटपाथ पर सो रहे हैं। जहाँ रात के अँधेरे में एक व्यक्ति चुपके – चुपके इन सोये हुए व्यक्तियों की ओर बढ़ता है। उस आदमी के निकल जाने पर बैंदा की स्त्री भी उठकर उसके पीछे – पीछे जाती है। उसके बाद दोनों किसी एकान्त स्थान पर चले जाते हैं। इधर बैंदा की आँख खुलती है तो वह अपनी पत्नी को वहाँ न पाकर परेशान हो जाता है और उसे खोजने लगता है। तभी बैंदा की माँ , बैंदा का भाई पदा तथा अन्य लोगों की आँखे खुल जाती है। तभी बैंदा की माँ कहती है -)**

बैंदा की माँ : कितने ही दिनों से कह रही हूँ कि मुझे बहू के लक्षण अच्छे नहीं दिखते। पर कोई विश्वास ही नहीं करता। अब तो अपनी आँखों से देख लिया। सो ही तो कहूँ। नये – नये कपड़े आते कहाँ से हैं ? अब यह बात समझ में आयी।

(थोड़ी देर बाद बैंदा की स्त्री प्रवेश करती है तो तुरंत ही उछल कर बैंदा उसकी चोटी पकड़ लेता है और धक्का मार कर उसे एक ओर गिरा देता है। इसके बाद अपने भाई पदा के साथ बाहर जाता है और एक आदमी को पकड़े हुए प्रवेश करता है)

बैंदा : (अपनी पत्नी से) कहाँ गयी री इधर आ बज्जात। देख यही आदमी है

(बैंदा की स्त्री सिर हिलाकर सम्मति जताती है)"[137]

तत्कालीन अकाल के दौर में आधी आबादी के शारीरिक शोषण अर्थात् रईस पुरुषों द्वारा अकाल की भुखमरी से लाचार महिलाओं को उनकी आवश्यकता की चीजों को देने के लिए उनके साथ यौन संबंध बनाने जैसे समाजिक यथार्थ को दर्शकों के समक्ष सिर्फ एक नई साड़ी के माध्यम से प्रस्तुत कर देना वाक़ई इप्टा का एक बेहतरीन रंगमंचीय शिल्प कहा जा सकता है।

[137] नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण,2013, पृ.142-144

'जब़ानबंदी' और **'नवान्न'** नाटक को मिलाकर इप्टा द्वारा 1946 ई. में **'धरती के लाल'** शीर्षक से बनाई गई फिल्म में भी इस यौन संबंध दृश्य को दर्शाने के लिए **निर्देशक ख़्वाज़ा अहमद अब्बास** ने ऐसा ही शिल्प अपनाया है। फिल्म में नई साड़ी के स्थान पर दूध से भरी नई बोतल का प्रयोग किया गया है। फिल्म में भूख से तड़पते अपने बच्चे मानिक के लिए भोजन का इंतजाम करने हेतु विवश बैंदा की स्त्री या मानिक की माँ एक पर पुरुष को अपना शरीर बेचने के बाद दूध से भरी एक बोतल लेकर आती है और बच्चे मानिक को पिलाने लगती है। तब भी वहाँ यही सवाल उठता है कि यह बोतल तुम्हे कैसे मिली।

इप्टा के कुछ नाटककारो द्वारा नाटक के पूरे कथानक को **स्मृति दृश्यों** के माध्यम से चित्रित कर देना अपने आप में शिल्प के स्तर पर एक नायाब़ प्रयोग था। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण **ख़्वाजा अहमद अब्बास** द्वारा लिखित **'मैं कौन हूँ'** नाटक है। इस नाटक में नाटककार ने **बेनाम आदमी** नामक पात्र के **स्मृति दृश्यों** के माध्यम से ही देश विभाजन के दौरान होने वाले दंगों को अत्यन्त मार्मिक रुप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में नाटककार ने प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व को उस पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा एवं हरकतों के माध्यम से खोलने का प्रयास किया है। नाटककार ने एक ही व्यक्ति से दो भूमिकाएँ करवाकर नवीन रंगयुक्ति का प्रयोग किया है। इस नाटक में बेनाम आदमी को प्रारम्भ में मरा हुआ और बाद में जीवित रुप में प्रस्तुत कर उसकी कथा को उसी की ज़ुबानी कहलवा कर नाटककार ने रंग संरचना से नाटक में वस्तु एवं टेक्नीक के धरातल पर नवीन नाट्य शिल्प का प्रयोग किया है। यह नाटक अंक या दृश्य में विभाजित नहीं है अपितु यह प्रारम्भ होता है और समाप्त हो जाता है। सीधा, सपाट बिना किसी मध्यांतर का यह नाटक अनेक स्मृति दृश्यों, कदमताल की ध्वनियों आदि के कारण यथार्थवादी मंच का आग्रह करता हुआ नजर आता है। यह नाटक बिना किसी मंच सज्जा के सिर्फ **प्रकाश और ध्वनि** के सहारे मंचित किया जा सकता है। बिना किसी तामझाम का मंचन ही इस नाटक की ख़ूबसूरती और इप्टा की शिल्प शक्ति है।

इसी तरह **राजेन्द्र रघुवंशी** द्वारा लिखित**'पहेली'** नाटक है। जो अपनी सादगी के कारण ही यथार्थवादी मंच की ओर झुका हुआ है। मंच पर केवल एक सेट के द्वारा ही पूरा नाटक दर्शाया जा सकता है। इस नाटक की प्रस्तुति राजेन्द्र रघुवंशी के निर्देशन में 1953 ई. मे बम्बई इप्टा के सातवें सम्मेलन के दौरान हुई थी। जिसमें मंच पर एक मेज और दो- तीन कुर्सियाँ रखकर पूरे नाटक को मंचित कर दिया गया था। इसमे राजेन्द्र रघुवंशी के साथ - साथ **ज्ञान शर्मा, अहमद अली, टहलराम** इत्यादि कलाकारों ने भूमिका निभायी थी। इसके अतिरिक्त इसका मंचन आगरा संस्कृत महाविद्यालय में इप्टा के ही अधिवेशन में हुआ था। इन दोनों मंचन के अतिरिक्त **'पहेली'** का मंचन कई बार विभिन्न स्थानों पर हुआ था।

जब पहेली नाटक 1953 ई. में पुस्तक के रुप में प्रकाशित हुआ था। तो उस समय इस पर हुई चर्चा गोष्ठी के दौरान कई विद्वानों ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। ये विद्वान पहले ही इस नाटक का मंचन देख चुके थे। जिसमे मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव प्रमुख हैं।

आगरा संस्कृत महाविद्यालय में इस नाटक का मंचन देख चुके मोहन राकेश ने **'पहेली'** पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था – "वहाँ **बैठने के लिए कुर्सियाँ नहीं थी। स्टेज के बनाने में बहुत सादगी से काम लिया गया था। गोया पूरा वातावरण बेतकल्लुफ़ी का था। नाटक के अभिनय में बहुत सादगी थी, और यह सादगी ही नाटक की एक बड़ी विशेषता थी। उस सादगी का अर्थ होता है एक ऐसा पॉलिश, जिसमें पॉलिश का पता नहीं चलता। समस्या प्रधान नाटक होते हुए भी 'पहेली' में वह बात नहीं है , जो हिन्दी के बहुत से समस्या प्रधान नाटकों में पाते हैं – गति का अभाव और लम्बे – लम्बे संवाद। इसमे उस तत्व का समावेश नहीं है, जिसे कुछ लोग 'नाटकीयता' कहते हैं और जिसका अर्थ लिया जाता है 'सस्पेंस' जो नाटक को मदारी का पिटारा बना दे। 'पहेली' में वही कुछ होता है, जो जीवन में हो सकता है और हुआ करता है – केवल रंगमंच पर उसकी गति अपेक्षाकृत तीव्र हो गई है। एक छोटा सा होटल है – या ठीक कहें तो चाय की दुकान है – उसके चलाने वाले शर्मा जी हैं , और वहाँ आने – जाने वाले कुछ लोग है। इन्ही को लेकर 'पहेली' की सृष्टि हुई।**

यदि देखा जाये तो 'पहेली' एक वर्ग के जीवन का स्वाभाविक चित्रण है। 'पहेली' उन लोगों के लिए है , जो उलझे हुए जीवन को जी रहे हैं। स्टेज से हटकर यही 'पहेली' करोड़ो व्यक्तियों के जीवन की पहेली बन जाती है। जबकि देखने वाला वहाँ भी बता सकता है कि वह पहेली नहीं है। सीधी सी बात है। कुछ ऐसे कारण हैं ,जो जीवन को उलझाये हुए हैं। उन्हे दूर करके ही सारी उलझन दूर हो सकती है।"[138]

'पहेली' नाटक पर प्रतिक्रिया देते हुए **राजेन्द्र यादव** ने कहा है कि – **" मेज कुर्सी पर बैठकर यह कभी भी नहीं लिखा गया है , दर्शकों के सामने और स्टेज पर खड़े होकर यह एकांकी बना। जिसका कई स्थानों पर मंचन हुआ और यह दर्शकों को बाँधे रखा। स्टेज पर ही घटा – बढ़ा, सुधरा – सँवरा। यो इसका क्रम लेखक, स्टेज और दर्शक नहीं रहा, बल्कि दर्शक, स्टेज और लेखक रहा। इससे इसके वार्तालाप में कड़क है, जान है, कथानक में गठन है, उठान है, पात्रों का**

[138] नेमिचन्द्र जैन (सं.), नटरंग पत्रिका, राजेन्द्र रघुवंशी पर विशेष, पहेली प्रतिक्रिया, खंड -18, अंक - 71, सितम्बर 2003, पृ. 68-69

व्यक्तित्व है , चरित्र है। मंच का काम तो अद्भुत है ही। थोड़ा आगरे की बोली का रंग लिए हुए प्रवाहपूर्ण मुहावरेदार सरल, सजीव भाषा और सबके ऊपर एक स्वस्थ दृष्टिकोण। समस्या की तह तक को भेद जाने वाली निगाह और ज़िन्दगी को ज्यों का त्यों उतार देने वाली कलम। केवल एक सेट और एक पूरा वर्ग एक युग है, जो अपने सारे वरदानों के साथ 'पहेली' के प्रत्येक अक्षर में बोलता है , जो स्वयं एक पहेली है और पहेली का निशाना है।
जहाँ पहेली एक राजनीतिक व्यंग्य है। वहाँ वह एक सधा , सबसे तीखा और आवश्यक यथार्थ है।"[139]

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि रंगमंच के तत्व नाट्यालेख के भीतर ही होता है अर्थात् नाटककार नाट्यरचना के दौरान ही रंगतत्व की ओर इंगित करता जाता है। अत: ज़ाहिर सी बात है कि प्रत्येक नाटक अपने मंच सज्जा को स्वयं में समाहित किये होता है। जिस पर नाटककार का प्रभाव रहता है। हाँ कभी-कभी निर्देशक वक्त और आवश्यकतानुसार इनमे परिवर्तन करता रहता है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें **हबीब तनवीर** के नाटक और उसके मंचन में देखने को मिलता है। **हबीब तनवीर** ने इप्टा के मंचन हेतु '**जालीदार पर्दे**' नाटक की रचना और साथ ही साथ इसका निर्देशन भी किया। इसके अतिरिक्त इन्होने इप्टा के लिए प्रेमचन्द्र की कहानी '**शतरंज के खिलाड़ी**' का नाट्य रुपांतरण इसी शीर्षक से किया । शतरंज के खिलाड़ी नाटक का मंचन इप्टा द्वारा **दीना पाठक के** निर्देशन में किया गया था। इप्टा के अन्य नाटकों की भांति इसकी मंच सज्जा भी लोकरंग लिए हुए यथार्थवाद की ओर ही झुकी रही।

इन दोनों ही नाटकों में नाटककार हबीब तनवीर ने पारम्परिक रंगमंच और आधुनिक रंगमंच के इतर अपनी निजी शैली विकसित की और लगातार इसको तराशते रहे। कहा जाता है कि किसी भी रचना पर रचनाकार के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ता है। अत: यहाँ इन दोनों नाटकों की मंचसज्जा पर बात करने से पूर्व मंचसज्जा को लेकर हबीब तनवीर के विचारों से अवगत होना अति आवश्यक प्रतीत हो रहा है। इनके बारें में यह कहा जाता है कि जब ये नाट्य शैली की तलाश में निकले तो वे अपनी परम्परा, अपनी जड़ों की ओर लौटे अर्थात् छत्तीसगढ़ी लोकशैली की ओर। जैसाकि **हबीब तनवीर** ने भी मंच सज्जा को लेकर स्वयं कहा है – **"पाश्चात्य तकनीकों के मुताबिक हमारे पास प्रोसेनियम स्टेज हैं, प्रकाश संयोजन है और यथार्थवादी रुप सज्जा है। मैंने शुरुआती दौर में इसका इस्तेमाल किया ,जो प्रस्तुतीकरण की मेरी शैली में उपयोगी हो सकते थे। अभी हाल ही में मैंने इस पर विचार शुरु किया, एक उम्मीद के साथ कि भारत में आंचलिक कलाकारों द्वारा प्रयोग किए जाने वाली रुप**

[139] वही, पृ. 69

सज्जा को अपनाऊँ, बहुत साधारण, खासी किफ़ायतमन्द और सस्ती। और प्रकाश संयोजन तथा मंच सज्जा के बारें में कुछ ऐसा ही करुँ। मंच कैसा हो ? प्रेक्षागृह कैसा हो ? दर्शक कहाँ किस ओर से बैठेंगे और अभिनेता कैसे अभिनय करेंगे ? जब तक हम अपनी परम्पराओं की ओर नहीं लौटेंगे और दुनिया को अपनी परम्परा की जानकारी नहीं देंगे तब तक हम अभिव्यक्ति का वह स्वरुप विकसित नहीं कर सकेंगे जो आज की तकनीकी दुनिया में जरुरी है , जहाँ नए किस्म की माँग बढ़ रही है। इसलिए जहाँ तक शैली, तकनीक और प्रस्तुतीकरण का प्रश्न है, हमें कुछ ऐसा चाहिए जो देशज हो, अपनी सम्पूर्णता में देशज हो, लेकिन साथ ही कथ्यात्मक रुप से विश्वजनीन, आधुनिक समसामयिक हो, हमारे अपने युग का हो , इस स्पेस एज का हो।"[140]

कहने का तात्पर्य यह है कि हबीब तनवीर का मानना था कि कहानी की प्रगति में आड़े आने वाली मंच सज्जा या किसी भी चीज को निकाल देना चाहिए । हबीब साहब की प्रस्तुति की यही खासियत है कि वे सम्प्रेषण में किसी अतिरेकता का इस्तेमाल नहीं करते। ना भारी भरकम रंग सज्जा है, ना गूढ़ अभिनय। सादे- सरल ढंग से कहानी कही जाती है और नाटक भीतर तक खुलता जाता है। शायद इसी का प्रभाव हमें '**जालीदार पर्दे**' और '**शतरंज के खिलाड़ी**' नाटक के मंच सज्जा पर भी देखने को मिलता है। जहाँ इसके मंचन के दौरान मंच छत्तीसगढ़ी लोकरंग लिये हुए यथार्थ की ओर झुका था .

यदि हम **पृथ्वी थिएटर** के रंगशिल्प को देखें तो ज्ञात होता है कि यद्यपि इप्टा की भांति इसके नाटक के केन्द्र मे भी तत्कालीन समस्याएँ विद्यमान थी परन्तु मंचन के स्तर पर यह **इप्टा** से थोड़ा भिन्न था। इसके प्रारम्भिक नाट्य मंचन में **पारसी थिएटर** और शेक्सपीरियन शैली का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में यह थिएटर, पारसी थिएटर की भांति तड़क- भड़क और शेक्सपीरियन शैली की भांति यथार्थ पर ज्यादा बल देता था। इसके ऐसा करने के पीछे कई कारण हो सकते थे , जो निम्नवत् है –

इसका पहला कारण यह हो सकता है कि इप्टा की भांति पृथ्वी थिएटर की स्थापना कई विद्वानों ने मिलकर नहीं अपितु पृथ्वीराज कपूर ने अपने अकेले बल पर की थी। अर्थात् पृथ्वी थिएटर को पृथ्वीराज कपूर ने अपनी पूंजी लगाकर शुरु किया था और जिस समय इस थिएटर की स्थापना की गई थी उस समय तक पृथ्वीराज कपूर फिल्म जगत के एक सुपर स्टार अभिनेता बन चुके थे। जिन्हे फिल्मों में अभिनय करने हेतु ठीक ठाक पारिश्रमिकी मिल जाती थी। अत: उन्हे प्रारम्भ में थिएटर हेतु धनाभाव का उस तरीके से सामना नहीं करना पड़ा जैसाकि इप्टा को करना पड़ रहा था।

[140] भार्गव, भारत रत्न, रंग हबीब, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, 2006, पृ.82

दूसरा कारण यह हो सकता है कि पृथ्वी थिएटर एक व्यावसायिक थिएटर था जिसके मंचन को देखने हेतु दर्शकों को टिकट लेना पड़ता था। अत: स्वाभाविक सी बात है कि व्यावसायिक होने के कारण इसके मंचन से जो कुछ आमदनी होती थी , उस धन का प्रयोग थिएटर के साज सज्जा तथा अन्य कार्यों हेतु किया जाता था।

तीसरा कारण यह हो सकता है कि पृथ्वीराज कपूर प्रारम्भ मे पारसी थिएटर के तड़क – भड़क से बहुत प्रभावित थे। शायद इसीलिए इन्होने भी अपने थिएटर में उस परम्परा का अनुकरण किया था।

यदि सम्पूर्णता में देखा जाये तो पृथ्वी थिएटर की स्थापना करने वाले पृथ्वीराज कपूर अपने समकालीन पारसी थिएटर और उसके तड़क –भड़क से प्रभावित थे। इस थिएटर के व्यावसायिक होने के कारण उनके पास इतना धन तो था ही कि वे पारसी थिएटर की की भांति अपने मंचन में भी तड़क – भड़क दिखाने हेतु मंच सज्जा के सामग्री को एकत्रित कर सकें। शायद इसीलिए इनका मंचन इप्टा के सादगी भरे मंचन से थोड़ा भिन्न था। पृथ्वीराज कपूर प्रारम्भ में मंचसज्जा , वेशभूषा ,ध्वनि, प्रकाश इत्यादि पर कथानक से अधिक बल देते थे और यही वजह थी कि इनका पहला नाटक '**शकुन्तला**' पूरी तरह से असफल साबित हुआ था।

'**शकुन्तला**' नाटक का पहला प्रदर्शन 9 मार्च 1945 ई. को **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में **पृथ्वीराज कपूर** के निर्देशन में किया गया था। इसमे दुष्यन्त की भूमिका स्वयं पृथ्वीराज कपूर ने किया था और कण्व की भूमिका के लिए इन्होने अपने मित्र **के. एन. सिंह** को चुना तथा शकुन्तला की भूमिका के लिए तत्कालीन दौर की प्रसिद्ध अभिनेत्री **सुवर्णलता** को अनुबंधित किया। इन्होने अपने छोटे बेटे शशि कपूर को भरत की भूमिका दी तथा राजकपूर को नाटक के लिए प्रकाश संयोजन का कार्यभार सौंपा।

इस नाटक के बारें में यह कहा जाता है कि जब इसका पूर्वाभ्यास प्रारम्भ हुआ तो कई गड़बड़ियाँ सामने आयी। एक बार तो अभ्यास के दौरान शकुन्तला की भूमिका निभा रही अभिनेत्री सुवर्णलता मंच से गिर गई और उसके कुछ दिनों बाद उन्होने सिनेमा में व्यस्त होने के कारण पूर्वाभ्यास में आने की असमर्थता जता कर इस भूमिका को निभाने से इंकार कर दिया। तब उनके स्थान पर **उज़रा मुमताज** को अनुबंधित किया गया। इसी तरह कण्व ऋषि की भूमिका निभा रहे के. एन. सिंह ठीक से संस्कृत भाषा में वेदों का उच्चारण नहीं कर पर रहे थे। अत: इन्होने ने भी नैतिकता के साथ इस भूमिका को निभाने से मना कर दिया । अब इनके स्थान पर बी. एम. व्यास को यह भूमिका दी गई।

इन सब के पश्चात् जब 9 मार्च 1945 ई. को इसका मंचन हुआ तो इसे देखने के लिए फिल्म जगत तथा अन्य क्षेत्रों की बड़ी- बड़ी हस्तियों ने शिरकत की। इस नाटक को यथार्थ रुप देने के लिए मंच को

भव्य तरीके से सजाया गया था। प्रदर्शन के दौरान नाटक के पहले दृश्य ने दर्शकों को बहुत प्रभावित किया परन्तु बाद में यह प्रभाविकता नहीं बची। इसका कारण यह था कि इस नाटक में सिनेमा के तर्ज पर बड़े – बड़े सेट लगाये गये थे , जिसे एक दृश्य के समापन पर , दूसरे दृश्य हेतु बदलने में काफी वक्त लग जाता था । जैसे ही कोई दृश्य समाप्त होता तो मंच पर अँधेरा छा जाता और पर्दे के पीछे से हथौड़े की ठक – ठक की आवाज आने लगती। दरअसल यह शोर सेट के बदलने के कारण होता था। सेट को बदलने में लगने वाले वक्त के कारण ही नाटक का प्रभाव क्षीण होता चला जाता। यही कारण था कि यह नाटक अपने भव्यता के कारण भी सफल साबित नहीं हो सका। इस नाटक के प्रथम मंचन के बाद ही कई विद्वानों ने अपनी प्रतिक्रया व्यक्त की, जो सकरात्मक और नकरात्मक दोनों प्रकार की थी । उन्ही प्रतिक्रियाओं से इस बात का संकेत मिलता है कि यह नाटक इतनी भव्यता के बाद भी असफल क्यों रहा ?

शकुन्तला पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए '**फिल्म इंडिया**' के संपादक **बाबूराव पटेल** ने कहा था कि " **पृथ्वीराज का शकुन्तला नाटक अवश्यमेव द्रष्ट्व्य नाटक है। किसी को भी इससे वंचित रहना उचित नहीं। यह एक ही साथ क्लासिक और कलात्मक और रोमांटिक सब कुछ है।**"[141] इतना ही नहीं इन्होने शांताराम के निर्देशन में बनी फिल्म '**शकुन्तला**' जिसमें चन्द्रमोहन ने दुष्यन्त की भूमिका अदा की है और पृथ्वी राज के निर्देशन में मंचित नाटक शकुन्तला की तुलना करते हुए कहा है कि –**" नाटक ने फिल्म को बहुत पीछे छोड़ दिया। Prithviraj looks an ideal King on the stage, miles better than Chandramohan in the film. And Prithviraj lives the role for which Chandramohan hardly had any scope. Between the popular film and the play the latter is a more classic presentation of Kalidas's immortal drama and beats the film hollow in over –all production values.**

While Shantaram fails to capture the delicate spirit of romancein the original play, Prithviraj succeeds in doing so to a remarkable degree."[142]

जहाँ बाबूराव पटेल द्वारा शकुन्तला पर प्रशंसात्मक टिप्पणी देखने को मिलती है, वहीं बलराज साहनी द्वारा इस मंचन के पश्चात् एक नकरात्मक टिप्पणी देखने को मिलती है। इन्होने अपने लेख – '**पृथ्वीराज और**

[141] जानकी बल्लभ शास्त्री, नाट्य सम्राट श्री पृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन , मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974 , पृ. 64

[142] वही, पृ. सं. - 64

नाट्य कला' जो **'पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ'** में संकलित है में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि – **"पृथ्वीराज कपूर का 'शकुन्तला' कालिदास के साथ अन्याय है। पृथ्वी थिएटर्स के इस प्रोडक्शन से कालिदास की 'स्पिरिट' गायब थी।"**[143]

वैसे बलराज साहनी ने इसी संदर्भ में शांताराम की फिल्म शकुन्तला पर भी टिप्पणी करते हुए कहा है कि – मुझे याद है कि विलायत से लौटने पर बड़े शौक से शांताराम रचित शकुन्तला देखने गया। मगर देखने के बाद तबियत कई दिनों तक उचाट रही। दिल्ली पहुँच कर अपने एक मित्र की आलमारी में अभिज्ञान शाकुन्तलम् पड़ी देखी। हम दोनों इस पुस्तक को लेकर बैठ गये और सारी शाम कालिदास की अद्वितीय पंक्तियों का रसास्वादन करते रहे – तब जाकर फिल्म का असर कुछ कम हुआ।"[144]

वैसे तो बलराज साहनी ने पृथ्वीराज से अधिक **नारायण प्रसाद 'बेताब'** को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। इन्होने कहा कि मुझे आपत्ति मुख्य रुप से **'बेताब'** के रुपांतरण पर है। जिसने **'शकुन्तला'** नाटक के लिए कालिदास से सिर्फ प्लॉट लिया है और उसके आधार पर एक ऐसा नाटक लिख दिया है जो कालिदास का हर्गिज नहीं कहा जा सकता। यह कालिदास पर अन्याय था जो हमारे देश की फिल्म निर्माता ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों के साथ प्राय: करते रहते हैं।

बलवंत गार्गी ने शकुन्तला पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि " **पृथ्वीराज ने दुष्यंत के महल की यथार्थवादी सज्जा देने में इतना उत्साह दिखाया कि उन्होंन सुसज्जित खम्भों,क्षत्रधारी सिंहासन और चित्रांकित दीवारों तक को भव्य रुप में प्रस्तुत किया। यहाँ तक की वन स्थलों को भी सराहनीय दृश्यों में प्रदर्शित करके दिखाया। कण्व ऋषि अपनी अंतर्दृष्टि में प्रेमी दुष्यंत और शकुन्तला को देखते हैं। यह दृश्य अँधेरें रंगमंच पर प्रकाश स्थलों की सहायता से प्रदर्शित किया गया। एक प्रकाशपुंज ध्यानमग्न कण्व पर तथा दूसरा राजकीय युगल पर। पृथ्वीराज ने कालिदास की प्रथम पंक्तियों में निहित चेतावनी की ओर ध्यान नहीं दिया और नाटक की आत्मा को भुलाकर वास्तविक दृश्यों को प्रस्तुत करने में श्रम और धन का अपव्यय किया। नाटक साज सज्जा और परिधान आदि की अधिकता के कारण उभर न सका।"**[145]

---

[143] देवदत्त शास्त्री (सं.), पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ, में संकलित बलराज साहनी का लेख - पृथ्वीराज और नाट्य कला , किसलय प्रकाशन, पृ. 314

[144] देवदत्त शास्त्री (सं.), पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ ,में संकलित बलराज साहनी का लेख - पृथ्वीराज और नाट्य कला , किसलय प्रकाशन, पृ.310

[145] देवदत्त शास्त्री (संपादक), पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ , में संकलित बलवंत गार्गी का लेख, पृथ्वी थिएटर्स, किसलय प्रकाशन, पृ.341

दरअसल बलवंत गार्गी की प्रतिक्रिया शकुन्तला नाटक की असफलता की ओर स्पष्ट रुप से इंगित करता है। यहाँ यह कहना बिल्कुल भी अनुचित नहीं होगा कि पृथ्वी थिएटर स्थापित करने के पूर्व पृथ्वीराज कपूर ने जिस ग्रांट एंडरसन की शेक्सपियर थिएटर कम्पनी में काम किया था। वहाँ से इनके ऊपर शेक्सपीरियन शैली का प्रभाव पड़ना लाज़मी था। यह शैली दृश्यों की यथार्थ प्रस्तुति पर जोर देती है। जबकि कालिदास के नाटक यथार्थवादी शैली के अनुरुप नहीं है। इनमे भावनात्मक अभिनय की ज्यादा जरुरत है ना कि बड़े-बड़े सेटों और रंग बिरंगे परिधानों की।

यह सच है कि **शकुन्तला** नाटक पृथ्वी थिएटर का एक असफल नाटक रहा है फिर भी ऐसा नहीं है कि इसके प्रथम मंचन के बाद पुन: कोई मंचन नही हुआ। अपितु इसके विपरीत इसके तीन सौ से अधिक प्रदर्शन हुए। इसे बम्बई के बाहर लोगों के द्वारा खूब पसंद किया गया। इन सभी घटनाओं से पृथ्वीराज ने एक बात को बेहतर तरीके से सीखा कि पुराने नाटकों के अनुवाद और उसके मंचन से दर्शकों के दिलों को नहीं जीता जा सकता। बल्कि दर्शकों के दिल में घर बनाने के लिए तत्कालीन उनसे जुड़े समस्याओं को नाटक के केन्द्र में लेकर आना पड़ेगा। जिसकी झलक उनके आगे आने वाले सभी नाटकों में दिखाई पड़ती है।

'शकुन्तला' के बाद पृथ्वी थिएटर्स ने जिस नाटक का मंचन किया, वह नाटक था – **'दीवार'।** इस नाटक के कुल 712 प्रदर्शन हुए थे। इसका प्रथम मंचन 9 अगस्त 1945 ई. को बम्बई के **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में हुआ था। **'दीवार'** का मंचन अत्यधिक सफल रहा। इसकी सफलता का अंदाजा **वी.एम.व्यास** के इसी बात से लगाया जा सकता है, जब उन्होने कहा था कि – **'दीवार'** के मंचन के दौरान **रॉयल ऑपेरा हाउस** से लेकर एक किलोमीटर से अधिक दूरी पर स्थित चर्नी रोड रेलवे स्टेशन तक टिकट के लिए लंबी लाइन लगती थी। यहाँ तक कि दीवार के टिकट ब्लैक होने लगे थे।

इस नाटक के दौरान भी दृश्यों को यथार्थ के करीब ले जाने हेतु आवश्यकतानुसार मंच को सजाया गया था। इसमे बलराज साहनी की पत्नी दमयन्ती साहनी ने विदेशी महिला का किरदार निभाया था। नाटक के पहले प्रदर्शन के दौरान दमयन्ती साहनी बहुत घबरा रही थी। वो पर्दे के पीछे अपने साथी कलाकारों से बार – बार कह रही थी – **"मुझसे नहीं हो पायेगा- देखना मैं सब डॉयलाग भूल जाऊँगी। इस भापेदे (पृथ्वीराज कपूर) दे बच्चे ने कहां फँसा दिया।"**[146] परन्तु इसके बाद के मंचन में उन्होने बिना डरे अपनी भूमिका को इतने बेहतरीन तरीके से निभाया कि वह चर्चा का विषय बन गया।

[146] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज , राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, दूसरा संस्करण,2012, पृ.98

'**दीवार**' नाटक का एक प्रदर्शन 16-12-1945 को हुआ था। जिसे देखने के लिए **सरदार बल्लभ भाई पटेल** भी आये हुए थे। नाटक के दौरान ही उनके आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। तब राज कपूर ने पृथ्वीराज कपूर को पर्दे के पीछे से दिखा कर कहा – "**पापा देखिए, देखिए, पत्थर रो रहा है।**"[147]

नाटक के मंचन के पश्चात् सरदार पटेल ने मंच से सभी दर्शकों को संबोधित करते हुए कहा था – " **हम राजनीतिज्ञ जो पिछले चालीस – पचास सालों से काम कर रहे हैं और इसमे सफल नहीं हो सके , वो ही काम पृथ्वीराज कपूर ने इस नाटक के माध्यम कर दिया और पूरी सफलता और सुखदपूर्ण रुप से किया। हम आशा करते हैं कि उनके आगे की भविष्यवाणी भी सच साबित हो, दूसरे शब्दों में यह विभाजन न हो। देश न बँटे, अगर बँटे भी तो जनता अपने सूझबूझ से काम लेते हुए मिलकर जल्द से जल्द इस नफरत की दीवार को गिरा दे। आखिरकार सब कुछ यहाँ की जनता के हाथ में है, लोगों के हाथ में। जैसाकि इस नाटक में कहा गया है- जनता के चरणों की धूल से ही राजा का राजतिलक बनता है।**" [148]

सरदार पटेल तथा अन्य की बातों से स्पष्ट हो रहा है कि '**दीवार**' ने अपने मंचन से तत्कालीन विभाजन जैसे ज्वलंत मुद्दे को मूर्त रुप प्रदान कर दिया था।

पृथ्वी थिएटर्स की धरती में से उगे हुए नाटकों में '**पठान**' का एक विशेष स्थान रहा है। '**दीवार**' के बाद '**पठान**' आया। जिसका पहला मंचन 13 अप्रैल 1947 ई. को वैशाखी के दिन **नागपुर** में किया गया था। इसके बाद तो निरंतर पूरे देश में भ्रमण करते हुए इसका तथा अन्य नाटकों का मंचन जारी रहा। '**पठान**' नाटक के कुल **558** प्रदर्शन हुए। यह नाटक भी '**दीवार**' की भांति दर्शकों की माँग पर कई बार खेला गया। यदि हम प्रदर्शन की संख्या को देखें तो '**दीवार**' के बाद दूसरे स्थान पर '**पठान**' ही है।

'**पठान**' में शेरख़ान के रुप मे मुख्य भूमिका **पृथ्वीराज कपूर** ने निभाया था और शेरख़ान के बेटा बहादुर ख़ान की भूमिका **राजकपूर** ने, दीवान की **कमल कपूर** ने और दीवान के बेटे वजीरचंद की भूमिका को **शशि कपूर और सज्जन** ने निभाया था। इसके अतिरिक्त पायन्दा खान की भूमिका **कृष्ण धवन,** चिरागदीन की **प्रेमनाथ** ने, पीर खान की **बी. एम. व्यास** ने और ताज ख़ान की **विश्व मेहरा** ने।

इस नाटक का मंचीय शिल्प यह है कि सामान्यत: इसकी भाषा उर्दू थी परन्तु संवादों के बीच विभिन्न स्थानों पर पश्तों के शब्द भी प्रयोग किये गये थे जिसका उद्देश्य भाषा को वहाँ की क्षेत्रीय भाषा का रंग देना

---

[147] आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री, नाट्य सम्राट श्री पृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974, पृ.69

[148] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीरारज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, दूसरा संस्करण,2012, पृ. 98

था। लेकिन विशेष बात यह है कि जब नाटक का पूर्वाभ्यास प्रारम्भ किया गया तो सीधी उर्दू भाषा के लहजे में होता रहा परन्तु पहले प्रदर्शन के दौरान आरम्भिक प्रार्थना गीत के पश्चात् पृथ्वीराज ने जो पहला संवाद अदा किया तो इसमें स्वराष्ट्र के ग्रामीण लोगों की भाषा का रंग स्वत: ही आ गया और फिर इस तरह होते – होते एक के बाद एक सारे अभिनेताओं ने पृथ्वीराज की देखा देखी अपने संवाद इसी रंग में रँग लिये। इस तरह सारे पात्रों की भाषा में और बोलचाल की भाषा मे एकता का भाव आ गया। यही इस नाटक की विशेषता है। **'पठान'** नाटक ही वह नाटक था जो पृथ्वी थिएटर्स बंद होने के दिन अन्तिम बार खेला गया था।

'पठान' नाटक अपने मंचन के दौरान जन सामान्य के बोलचाल , वेशभूषा , खान-पान के इतने करीब पहुँच जाता था कि दर्शकों को यह एहसास ही नहीं होता था कि वो नाटक देख रहे हैं अपितु उन्हे ऐसा लगता कि वो परस्पर बातचीत कर रहे हैं और वह नाटक नहीं बल्कि उनकी जीवनचर्या है। इस नाटक की संप्रेषणीय क्षमता इतनी थी कि न सिर्फ भारत के किसी भी कोने के दर्शक इसे समझ और महसूस कर सकते थे बल्कि विदेश के लोग भी भारत में आकर यहाँ के लोक जीवन को इस नाटक के माध्यम से समझ पा रहे थे। इसका एक उदाहरण **योगराज** के पुस्तक **थिएटर के सरताज पृथ्वीराज** में देखने को मिलता है जहाँ उन्होने हॉलीवुड के विख्यात डायरेक्टर का वर्णन किया है कि। जब पठान के एक शो पर हॉलीवुड के एक बड़े विख्यात डायरेक्टर आए हुए थे । नाटक के मंचन के बाद वो महाशय पृथ्वीराज कपूर से मिलने आए तो आँखों को खुश्क करते हुए बोले –**"सचमुच आप बहुत ही उच्च स्तर के अभिनेता हैं। मैं उन लोगों की भाषा नहीं जानता और ये लोग, इनका रहन- सहन मेरे लिए बिल्कुल अनजाना है, लेकिन इस नाटक को देखते हुए मुझे एक पल के लिए भी इन कठिनाईयों का आभास नहीं हुआ। मुझे इस नाटक के सारे पात्र जाने- पहचाने और बहुत प्यार करने वाले निकट के सम्बन्धी लगे। मैं इन लोगों के साथ हँस – खेल रहा था और अन्तिम दृश्य में रोया भी खूब। ये सब आपकी और आपके साथी अभिनेताओं की अभिनय कला का कमाल है। यह विश्वास फिर से पक्का हो गया कि मानव मूल्य और मानवता हर जगह, हर देश में एक सी है। दुनिया के किसी भी कोने में हों लोगों के दुख – सुख, उनका रहन- सहन बिल्कुल वैसा ही है जैसा अपने देश के लोगों का है। ये तो विश्वव्यापी मूल्य है।"**[149]

[149] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ.115-116

'पठान' नाटक के लिए हॉलीवुड डायरेक्टर की यह टिप्पणी कहीं न कही पृथ्वीराज के रंगशिल्पीय विशेषता की ओर ही इंगित करती है जो अपने मंचसज्जा , वेशभूषा , रहन- सहन और भाषा के आधार पर ही भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के लोकरंग और भाषा को न सिर्फ भारत में स्थापित किया बल्कि देश के बाहर भी सरलता से प्रेषित कर दिया था। जो काबिले तारीफ है।

'पठान' के पश्चात् 15 अगस्त 1948 ई. को **'गद्दार'** नाटक का पहला प्रदर्शन बम्बई के **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में किया गया था। इस नाटक को भी पूर्व के नाटकों की भांति ख़ूब पसन्द किया गया। इस नाटक में **अशरफ** की मुख्य भूमिका **पृथ्वीराज कपूर** ने और **बेगम** की भूमिका **उजरा मुमताज** ने अदा किया था। मुख्य पात्र के अतिरिक्त **मौलाना** के किरदार में **बी. एम. व्यास, सलीम** की भूमिका में **सज्जन** और **शराफत** का किरदार **कमल कपूर** ने निभाया था।

'गद्दार' नाटक में अशरफ के रुप में एक राष्ट्रवादी गाँधी समर्थक युवक अपने कुछ मुसलमान साथियों के बहकावे में आकर कट्टर मुस्लिम लीग का समर्थक हो जाता है और देश के बँटवारे का भी समर्थन करता है। और विभाजन के बाद जब वह 14 अगस्त 1947 ई. को कराची जाता है तो वहाँ उसके सारे सपने चूर हो जाते हैं। उसे नेताओं के झूठ का पता चलता है और वह पुन: अखण्ड भारत के समर्थन में आवाज बुलन्द करता है।

पृथ्वीराज कपूर ने जब इस नाटक का मंचन किया तो उनकी रंगशिल्प विशेषता देखने लायक थी। उन्होने देश के 70 - 80 वर्षों के राजनीतिक उथल – पुथल को **'गद्दार'** नाटक के माध्यम से एक ड्राइंग रुम में घटित करके दिखा दिया। यह ड्रांइग रुम अशरफ के घर का है जहाँ बैठकर राजनीतिक मुद्दों पर बहस हुआ करती है। पृथ्वीराज कपूर ने मंचन के समय इसी ड्राइंग रुम में गाँधी जी की बड़ी सी तस्वीर लगा कर दर्शकों को यह बता दिया कि अशरफ राष्ट्रवादी युवक है और गाँधी जी के विचारों का समर्थक है। परन्तु यही अशरफ जब अपने मित्रों के बहकावे में आकर मुस्लिम लीग का समर्थक को जाता है तब पृथ्वीराज ने ड्राइंग रुम में गाँधी जी के तस्वीर के स्थान पर जिन्ना की तस्वीर का प्रयोग कर दर्शकों को अशरफ के बदलते विचाराधारा को प्रतिबिम्बित कर दिया। परन्तु 14 अगस्त 1947 ई को कराची से मायूस लौटने पर अशरफ द्वारा जिन्ना की तस्वीर को उतार कर उन लोगों को सौंप देना जो पाकिस्तान जा रहे थे शिल्प के स्तर पर और धर्म के सम्मान के स्तर पर काफी संवेदनशील साबित हुआ। तस्वीर को पाकिस्तान जा रहे लोगों को सौंपना कहीं न कहीं अशरफ के पुन: राष्ट्रवादी बनने का संकेत था जो अब जिन्ना का समर्थक नहीं बल्कि एक भारतीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक तस्वीर के माध्यम से ही पूरे विचारधारा को व्यक्त कर देना वास्तव में शिल्प के स्तर पर बेहद ख़ूबसूरत प्रयोग था।

पृथ्वीराज कपूर के प्रत्येक नाटक की भांति इस नाटक पर भी मुस्लिम विरोधी होने का आरोप लगा। जैसाकि **योगराज** ने अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में उल्लेख किया है कि एक बार जब पृथ्वीराज कपूर विदेश से वापस लौट रहे थे तो कुछ घण्टों के लिए फ्लाइट कराची हवाईअड्डे पर रुकी। तो वहाँ पर उनसे कुछ लोग मिलने आये , जो पृथ्वीराज को बहुत पसंद करते थे परन्तु उस दौरान उन्होने शिकायत करते हुए कहा कि "**आप जैसे बेहतरीन कलाकार के लिए अच्छा नहीं कि आप हमारे सबसे बड़े नेता आदर्श व्यक्ति का अपमान करें ।उनकी तस्वीर को पाँव के नीचे मसले ।**"[150] इस शिकवा भरे लहज़े को सुनकर उन्होने बड़ी नम्रता से कहा –" **पहले तो यह सच नहीं है। मैं किसी के आदर्शों का विरोध कर सकता हूँ , परन्तु मनुष्य का अपमान नहीं कर सकता। फिर एक थिएटर के प्रोड्यूसर की क्षमता के अनुसार बिल्कुल नहीं , क्योंकि मैं इस खर्च को ही सहन नहीं कर सकता, अगर हर शो पर मुझे तस्वीर को पाँव तले मसलना है फिर फेंकना है, तो मुझे हर शो के लिए नई तस्वीर की आवश्यकता रहेगी। सोचिए ये तस्वीर जो ऑयल पेंटिंग है और अभी तक दो – ढाई सौ शो हो चुके हैं इस नाटक के , तो इतनी बड़ी धनराशि कैसे बर्बाद कर सकता हूँ। फिर जिन्ना तो आपके नेता बहुत बाद की बात है पहले पूरे भारत के बहुत बड़े नेता थे। वो अब भी हमारे लिए सम्मान योग्य हैं। राजनीतिक विरोध अपनी जगह, अपमान और तौहीन तो नहीं , हरगिज़ नहीं, ये मेरे मिज़ाज़ में नहीं।**"[151]

' **गद्दार'** के बाद पृथ्वी थिएटर ने अपने पाँचवे नाटक '**आहुति'** का मंचन किया। इस नाटक को भी पहली बार बम्बई के **रॉयल ऑपेरा हाउस** में 30 सितम्बर 1949 ई. को खेला गया था। पूरे भारत में इसका मंचन 339 बार किया गया था। यह नाटक भी पृथ्वी थिएटर के अन्य नाटकों की भांति सफलता के शिखर पर पहुँचा था। '**आहुति'** नाटक विभाजन के दौरान हो रहे साम्प्रदायिक दंगो में महिलाओं के अपहरण और बलात्कार तथा विभाजन के पश्चात् शरणार्थी जीवन की समस्याओं पर आधारित है। इस नाटक की खास बात यह है कि यह अन्य नाटकों की भांति तत्कालीन परिस्थितियों को देखकर उसकी कल्पना को आधार बना कर नहीं लिखा गया था अपितु इसके नाटककार बिस्मिल जी शरणार्थी शिविर में जाकर वहाँ के लोगों से मिलकर उनकी आप बीती को सुनते थे और उसे नाटक के रुप में गढ़ते जा रहे थे। जिसे मंच पर जीवंत रुप पृथ्वीराज कपूर ने प्रदान कर दिया।

---

[150] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ.125

[151] वही, पृ.125-126

यह नाटक आलेख के स्तर पर कमजोर नजर आता है और इसका कारण यह था कि पृथ्वीराज कपूर चाहते थे कि इस नाटक के संवादो की भाषा साधारण व्यक्ति के बोलचाल की भाषा हो लेकिन '**आहुति**' के रचनाकार **बिस्मिल** जी को हिन्दी साहित्य का विशेष ज्ञान नहीं था। जिसका प्रभाव '**आहुति**' के आलेख पर पड़ा। आहुति में स्वाभाविक प्रवाह का अभाव दिखलाई पड़ता है क्योंकि बिस्मिल जी हिन्दी शब्दों को शब्दकोश के माध्यम से नाटक में प्रयोग करते थे और कभी- कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग कर देते थे जिसका उस स्थान पर कोई औचित्य ही नहीं होता था। इसी कारण '**आहुति**' के संवादों की भाषा ही नाटक को कमजोर बना रही थी अन्यथा उसका कथावस्तु अभी तक के सभी नाटकों से अधिक बेहतरीन था।

यद्यपि यह नाटक आलेख के स्तर पर थोड़ा कमजोर पड़ रहा था लेकिन पृथ्वीराज कपूर तथा उनकी मंडली ने अपने अभिनय शिल्प से मंचन के दौरान शुद्ध हिन्दी का प्रयोग कर इस नाटक को इतना सशक्त बना दिया कि प्रत्येक दर्शक रावलपिंडी के शरणार्थियों के दु:ख को अपना दु:ख समझने लगा था। हिन्दी के प्रयोग के पीछे उनका तर्क था कि भारत के प्रत्येक कोने में थोड़े बहुत अन्तर के साथ साधारण व्यक्ति की भाषा हिन्दी ही है। इसके पूर्व इनके प्रत्येक नाटक में उर्दू की बहुलता होती थी जो साधारण जन की भाषा न होकर कुछ हद तक सीमित थी।

यह पृथ्वीराज कपूर के रंगशिल्प की विशेषता ही है कि उन्होने पंजाब के लोगों के दु:ख दर्द को पूरे देश का दर्द बना दिया। मंच पर कलाकारों को वेशभूषा के माध्यम से पंजाबी रुप दिया परन्तु संवाद के स्तर पर शुद्ध हिन्दी का प्रयोग पूरे देश के लोगों में अपनत्व की भावना जगा गया। शायद इसी का प्रभाव था कि जब इस नाटक को बम्बई मे खेला गया था तो वहाँ दर्शक के रुप में उपस्थित डी.जी.पुलिस नाटक से इतना प्रभावित हुए कि शो के पश्चात् रोते हुए पृथ्वीराज कपूर के पास आये और उनसे कहने लगे – " **पृथ्वीराज जी , मैं पंजाबी नहीं हूँ। बहुत ज्यादा इन लोगों को नहीं जानता, बस अखबारों में पढ़ा था। रेडियो पर सुना था। मैं तो महाराष्ट्र का वासी हूँ। किन्तु इस नाटक को देखते हुए ऐसा लगता था कि मैं भी इन्ही लोगों मे से एक हूँ। उन लोगों के दुख मेरे दुख हैं। मैं इन लोगों के साथ रोता हूँ। मैं इससे पहले नाटक देखते हुए कभी नहीं रोया जैसे आपके नाटक आहुति ने मुझे रुला दिया है। इस नाटक ने मुझे आपका और भक्त बना दिया। क्या मैं आपके किसी काम आ सकता हूँ ?** " [152]

[152] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ.137

इस नाटक की रंगमंचीय विशेषता यह है कि इसने पात्रों के वेशभूषा से एक क्षेत्र को प्रदर्शित किया और संवादों की भाषा साधारण व्यक्ति के बोलचाल के इतने करीब पहुँचा दिया कि पूरे देश को एकसूत्र मे पिरो दिया। जो अपने आप में एक बेमिसाल कार्य था।

पृथ्वी थिएटर के उपर्युक्त पाँच नाटकों के बाद अन्य जो तीन नाटक खेले गये , वो थे - **'कलाकार', 'पैसा' और 'किसान'**। इन नाटकों का मिजाज अपने पूर्व के नाटकों से भिन्न था। यदि पृथ्वी थिएटर के **'शकुन्तला'** नाटक को छोड़ दिया जाये तो **'दीवार', 'पठान', 'गद्दार' और 'आहुति'** ये सभी विभाजन पर आधारित थे परन्तु **'कलाकार'**, **'पैसा'**, **'किसान'** इत्यादि नाटक विभाजन के बाद लोगों के बदलते मानवीय मूल्यों पर आधारित थे।

'कलाकार' नाटक का मंचन पहली बार 8 सितंबर 1951 को बम्बई के **'रॉयल ऑपेरा हाउस'** में किया गया था। जिसमें कलाकार के रुप में मुख्य भूमिका स्वयं **पृथ्वीराज कपूर** ने निभाया था। यह नाटक पूरे भारत में 157 बार खेला गया था। इस नाटक में पृथ्वीराज कपूर के साथ उनके बेटे **शम्मी कपूर** ने भी पहली बार अभिनय किया था। इसमे पहाड़ी लोगों की जिन्दगी, उनके रहन – सहन , वेशभूषा लोकगीत, लोकनृत्य इत्यादि का जीवंत रुप प्रस्तुत किया गया था।

इसी प्रकार इनका अगला नाटक **'पैसा'** था। जो आधुनिक जनजीवन में लोगों के बदलते मानवीय मूल्यों पर आधारित था। इस नाटक ने मानव के उस रुप को चित्रित किया जो पैसे के पीछे भागता रहता है। और इसी पैसे के चक्कर में सगे- सम्बन्धी से भी दूर हो जाता है। यह नाटक 1951 से 1953 तक लिखा गया और पूर्वाभ्यास के दौरान निखरता रहा। इसके प्रथम मंचन की तिथि को लेकर दो विद्वानों में भिन्नता दिखाई पड़ती है। जानकी बल्लभ शास्त्री ने अपनी पुस्तक में इसके प्रथम मंचन की तिथि '4 अक्टूबर 1953 ई'[153]. बताया है जबकि योगराज ने अपनी पुस्तक में इसके प्रथम मंचन की तिथि '4 सितंबर 1953 ई.'[154] बताया है। इसे पहली बार **सेन्ट्रल टॉकीज, अहमदाबाद** में खेला गया था। उसके बाद 17 अक्टूबर 1953 ई. को बम्बई के तत्कालीन मुख्यमंत्री मुरारी जी देसाई द्वारा **रॉयल ऑपेरा हाउस** में इसका विधिवत उद्घाटन किया गया। इसका कुल 302 शो हुआ था।

'किसान' नाटक पृथ्वी थिएटर का आठवाँ और अन्तिम नाटक है। **'पैसा'** नाटक की भांति इस नाटक के भी प्रथम मंचन की तिथि को लेकर **जानकी बल्लभ शास्त्री** और **योगराज** में भिन्नता देखने को

---

[153] जानकी बल्लभ शास्त्री, नाट्य सम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन,मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण, अगस्त 1974, पृ.79

[154] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 290

मिलती है। जानकी बल्लभ शास्त्री ने इसके प्रथम मंचन की तिथि '26 अक्टूबर 1956 ई.'[155] बताया है जबकि योगराज ने इसकी तिथि '21 सितंबर 1956 ई'[156]. बताया है। इसके कुल 120 प्रदर्शन हुए थे। इस नाटक के मुख्य किरदार **धीरज** के रुप में **पृथ्वीराज कपूर** स्वयं उपस्थित थे। यह नाटक भी दर्शकों द्वारा खूब पसंद किया गया। जब इस नाटक का मंचन किया गया था तो पृथ्वीराज कपूर ने मंच सज्जा को लेकर अपनी जागरुकता से लोगों को अचंम्भित कर दिया। हमेशा मंच को एक नया रुप देने वाले पृथ्वीराज कपूर ने इस नाटक में मंच का वातावरण रँगीला व ग्रामीण रखा। इससे हुआ यह कि नाटक देखने के दौरान दर्शक अपने आपको हॉल ने नहीं बल्कि किसी गाँव में महसूस कर रहे थे। नाटक के ग्रामीण परिवेश को मंच सज्जा द्वारा जीवंत बना देना ही इस नाटक की शिल्प विशेषता कही जा सकती है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाटक का शिल्प अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक कथा का चयन, सघनीकरण और सार्थक रुपायन का शिल्प है , अधिक से अधिक नियोजित तत्व को सहज स्वाभाविक रुप में मंच पर दिखा सकने का शिल्प है और इन सब के लिए अति आवश्यक है कि नाटककार किसी भी स्तर पर युक्ति संगति का साथ न छोड़े। इसके साथ ही साथ विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के मध्य कार्य – कारण सम्बन्ध को बनाये रखे तथा पात्रों के चरित्र में और स्थितियों के क्रम में निरंतरता और सम्बन्ध स्थापित करता रहे। कहीं न कहीं इन बातों का समावेश **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** के नाटकों में देखने को मिलता है। इन दोनों के नाटककार अपनी नाट्य रचना के प्रक्रिया में समाज में उत्पन्न तत्कालीन स्थितियों के दबाव की चुनौतियों से निरंतर जूझते हुए ऐसे नाट्य शिल्पों को रुप देने में सफल हुए , जो रंगमंचीय अपेक्षाओं को तो पूरा करते ही हैं। इसके साथ ही साथ अपने मंचन के उद्देश्य में दर्शक वर्ग से भी जुड़े हुए हैं।

बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में, जब दूसरा विश्वयुद्ध चल रहा है और देश में स्वंतत्रता आन्दोलन अपने अन्तिम चरण में है। ऐसी स्थिति में नाटक को ऐतिहासिकता और पौराणिकता से बाहर निकाल तत्कालीन समस्या जैसे - अकाल , भुखमरी , विभाजन , साम्प्रदायिक दंगे, आगजनी, बलात्कार , अपहरण , जमाखोरी , कालाबाजारी इत्यादि को अपने नाटक के कथानक के रुप में चुनना और उसी कथानक के अनुसार नायक – नायिका के रुप में सामान्य व्यक्ति को प्रस्तुत कर नाटक की पुरानी परम्परा पर प्रहार करते हुए नए शिल्प की ओर बढ़ते कदम वाकई में तारीफ –ए – काबिल थे।

---

[155] जानकी बल्लभ शास्त्री, नाट्य सम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर , निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण,अगस्त 1974, पृ.80

[156] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 290

संवेदना से अभिव्यक्ति के स्तर तक रचना प्रक्रिया से जूझकर इन्होने शिल्प के नए प्रयोग प्रस्तुत किये । एक ओर जहाँ अपने नाटकों को लोकरंग देने के लिए इन्होने लोकगीत, मांगलिक गीत, तुकबंदी, शेर – ओर – शायरी , कवि पंक्ति, मुहावरा, लोकोक्ति, दोहा आदि का प्रयोग किया तो वहीं दूसरी ओर भारतीयों पर ब्रिटिशों द्वारा किये जा रहे शोषण को दिखाने हेतु प्रतीकात्मक भाषा तथा मानव निर्मित अकाल, जमाखोरी, कालाबाजारी पर तंज कसने हेतु व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग किया। इसके साथ ही साथ भारतीय समाज पर अंग्रेजी शिक्षा के पड़ते प्रभाव और उससे उत्पन्न वर्ग भेद को दर्शाने हेतु फर्राटेदार अंग्रेजी को भी महत्व प्रदान किया। इसके साथ ही इन दोनों रंगमंडलियों के नाटककारों ने हिन्दी – अंग्रेजी के रुप में मिश्रित भाषा का भी सूक्ष्मता से प्रयोग किया। इतना ही नहीं इन दोनों मंडलियों ने अपने नाटकों में संस्कृत, अंग्रेजी, तत्सम, तद्भव, उर्दू, पश्तो, अपभ्रंश इत्यादि शब्दों के साथ – साथ अपने नाटकीयता को अधिक उभारने के लिए ध्वनियों का भी बखूबी प्रयोग किया है। इन्होने कथ्य के साथ – साथ पात्र स्तर पर भी प्रतीक का प्रयोग किया है।

जैसाकि इनके स्थापना के उद्देश्य से ही स्पष्ट है कि इन दोनों का लक्ष्य नाटकों का मंचन है। अत: इन दोनों ने ही अपने नाटक का ढाँचा इस प्रकार तैयार किया कि उसका प्रदर्शन रंगमंच पर प्रभावी रुप में हो सके। इसीलिए इन दोनों ने अभिनय , प्रकाश, ध्वनि इत्यादि का बेहतरीन प्रयोग किया है। शायद इसीलिए इन्होने अपने नाटकों को अंक और दृश्य के बंधन से मुक्त कर एक तारतम्यता में नाटक को प्रस्तुत किया और नाटक के सम्पूर्ण गम्भीरता को प्रकाशवृत्त के माध्यम से उभारने का प्रयास किया है। अपने नाटकों में रंग संरचना का ऐसा प्रयोग नाटककार की चेतना को ही अभिव्यक्त करता है। पारम्परिक मंच सज्जा को पीछे छोड़ते हुए सादे – सरल तरीके से पूरे नाटक को मंचित कर यथार्थ की ओर उन्मुख किया। इन दोनों रंगमंडलियों ने अपने नाटक के कथ्यों को ऐतिहासिकता और पौराणिकता से मुक्त कर उसे तत्कालीन समस्याओं पर केन्द्रित कर नाटक को पारम्परिक जड़ता से मुक्त किया और इसके नायक के रुप में सामान्य व्यक्ति का चयन कर परम्परा के उन बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया जहाँ नायक कोई असाधारण व्यक्ति हुआ करता था। नाट्य रचना प्रक्रिया में नाट्य मंच को सज्जा मुक्त करने का प्रयास ही इन दोनों की सबसे बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है।

पाँचवा अध्याय

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का अभिग्रहण

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का अभिग्रहण विषय पर चर्चा करने से पूर्व यहाँ हम यह जानेगें कि अभिग्रहण शब्द से क्या तात्पर्य है ? **ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार - 'अभिग्रहण'** शब्द अंग्रेजी भाषा **'रिसेप्शन'** (Reception) का हिन्दी रुपांतरण है। जिसका अर्थ होता है – ग्रहण करना, स्वीकृति करना, लोगों की प्रतिक्रिया का ढंग आदि।

इस आधार पर देखा जाये तो इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का अभिग्रहण से तात्पर्य है कि – तत्कालीन दौर में इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों को दर्शक या जनता ने किस रुप में ग्रहण किया अर्थात् इनके द्वारा मंचित नाटकों को देखने के पश्चात् जनता ने किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त की ?

यदि हम प्रतिक्रिया की बात करें तो यह दो प्रकार की हो सकती है – सकरात्मक प्रतिक्रिया और नकरात्मक प्रतिक्रिया। सकरात्मक प्रतिक्रिया किसी भी संस्था,रंगमंडली या नाट्य प्रदर्शन के सफलता या लोकप्रियता को दर्शाता है और नकरात्मक प्रतिक्रिया उसकी विफलता को, फिर यह विफलता चाहे उसके नाट्य विषय को लेकर हो यह फिर उसके प्रदर्शन शैली को लेकर हो।

अब प्रश्न उठता है कि जनता या दर्शक की सकरात्मक या नकरात्मक प्रतिक्रिया किस बात पर निर्भर करती है ? तो इसका सीधा सा जवाब है कि किसी भी नाट्य प्रदर्शन पर दर्शक या जनता की प्रतिक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि वह नाटक जनता के समस्याओं, उनकी उलझनों या प्रश्नों से किस हद तक टकराने का प्रयास कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा मंचित नाटक जनता की पीड़ा को किस स्तर पर महसूस कर उसे मंचीय रुप प्रदान कर रहे हैं ?

इतिहास गवाह है कि साहित्य में नाटक ही वह विधा है जिसे मंच पर प्रदर्शित कर उसे जीवंत रुप प्रदान किया जाता है। जब नाटक को प्रदर्शित किया जाता है तो कलाकार के शारीरिक भाव – भंगिमा, मुखाभिनय इत्यादि को देखकर दर्शक उस भाव को भी महसूस करता है जिसे एक कलाकार बिना कुछ बोले उन्हे महसूस करवाना चाहता है। शायद इसीलिए **रेवती सरन शर्मा** ने **योगराज** की पुस्तक '**थिएटर के सरताज**

पृथ्वीराज' में **'कोरे पन्ने जो अब कोरे नहीं'** नामक शीर्षक से जो लेख लिखा है, उसमे अपनी बात रखते हुए कहा है कि - " **नाटक में बात वहाँ से शुरु होती है जहाँ हम एक – दूसरे की बात नहीं समझते और वहाँ पर खत्म होती है जहाँ दूसरे की बात को समझना शुरु कर देते हैं। इससे समाज मे अपनी कहने के साथ – साथ दूसरे की सुनने, दूसरे का आदर करने और उनके साथ न्याय करने का संस्कार पैदा होता है।"**[157] अत: स्वाभाविक सी बात है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर भी इसी ओर अग्रसित हुए थे। क्योंकि इन दोनों रंगमंडलियों का उदय ही एक ऐसे वक्त में हुआ था जब देश ब्रिटिश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था और इसी जकड़न से देश को मुक्त कराने हेतु यहाँ के शूरवीरों द्वारा विभिन्न प्रयास किये जा रहे थे।

बीसवीं शताब्दी का पाँचवा दशक, जब इन दोनों रंगमंडलियों ने अपना स्वरुप ग्रहण किया था ,यह वही दौर था जब विश्व में दूसरा महायुद्ध छिड़ा हुआ था और भारत में स्वतंत्रान्दोलन अपने अन्तिम चरम पर था। यह वही वक्त था जब गाँधी जी 'करो या मरो' नारा के साथ मैदान में कूद पड़े थे। देश के अधिकांश नागरिक अपने – अपने स्तर से स्वतंत्रतान्दोलन में सहयोग कर रहे थे। ऐसे नाजुक वक्त में विभिन्न क्षेत्र से जुड़े प्रगतिशील व्यक्ति स्वयं को इस आन्दोलन से मुक्त कैसे रख सकते थे ? फिर इप्टा और पृथ्वी थिएटर तो ऐसे ही प्रगतिशील लोगों का समूह था तो वह स्वयं को देश की समस्याओं से विलग कैसे रख सकते थे ? भला इनके नाटकों के केन्द्र में जनता की समस्याओं से अलग मुद्दा कैसे हो सकता था ? कैसे इस नाजुक हालात में ये रंगमंडली अपने नाटकों के मंचन को मनोरंजन तक सीमित रख सकते थे ?

यद्यपि इन दोनों रंगमंडलियों ने हिन्दी रंगमंच के विरासत के रुप में आर्थिक लाभ को महत्वपूर्ण मानने वाले पारसी थिएटर और शौकिया तौर पर नाटक को खेलने वाले विभिन्न प्रकार के शौकिया रंगमंडलियों को ही पाया था परन्तु इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने विरासत में पाये रंगमंच की अच्छाईयों को ग्रहण करते हुए आर्थिक लाभ के स्थान पर देशहित में रंगमंच को हथियार के रुप में प्रयोग किया। इन दोनों ने देशहित में तत्कालीन ज्वलंत मुद्दे जैसे - भारतीय जनता के प्रति ब्रिटिश शोषण, अकाल, देश विभाजन, साम्प्रदायिकता, किसान-मजदूर की समस्या, भुखमरी, पलायन इत्यादि को अपने नाटकों के केन्द्र में रखा और उसे जनता के समक्ष प्रदर्शित किया। यह प्रदर्शन इतना यथार्थ रुप लिये होता था कि उसका प्रभाव

[157] योगराज, नाटक के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. xii

जनता के ऊपर पड़ना स्वाभाविक था या यूँ कहें कि इनके द्वारा मंचित नाटक तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिच्छाया हुआ करती थी। जिसे विभिन्न वर्ग समूहों की जनता ने विभिन्न रुपों में ग्रहण किया –

राहत अभियान के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

जैसाकि हम सभी जानते है कि जब इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर का उदय हुआ था, तब देश विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा था। जहाँ एक ओर बंगाल मानव निर्मित अकाल और महामारी जैसी समस्याओं का सामना कर रहा था वहीं देश के अन्य प्रान्त इससे इतर विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे थे। ऐसी स्थिति में इन दोनों रंगमंडलियों ने लोगों को आर्थिक सहायता पहुँचाने का एक अनोखा और नायाब तरीका निकाला, जिसे जनता ने राहत अभियान के रुप में ग्रहण किया। यह नायाब तरीका था मंचन के बाद कलाकारों द्वारा दर्शकों के समक्ष झोली फैलाकर खड़े हो जाना, जिससे कुछ धन एकत्रित किया जा सके और इस एकत्रित धन को देश के प्रत्येक कोने में जरुरतमंदों तक पहुँचाया जा सके। इसी उद्देश्य के तहत इन दोनों रंगमंडलियों ने मंचन के बाद झोली फैला कर धन एकत्रित करने को एक अभियान के रुप में चलाया जो आगे चलकर दर्शकों और पीड़ितों के लिए आशा और उम्मीद की एक किरण साबित हुई क्योंकि दान देने वाले दर्शकों को इस बात की तसल्ली थी कि उनके द्वारा दिया गया सहयोग देशहित के कार्यों में लगाया जा रहा है और पीड़ितों को यह उम्मीद थी कि इन रंगमंडलियों द्वारा किये जा रहे आर्थिक सहायता से उनकी समस्याओं का थोड़ा बहुत निराकरण अवश्य होगा। शायद इसीलिए जनता ने इनके द्वारा किये गये इस कार्य को राहत अभियान के रुप में देखा।

यदि हम इप्टा द्वारा मंचित नाटकों की बात करें तो इस मंडली का सबसे प्रसिद्ध नाटक **विजन भट्टाचार्य** द्वारा रचित **'नवान्न'** नाटक है, जो बंगाल के अकाल पर आधारित है। इस नाटक का आलम यह था कि इसने बंगाल के लोगों की पीड़ा को पूरे देशवासियों की पीड़ा बना दिया। यह सिर्फ विजन भट्टाचार्य के नाट्यालेख का मंचन मात्र नहीं था बल्कि अकाल पीड़ित बंगालवासियों के लिए देशव्यापी राहत अभियान था। जिसका जिक्र **पलाश विश्वास** ने अपने लेख **'जन्मशताब्दी के मौके पर विजन भट्टाचार्य के रंगकर्म का तात्पर्य'** में किया है। पलाश विश्वास ने लिखा है कि – **"नवान्न सिर्फ नाटक का मंचन नहीं था, वह सामाजिक यथार्थ का कला के लिए कला जैसा कला कौशल भी नहीं था अपितु भुखमरी के शिकार लोगों के लिए देशव्यापी राहत सहायता अभियान भी था। वह, जो**

इप्टा का सामाजिक क्रांति उपक्रम था जिसमे सारे कला माध्यमों का संगठनात्मक ताना- बाना था।"[158]

इतना ही नहीं '**नवान्न**' नाटक के प्रदर्शन को सिर्फ राहत अभियान ही नहीं समझा गया अपितु इसे अन्य कला माध्यमों का प्रस्थान बिन्दु भी माना गया। जैसाकि **पलाश विश्वास** ने अपने लेख में कहा है – "1943 की भुखमरी के मुश्किल हालात के मुकाबले समस्त कला माध्यमों के समन्वय से ही इस आंदोलन का इतना व्यापक असर भारतीय विधाओं और कला माध्यमों पर हुआ, जिसके लिए '**नवान्न**' का मंचन प्रस्थान बिन्दु रहा है।"[159]

नाट्यमंचन के माध्यम से जनता की पीड़ा को कुछ हद तक कम करने हेतु तथा उनकी समस्याओं के निस्तारण हेतु यह राहत अभियान न सिर्फ इप्टा के माध्यम से चलाया जा रहा था अपितु पृथ्वी थिएटर भी इस कार्य में बढ़ – चढ़ कर हिस्सा ले रहा था। जिसका जिक्र **योगराज** ने अपनी पुस्तक '**थिएटर के सरताज पृथ्वीराज**' में करते हुए लिखा है – "**आरम्भ में तो भिन्न-भिन्न सामाजिक – राजनीतिक भलाई के लिए अपने शो की पूरी आय दान में दिया करते थे। फिर बाद में हर शो के पश्चात् नजरें झुकाए झोली फैलाकर खड़े हो जाते, ताकि लोग उनकी झोली में अपनी बिसात के अनुसार कुछ भी डाल दें। यह झोली, पृथ्वी थिएटर के हर शो का एक अटूट अंग हो गई थी। इस प्रकार पृथ्वी थिएटर ने समाज की भलाई के कामों के लिए आर्थिक सहायता भी की। जैसे Indian National Army देश विभाजन के पश्चात् शरणार्थियों की भलाई के लिए और प्राकृतिक महामारी के लिए झोली फैलाकर पैसा इकट्ठा करके सहायता दिया करती थी। जिस प्रान्त में शो करने जाते वहाँ के मुख्यमंत्री के सहायता कोष के लिए भी पैसा इकट्ठा किया करते थे। इन झोलियों के माध्यम से काफ़ी पैसा इकट्ठा हुआ करता था जो अलग – अलग सोसाइटियों को सामाजिक भलाई के कामों के लिए दिया जाता था। महिलाएँ अपने जेवर तक उतारकर दे दिया करती थीं। यहाँ तक कि हीरे की अँगूठियाँ भी आई इस झोली में और भले काम में गई।"[160]**

---

[158] पलाश विश्वास, लेख - 'जन्मशताब्दी के मौके पर विजन भट्टाचार्य के रंगकर्म का तात्पर्य' http.www. hastakshep.com, 19/06/2021

[159] पलाश विश्वास, लेख - जन्मशताब्दी के मौके पर विजन भट्टाचार्य के रंगकर्म का तात्पर्य, http.www. hastakshep.com, 19/06/2021

[160] योगराज, नाटक के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 89

लोगों की भलाई के लिए पृथ्वी थिएटर द्वारा प्रत्येक शो के बाद झोली फैलाकर धन एकत्रित करने का यह सिलसिला निरंतर जारी रहा। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि कोई दर्शक पृथ्वीराज कपूर से प्रसन्न होकर झोली में दान देने के साथ-साथ कपूर साहब को अलग से उपहार स्वरुप कुछ देने का प्रयास किया करते थे लेकिन पृथ्वीराज कपूर बिना लालच किये नम्रतापूर्वक मना कर देते और कहते कि इस समय सब कुछ झोली का है। आपको जो कुछ देना है झोली को दीजिए। ऐसा ही एक किस्सा जोधपुर का भी है। जिसका वर्णन **योगराज** के पुस्तक में देखने को मिलता है। **"जब पृथ्वीराज कपूर अपने नाटक 'दीवार' के मंचन हेतु जोधपुर गये थे। तब वहाँ जोधपुर के राजा 'दीवार' नाटक का शो देखने आये थे और शो के समापन पर हमेशा की तरह पृथ्वीराज स्वयं झोली फैलाकर आँखे झुकाये द्वार पर खड़े हो गये थे तो राजा साहब ने सबसे पहले पाँच हजार की गड्डी झुककर इंकिसारी से झोली में डाली। फिर अपने हाथ की उँगली से हीरे की अँगूठी निकालकर बोले, पृथ्वीराज ये आपके लिए है, तो पृथ्वीराज नज़रे झुकाए ही बोले, राजा साहब, इस समय तो सब कुछ इस झोली का है। राजा साहब ज़िद करने लगे, लेकिन पृथ्वीराज उसी प्रकार नरमी से बोले, मैं आपका दिया हुआ सम्मान और प्यार ले रहा हूँ , जिसका कोई मूल्य नहीं है। राजा साहब ने फिर जोर देकर कहा, कपूर साहब ये हमारी अँगूठी है बेहद कीमती। पृथ्वीराज उसी प्रकार नम्रता से बोले , आपके प्यार और अपनेपन से अधिक मूल्यवान नहीं हो सकती। फिर मेरे लिए तो यह अगूँठी इस झोली का भाग है। राजा साहब हारकर बोले – एक बार उतारी अँगूठी अब वापस नहीं जाएगी और उन्होने अँगूठी झोली में डाल दी। राजा साहब ने उस समय जो झोली में डाल दिया वो दूसरे राजाओं के लिए भी आवश्यक हो गया था, न कम, न ज़्यादा क्योंकि वह बदतमीज़ी समझी जाती। यही कारण था कि पृथ्वी थिएटर के सारे जीवन में यह सबसे ज्यादा राशि की झोली थी। इतनी बड़ी मात्रा में एकत्र धनराशि को पृथ्वीराज कपूर ने आई. एन.ए. को दिया था"**[161]

पारिवारिक पुनर्मिलन के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

देश विभाजन के दौरान हो रहे साम्प्रदायिक दंगों में अपने परिवार, सगे – सम्बन्धियों से बिछड़ गये लोगों ने इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों का अभिग्रहण पुनर्मिलन के रुप में किया। नाटक को देखने के बाद जनता या दर्शकों में इस बात की उम्मीद जगी कि यदि नाटक में पात्र, साम्प्रदायिक दंगों के

[161] योगराज,थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004,द्वितीय संस्करण,2012,पृ. 109-110

तमाम मुसीबतों को झेलते हुए अन्ततः अपने परिवारीजनों से मिल जाते हैं तो हम क्यों नहीं मिल सकते ? जब नाटक में अपने परिवार के सदस्यों को ढूँढने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयास किये जा सकते हैं और उसमे सफलता भी प्राप्त की जा सकती है तो हम प्रयास क्यों नहीं कर सकते ? ऐसे ही प्रयास का एक उदाहरण पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित '**आहुति**' नाटक को देखने के बाद एक वृद्ध दर्शक का दिखलाई पड़ता है। जिसके वास्तविक जीवन में भी '**आहुति**' नाटक की भांति एक घटना घटित हुई हैं। उस वृद्ध व्यक्ति की युवा बेटी को भी दंगे के दौरान कुछ अपहरणकर्ता उठा ले गये हैं और वह अपनी बेटी को तलाशता हुआ अमृतसर से बम्बई पहुँचता है। इसी घटना का जिक्र करते हुए **योगराज** ने अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में लिखा है कि – " **इस शरणार्थी बुज़ुर्ग ने बच्चों की भाँति फूट – फूटकर रोते हुए अपनी दर्दभरी कहानी सुनाना प्रारम्भ कर दी। बार – बार एक ही बात दोहराते जा रहे थे। कपूर साहब, मैं सब कुछ सहन कर सकता हूँ। इस समय मेरे पास कुछ भी नहीं है। दो वक्त के रोटी के भी लाले पड़े हुए हैं। फिर भी मैं अपने पाँव पर खड़ा होने के लिए कुछ भी कर सकता हूँ। कैसा भी काम कर लूँगा गुज़र – बसर के लिए। मेरे पास छोटा – मोटा हुनर भी है। मैं दर्ज़ी हूँ और मेरी ज़िन्दगी की आवश्यकताएँ भी ऐसी नहीं है कि उनको पूरा न कर सकूँ। बस मेरी बच्ची, वो – वो तो मेरा सब कुछ थी। कैसे – कैसे बचाकर नहीं लाया उसे, उसके लिए तो मैं घर से बाहर भी नहीं निकलता था। लेकिन उस दिन न जाने क्यों एक पड़ोसी के यहाँ चला गया, जब घर लौटा तो मेरी बच्ची नहीं थी। कहते हैं कुछ लोग आए, उसे अकेला देखकर ज़बर्दस्ती उठाकर ले गए। अब मैं पागलों की तरह मारा-मारा फिर रहा हूँ उसकी तलाश में। कुछ पता नहीं चला। किस – किस दरवाजे पर दस्तक नहीं दी। मेरी ये बच्ची ही तो मेरी रही-सही पूँजी थी, जिसे बचा लाया था। और अब यहाँ अपने ही देश में अपने लोगों में कोई उठाकर ले गया। बड़ी मुश्किल से पता चला है कि वो लोग जो उसे उठा ले गए थे, वो यही काम करते हैं, बेबस लड़कियों को ज़बर्दस्ती उठा लिया करते हैं।**

वो बुज़ुर्ग आँसुओं से भीगी आवाज में आगे बोले, "बस मेरी बेटी मिल जाए मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरी बच्ची मुझे दिला दीजिए।" पृथ्वीराज कपूर की समझ में नहीं आ रहा था कि वो क्या करें, उन्हे तो तसल्ली देने के लिए शब्द भी नहीं मिल रहे थे। उन्हे ठीक से बिठाया। पानी पीने के पश्चात् वे फिर बोले, मैंने क्या कुछ सहन नहीं किया। मेरे सामने मेरी पत्नी की इज्जत लूटी गई, जवान बेटे और बहू के साथ क्या कुछ नही किया उन लोगों ने। बस में निर्दयता से कत्ल कर दिया मेरे बेटे – बहू को। मैं सहन करता रहा। बेटी नसीबोंजली गुरुद्वारा में थी,बच गई। फिर किन

मुश्किलों से छुड़ाकर लाया था उसे और यहाँ अपने लोगों में – पृथ्वीराज जी मेरी बच्ची ।" पृथ्वीराज जी ने उनको ढाँढस बँधाई और स्वयं को बेबस पाते हुए कहा , "इतना बड़ा शहर बम्बई । कहाँ-कहाँ ढूँढेंगे आप ? और दूसरा कोई भी क्या मदद कर सकता है आपकी ? कहीं अता-पता भी तो नहीं मिलेगा कोई । ये शहर तो वैसे भी भूल-भूलैया है ।"

वो बुज़ुर्ग फिर बोले, "वो आदमी लाया तो बम्बई में ही है, ये पक्की बात है ।" पृथ्वीराज कपूर ने कहा आज शो देखने डी.जी. पुलिस आ रहे हैं, आप भी आ जाइए, हो सकता है वो आपकी कुछ सहायता कर सकें । मैं आपको उनसे मिलवा दूँगा । उस शरणार्थी बुज़ुर्ग ने कहा कि वो 'आहुति' नाटक देखकर ही आए हैं।

शो के पश्चात् डी.जी. पुलिस रोते हुए पृथ्वीराज कपूर से मिलने आए । इस नाटक से वो इस प्रकार प्रभावित हुए कि आँसुओं को रोक न सके और बोले – पृथ्वीराज जी, मैं पंजाबी नहीं हूँ । बहुत ज्यादा इन लोगों को नहीं जानता, बस अखबारों में पढ़ा था । रेडियो पर सुना था । मैं तो महाराष्ट्र का वासी हूँ । किन्तु इस नाटक को देखते हुए ऐसा लगता था कि मैं भी इन्ही लोगों में से एक हूँ । उन लोगों के दु:ख मेरे दु:ख हैं । मैं इन लोगों के साथ रोता हूँ । मैं इससे पहले नाटक देखते हुए कभी नहीं रोया जैसे आपके नाटक 'आहुति' ने मुझे रुला दिया है । इस नाटक ने मुझे आपका और भक्त बना दिया । क्या मैं आपके किसी काम आ सकता हूँ

इस पर पृथ्वीराज ने शरणार्थी बुज़ुर्ग को उनसे मिलवा दिया और कहा कि ये भी पंजाब के शरणार्थी हैं । इनकी बेटी को गुंडे अमृतसर कैम्प से उठा लाए हैं । इस समय वो आपके शहर में ही हैं । बहुत दु:खी और परेशान हैं ये बुज़ुर्ग । अगर आप उनकी सहायता कर सकें तो मैं आपका आभारी रहूँगा । डी.जी. पुलिस साहब इस बुज़ुर्ग से बड़ी अच्छी तरह से मिले । कुछ विवरण माँगा फिर पृथ्वीराज से बोले कि पृथ्वीराज जी, अगर ये लड़की बम्बई में है तो आज रात से पहले मिल जाएगी । मैं इस शहर की गली-गली, यहाँ का चप्पा-चप्पा छान मारुँगा। बिल्कुल वैसे ही जैसे कोई बालों में कंघी करता है । फिर वे उस बुज़ुर्ग को साथ लेकर चले गए ।

दूसरे दिन शाम को वो बुज़ुर्ग अपनी खोई बच्ची के साथ बड़ी ख़ुशी-ख़ुशी पृथ्वीराज जी से मिलने आए । बड़ी नम्रता से आभारी होते नहीं थकते थे । बेहद खुश थे मानो किसी बाँझ के घर औलाद हो गई हो । बार-बार पृथ्वीराज से यही कहे जा रहे थे, आपके कारण, केवल आपके कारण मेरी बच्ची मुझे मिली है और बार-बार बेटी से दुलार करते जाते थे । पृथ्वीराज कपूर ने भी

बच्ची से दुलार किया,उसे दुआएँ दीं और फिर उस बुज़ुर्ग से बोले – अब आप वापस चले जाएँ और ख़्याल रहे इस बच्ची का भी वो अन्त न हो जो 'आहुति' की जानकी का हुआ है। इसे भी समाज के तानों से तंग आकर आत्महत्या के लिए मजबूर न होना पड़े। अपनी बेटी का ऐसा दहला देने वाला भविष्य न बनाइए। वो बुज़ुर्ग तौबा-तौबा करते हुए भीगी आँखों से बोले, "पृथ्वीराज जी, मेरा सब कुछ तो यही बच्ची है। समाज कुछ भी कहता रहे। मैं कान बंद कर लूँगा। बहरा हो जाऊँगा। मेरी बच्ची में मेरा समाज है अब तो।"

इस प्रकार नाटक 'आहुति' ने एक बाप को उसकी बिछुड़ी बेटी से मिलवाया और वो खुशी-खुशी अपने घर चले गए।"[162]

प्रेरणास्रोत के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

जैसाकि हम सभी जानते हैं कि **इप्टा** एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटक प्रत्येक वर्ग, आयु के लोगों को प्रभावित करने में काफी सफल रहा है। इनके द्वारा मंचित नाटक और उनमे प्रयोग किये जाने वाले गीतों ने न सिर्फ सामान्य जनता को जागरुक किया बल्कि विद्यार्थी और युवा वर्ग को ऊर्जावान भी बनाया। इन दोनों रंगमंडलियों द्वारा मंचित नाटकों को देखने के पश्चात् युवाओं ने इसे प्रेरणास्रोत के रुप में ग्रहण करते हुए अपने अधिकांश सम्मेलनों में इनके गीतों को इंकलाबी नारे के रुप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। जैसाकि **राजेन्द्र पांडे** ने समाचार पत्र **नवभारत टाइम्स** में प्रकाशित अपने लेख **'नाटक द्वारा जनता से संवाद'** में उल्लेख किया है –**"इप्टा द्वारा मंचित नाटक तथा गाए गीत उस समय की किसान सभाओं, विद्यार्थी तथा राजनीतिक पार्टियों के सम्मेलनों में खेला जाना , गाए बजाए जाना आम बात हो गई थी।"**[163]

ऐसा ही कुछ **वी. के. डोभाल** ने अपने लेख **'भारतीय जननाट्य संघ इप्टा की ऐतिहासिक झलक'** में लिखा है कि **"इप्टा के नाटकों ने अपने युग की सामाजिक वास्तविकताओं के जरिए देश की**

[162] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012 पृ. 135-137

[163] राजेन्द्र पांडे, लेख- 'नाटक द्वारा जनता से संवाद', नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 9 अक्टूबर 1994

जनता द्वारा शान्ति, जनवाद और सांस्कृतिक उन्नयन के लिए किये जा रहे प्रयत्नों में प्रेरक का काम किया।"[164]

पश्चाताप के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

जैसाकि पूर्व में ही बताया जा चुका है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों का कथ्य तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिच्छाया हुआ करती थी। फिर चाहे वो ब्रिटिश शोषण हो, अकाल हो, साम्प्रदायिक दंगे हो या विभाजन का मुद्दा इत्यादि हो। जब भी इन कथ्यों के साथ ये दोनों रंगमंडलियाँ अपने नाटकों का मंचन करते थे तो दर्शकों को महसूस होता था कि वह कोई नाटक नहीं बल्कि आपबीती देख रहे हैं और जब नाटक में किसी ऐसे पात्र को दिखाया जाता था, जो बिना किसी गलती के इस रुढ़िवादी समाज के ताने से तंग आकर आत्महत्या करने को विवश हो जाते थे तो दर्शकों की कतार में बैठे कुछ लोगों को भी यह एहसास होता कि कहीं न कहीं इस कृत्य के लिए हम भी जिम्मेदार हैं क्योंकि हमलोग भी इसी समाज का अंग है। यदि इसे हम एक उदाहरण से समझने का प्रयास करते हैं तो हम सभी जानते हैं कि तत्कालीन विभाजन के दौरान तो न जाने कितनी लड़कियों ने समाज के ताने से तंग आकर आत्महत्या को गले लगाया था क्योंकि तत्समय हो रहे दंगे में युवा महिलाओं को दंगाई उठा ले जाते थे और फिर बंधक बनाकर उनका शारीरिक शोषण करते रहते थे। कभी- कभी तो दंगे के दौरान उनके परिवारवालों के सामने ही उनका बलत्कार करते थे। ऐसी स्थिति में यदि इन महिलाओं की जान किसी तरह बच भी जाती थी तो ये महिलाएँ निर्दोष होते हुए भी समाज के तानों का शिकार बनती थी। ऐसी स्थिति में महिलाएँ स्वयं समाज से तंग आकर आत्महत्या कर लेती थी और इस आत्महत्या के जिम्मेदार कोई और नहीं बल्कि समाज के ही कुछ लोग होते थे। जब ऐसे ही लोगों को इन रंगमंडलियों द्वारा प्रस्तुत नाटक आईना दिखाता था तो उन्हे अपनी गलती का पश्चाताप होता था। ऐसे ही एक उदाहरण **योगराज** की पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में देखने को मिलता है। जब **'आहुति'** नाटक में महिला पात्र जानकी का हश्र देखने के बाद एक हाईकोर्ट के जज पृथ्वीराज कपूर से मिलने आते हैं और कहते हैं कि **"सच ! कपूर साहब आपने बहुत रुलाया है मुझे – फाँसी की सज़ा सुनाने वाला जज मुजरिमों की भाँति पछतावे के आँसू बहाता रहा। आपके इस नाटक की हीरोइन जानकी मेरे जैसे किसी रुढ़िवादी, बेरहम समाज के ठेकेदार के कारण आत्महत्या करने पर मजबूर हुई होगी। रोकिए, पृथ्वीराज कपूर , रोकिए दरिन्दगी के नंगे नाच को,**

[164] वी. के. डोभाल, रंगमंच, लेख- भारतीय जननाट्य संघ इप्टा की ऐतिहासिक झलक, अगस्त 1998, पृ.122

झूठी शान और दिखावे के समाज के ठेकेदारों को समझाइए इंसान की ज़िन्दगी तो अमूल्य है ।"[165]

क्षेत्रीयता या प्रांतीयता से मुक्ति के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों को दर्शको ने प्रांतीयता या क्षेत्रीयता से मुक्ति के रुप में भी ग्रहण किया। इसका कारण यह था कि ये दोनों ही रंगमंडलियाँ पूरे देश में भ्रमण करते हुए अपने नाटकों का प्रदर्शन करते थे। जब ये दोनो रंगमंडलियाँ नाटक के रुप में एक प्रांत की समस्या को लेकर दूसरे प्रांत में जाते थे तो वहाँ के दर्शकों को एहसास ही नही हो पाता था कि वो अपनी नहीं बल्कि किसी दूसरे प्रांत की समस्या से रुबरु हो रहे हैं। दर्शकों को लगता था कि जैसे यह घटना उनके साथ ही घटित हुई है।

इतना ही नहीं इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने न सिर्फ नाट्यकथ्य के स्तर पर प्रांतीयता को पीछे छोड़ा बल्कि लोककलाओं को भी प्रांतीयता के बंधन से मुक्त किया था अर्थात् इन दोनों रंगमंडलियों ने अपने नाटक के माध्यम से एक प्रांत की लोककला को दूसरे प्रांत के लोगों से परिचित करवाया , जिसे वहाँ के लोगों ने सहर्ष स्वीकार भी किया। प्रांतीयता के बंधन से मुक्त कराकर सम्पूर्ण देश को एक नये रुप में ढालने के इस प्रयास का न सिर्फ सामान्य जनता ने स्वागत किया अपितु विभिन्न क्षेत्रों के अन्य महान हस्तियों ने भी इसका अभिग्रहण तहेदिल से किया। जिसका एक उदाहरण **राजेन्द्र रघुवंशी** के लेख में भी देखने को मिलता है। उन्होने अपने लेख में उल्लेख किया है कि **" इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने विभिन्न प्रांतो में लोक संगीत की जो नयी लहर चलायी, वह क़ाबिले तारीफ है । नयी विषयवस्तु देकर इन्हे समसामयिक बनाया तथा लुप्तप्राय लोक कलाओं को जीवंत स्वरुप बनाया । एक प्रांत की कलाओं को दूसरे प्रांत से परिचित कराकर उन्हे शाश्वत कर दिया । इस दृष्टि से तमिल फिल्मों के पितामह डायरेक्टर के.सुब्रह्मण्यम द्वारा मद्रास में अपने बलबूते पर 1958 ई. में आयोजित सांस्कृतिक समारोह चिरस्मरणीय है । इसमे उत्तर भारत (बंगाल, पंजाब, मणिपुर, उत्तरप्रदेश और राजस्थान) के 110 कलाकारों ने नगर के विभिन्न क्षेत्रों में दस दिन तक लोकनृत्यों और गीतों का प्रदर्शन किया था । मद्रास के कलाविदों ने ऐसे आयोजन की सफलता पर प्रारम्भ में शंका व्यक्त की थी । उनके मतानुसार वहाँ शास्त्रीय कार्यक्रम ही जम सकते हैं लोक कला वाले**

[165] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 142

नहीं।अन्नामलाई हॉल में पहले प्रदर्शन के बाद ही कलाविदों ने अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया। अर्थात् मद्रास में भी उत्तर भारत की लोक कलाओं ने अपना धाक जमा लिया था।"[166]

यथार्थवादी शैली के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों की विशेषताओं का अभिग्रहण सिर्फ सामान्य जनता, किसान, मजदूर या विद्यार्थी वर्ग ने ही नहीं किया अपितु इसके विपरीत विभिन्न क्षेत्रों के बुद्धिजीवी वर्गों ने भी बखूबी किया। उदाहरण के तौर पर जब इप्टा ने विजन भट्टाचार्य के दो नाटकों **'नवान्न'** और **'अन्तिम अभिलाषा'** को लेकर यथार्थवादी शैली में **'धरती के लाल'** जैसी फिल्म का निर्माण किया तो सिनेमा जगत में एक क्रांति सी उत्पन्न हो गई। इसके बाद तो सिनेमा जगत में यथार्थवादी शैली की एक परम्परा सी बन गई ,जो अनवरत जारी है। इप्टा ने **'धरती के लाल'** के अतिरिक्त **'दो बीघा जमीन'** जैसी फिल्म का भी निर्माण किया, जिसने फिल्म निर्माण के बुनियादी नजरिये में बदलाव पैदा किया। इस बदलाव का असर गुरुदत्त, सत्यजित रे, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल और गोविंद निहलानी इत्यादि की फिल्मों में देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिनेमा जगत में किसी मुद्दे को यथार्थवादी रुप में दर्शाने की यह कला इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर के नाटकों की ही देन है।

दैनिक दिनचर्या में घटित हो रही समस्याओं के रुप में नाटकों का अभिग्रहण

इप्टा एवं **पृथ्वी थिएटर** द्वारा मंचित नाटकों ने न सिर्फ जनता को जागरुक करने का कार्य किया बल्कि इन दोनों ने अपने नाटकों को कुछ इस तरह प्रस्तुत किया कि दर्शक को नाटक देखते – देखते यह महसूस होने लगता था कि जैसे वह अपने जीवन में दिन प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं को ही पर्दे पर देख रहे हो। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों रंगमंडलियों द्वारा मंचित नाटकों को दर्शकों ने अपने दैनिक दिनचर्या मे घटित होने वाली समस्याओं के रुप में भी अभिगृहित किया। इस प्रकार का अभिग्रहण न सिर्फ सामान्य जनता ने किया अपितु पढ़े – लिखे बुद्धिजीवी वर्गों ने भी किया। उदाहरण के लिए – जब **राजेन्द्र रघुवंशी** द्वारा लिखित नाटक **'पहेली'** पुस्तक के रुप में प्रकाशित हुआ तो उस पुस्तक पर हुई परिचर्चा गोष्ठी में **मोहन राकेश** ने कहा था कि - **'पहेली' में वही कुछ होता है, जो जीवन में हो सकता है और हुआ करता है – केवल रंगमंच पर उसकी गति अपेक्षाकृत तीव्र हो गई है। एक छोटा सा होटल है**

[166] जीतेन्द्र रघुवंशी (सं), भारतीय जननाट्य संघ (Golden And Going Strong-1992-94) , इप्टा नेशनल कमेटी प्रकाशन, आगरा, में संकलित राजेन्द्र रघुवंशी का लेख - 'इप्टा सामर्थ्यवान था और है', पृ. 17

– या ठीक कहें तो चाय की दुकान है – उसके चलाने वाले शर्मा जी हैं , औऱ वहाँ आने – जाने वाले कुछ लोग है। इन्ही को लेकर 'पहेली' की सृष्टि हुई।

यदि देखा जाये तो 'पहेली' एक वर्ग के जीवन का स्वाभाविक चित्रण है। 'पहेली' उन लोगों के लिए है , जो उलझे हुए जीवन को जी रहे हैं। स्टेज से हटकर यही 'पहेली' करोड़ो व्यक्तियों के जीवन की पहेली बन जाती है। जबकि देखने वाला वहाँ भी बता सकता है कि वह पहेली नहीं है। सीधी सी बात है। कुछ ऐसे कारण हैं ,जो जीवन को उलझाये हुए हैं। उन्हे दूर करके ही सारी उलझन दूर हो सकती है।"[167]

'पहेली' नाटक की भूमिका लिखने वाले **अमृतलाल नागर** ने पुस्तक के चर्चा गोष्ठी के दौरान अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है – " **इस 'पहेली' में चाँदी के जूतों से पिटे हुए मिडिल क्लास का उम्दा खाका खींचा गया है। हम अभावग्रस्त मिडिलचियों के लिए ज़िन्दगी एक जुआ हो गई है। हम में नब्बे प्रतिशत लोग दिन – रात यही सपना देखा करते हैं कि कहीं गैब से अचानक लाखों रुपये बरस पड़ेंगे और हम अमीर हो जाएँगे। निकम्मेपन से भरा हुआ सपना 'पढ़े – लिखे' (?) बाबू लोगों के बुद्धि के साथ चस्पां होकर वाकई अजीब पहेली बन जाता है। लेकिन इन पहेली को सुलझाना भी हमारा ही काम है। बाबूगिरी की झूठी जहनियत से लड़कर जीवन के सच्चे दृष्टिकोण को अपनाना – यह समय की गुहार है। 'पहेली' नाटक इस गुहार को समय पर दुहरा रहा है , यही नाटक की विशेषता है।"**[168]

'पहेली' नाटक को एक वर्ग विशेष की दैनिक जीवन की समस्या के रुप में देखते हुए **राजेन्द्र यादव** ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि –**" 'पहेली' नाटक समस्या की तह तक को भेद जाने वाली निगाह और ज़िन्दगी को ज्यों का त्यों उतार देने वाली कलम है।"**[169]

जैसाकि पूर्व में ही बताया जा चुका है कि किसी भी चीज को लेकर दो प्रकार की प्रतिक्रिया हो सकती है – सकरात्मक और नकरात्मक। फिर इप्टा और पृथ्वी थिएटर के नाटक इससे अछूते कैसे हो सकते थे ? एक ओर जहाँ इन दोनों रंगमंडलियों द्वारा मंचित नाटकों को जनता का प्यार- दुलार और सम्मान मिला, वहीं दूसरी ओर कुछ वर्गों द्वारा इनके नाटकों को घृणा का शिकार भी होना पड़ा। कभी – कभी तो ऐसा

---

[167] नेमिचन्द्र जैन(सं.) नटरंग पत्रिका, राजेन्द्र रघुवंशी पर विशेष, पहेली प्रतिक्रिया, खंड-18, अंक-71, सितम्बर,2003,पृ.68

[168] वही, पृ.69

[169] वही, पृ.69

होता था कि नाटक को मंचन के पूर्व ही अवहेलना का शिकार होना पड़ता था और कलाकार हताश हो जाते थे कि कहीं ऐसा न हो कि इतने रिहर्सल के बाद उनकी सारी मेहनत बरबाद चली जाये।

नाटक के अभिग्रहण को लेकर ज्यादातर नकरात्मक व्यवहार पृथ्वी थिएटर के नाटकों को झेलना पड़ा। जब पृथ्वीराज कपूर '**दीवार**' और '**पठान**' नाटक को लेकर देश के विभिन्न प्रांत के दौरे पर थे तो किसी स्थान पर इन नाटकों का खूब स्वागत किया गया और कहीं पर धर्म के आधार पर इनके मंचन को लेकर खूब विरोध किया गया। **उदाहरण के लिए** – जब पृथ्वी थिएटर ने '**पठान**' नाटक के शो बम्बई में किये तो फ़िल्मी दुनिया, राष्ट्रीय पत्रकारिता,राजनीतिक और सामाजिक वर्गों ने इस नाटक की दिल खोलकर प्रशंसा की। इस नाटक की प्रशंसा में इन वर्गों का कहना था कि "**सीमा प्रान्त के लोगों की दिनचर्या, उनके सामाजिक और घरेलू जीवन का प्रभावशाली चित्र इस नाटक में खींचा गया है। इसमे दो बड़े वर्ग हिन्दू और मुस्लिम में आपसी भाई-चारा, एक-दूसरे के दु:ख सुख में शामिल होने और राष्ट्रीय एकता का सन्देश बड़ी अच्छी तरह से और प्रभावशाली ढंग से दिया गया है। उस युग की फ़िल्मों की खुले तौर पर और ईमानदारी से समीक्षा करने वाली अंग्रेजी पत्रिका 'फ़िल्म इंडिया' जो बम्बई से निकला करती थी, उसके सम्पादक पाटिल ने 'पठान' नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटक की पंक्ति में रखा थाने।**"[170]

जबकि इसके ठीक विपरीत मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्र में लोगों को ऐसा लगता था कि इनका '**पठान**' नाटक मुस्लिम विरोधी है। इसमे मुस्लिम समुदाय का अपमान किया गया है। जनता द्वारा '**पठान**' नाटक का इस प्रकार नकरात्मक अभिग्रहण का जिक्र करते हुए **योगराज** ने अपनी पुस्तक '**थिएटर के सरताज पृथ्वीराज**' में लिखा है – **" पठान नाटक को लेकर जब नागपुर पहुँचे। उन दिनों वहाँ का वातावरण भी बाकी देश की भाँति नफरत की आग में झुलस रहा था। हिन्दू – मुसलमान एक-दूसरे के खून के प्यासे बने पशुता का नंगा नाच कर रहे थे। वो लोग पृथ्वीराज कपूर को बहुत बड़ा शत्रु मानते थे और नहीं चाहते थे कि यह नाटक खेला जाए। उनकी दृष्टि में यह इस्लाम विरोधी नाटक था और इस शहर के अनगिनत लोग उन लोगों के बहकावे में आ गये थे। ये वो लोग थे जिनका धर्म से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। वो बेधड़क पृथ्वीराज और इस नाटक के बाक़ी अभिनेताओं को**

[170] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 115

इस्लाम का शत्रु मान रहे थे और इसी मंशा से वो हॉल में घुस आये थे, कि अगर शो हुआ तो हॉल को आग लगा देंगे। उन्होने पहले से धमकी भरे पत्र भी लिखे थे।"[171]

इतना ही नहीं **'पठान'** नाटक को लेकर मुस्लिम समुदाय का ऐसा ही नकरात्मक रुप **अहमदाबाद** में भी देखने को मिलता है। जिसका उल्लेख **योगराज** ने ही अपनी पुस्तक **'थिएटर के सरताज पृथ्वीराज'** में करते हुए लिखा है – "**नागपुर में कड़े विरोध के बावजूद पठान नाटक का प्रदर्शन करने के बाद जब पृथ्वीराज की रंगमंडली अहमदाबाद पहुँची तो उनके मैनेजर को पता चला कि यहाँ के सारे सिनेमा हॉल एक बहुत बड़े डिस्ट्रीब्यूटर ने साल भर के लिए बुक करा रखे हैं। मैनेजर साहब उनके पास दफ्तर में गए तो इन श्रीमान ने बड़ी गम्भीरता और रुखेपन से कहा – मैं एक मुसलमान हूँ। पक्का नमाज़ी हूँ। इस्लाम में मेहमान को कुर्सी पेश करना उसका स्वागत-सत्कार करना आवश्यक है फिर भी मैं आपको बैठने को भी नहीं कहूँगा। आपको इस शहर में कोई सिनेमा हॉल नहीं मिल सकता। आशा है, आप मेरा समय बर्बाद नहीं करेंगे। मैनेजर साहब को ऐसे व्यवहार की बिल्कुल आशा नहीं थी। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। क्या करते, आ गए वापस। उन्होने जब इधर-उधर से कारण पूछा तो पता चला कि इन श्रीमान की दृष्टि में पृथ्वीराज कपूर भारत में मुसलमानों और इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु हैं और आप इन्ही नाटकों के माध्यम से इस्लाम विरोधी प्रोपेगंडा करते हैं।"**[172]

पृथ्वी थिएटर के नाटकों का यह नकरात्मक अभिग्रहण सिर्फ **'पठान'** नाटक को लेकर नहीं हो रहा था अपितु मुस्लिम समुदाय द्वारा **'दीवार'** नाटक को लेकर भी ऐसा ही नकरात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा था। जिसका एक उदाहरण **योगराज** की पुस्तक में भी देखने को मिलता है। उन्होने लिखा है कि- **"रिहर्सल के दिनों में 'दीवार' नाटक की चर्चा फ़िल्म जगत और राजनीतिक क्षेत्र में होना आरम्भ हो गई थी। भाँति-भाँति के दंगे-फ़साद आरम्भ हो गए थे। पृथ्वीराज कपूर पर हर प्रकार के दोष लगने शुरु हो गए थे। राजनीतिक पार्टियों में तू-तू, मैं-मैं भी शुरु हो गई थी। राजनीतिक पार्टियों की दिलचस्पी दिन-ब दिन बढ़ने लग गई थी दीवार नाटक में। मुस्लिम लीग के प्रान्तीय अध्यक्ष और उनके अनगिनत साथी किसी भी कीमत पर इस नाटक को स्टेज नहीं होने देना चाहते थे।**

---

[171] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 114

[172] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004, द्वितीय संस्करण,2012, पृ. 116

उनकी सोच के अनुसार यह नाटक खुले तौर पर उनके लक्ष्य, उनके राजनीतिक आन्दोलन पर आक्रमण था, उनका मानना था कि पूरे पाकिस्तान आन्दोलन को बुरी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। पृथ्वीराज कपूर उन लोगों से मिल रहे थे। बहुत सी लम्बी-लम्बी बैठकें और वाद-विवाद भी हुए। उस समय के मुस्लिम लीग के अध्यक्ष चुन्द्रीगर जी मानने को तैयार नहीं हो रहे थे। इसलिए पुलिसवाले चाहते थे कि मुस्लिम लीग की ओर से 'हमें कोई एतराज़ नहीं' का सर्टिफ़िकेट मिलना बहुत आवश्यक है। मुस्लिम लीग का तो यह कहना था कि 'दीवार' नाटक में क़ायदे आज़म मोहम्मद अली जिन्ना पर बेबुनियाद आरोप तो लगाए ही गए हैं,साथ ही उनका उपहास भी उड़ाया गया है।" [173]

मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा ऐसे ही नकरात्मक दृष्टिकोण **'गद्दार'** नाटक के प्रति भी देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि इस नाटक के सारे पात्र मुसलमान है और इसमे ख़िलाफ़त आन्दोलन से लेकर 15 अगस्त 1947 तक की दु:खद परिस्थितियाँ दर्शायी गई है। ऐसी स्थिति में समाज के ऐसे लोग जो मोहम्मद अली जिन्ना के इस कथन में विश्वास रखते थे कि 'हिन्दू- मुसलमान दो अलग – अलग कौमें हैं'। ऐसे व्यक्तियों ने इस नाटक के विरोध में यह भ्रम फैलाना शुरु किया कि -"**पृथ्वीराज कपूर अपने नाटक 'गद्दार' में मोहम्मद अली जिन्ना जी का अपमान करते हैं। उनकी तस्वीर को पाँव तले मसलते हैं, वो इस्लाम के शत्रु हैं इत्यादि, जो किसी भी प्रकार से सच नहीं था। हाँ इस नाटक में एक दृश्य है कि जिसमे पृथ्वीराज कपूर जिन्ना की तस्वीर उन लोगों के हवाले कर देते हैं ,जो पाकिस्तान जा रहे थे और उनसे कहते हैं कि अपने साथ इनको भी ले जाइए। ऐसे नेताओं की यहाँ आवश्यकता नहीं है जो लोगों में जुदाई उत्पन्न करते हैं।"**[174]

'गद्दार' नाटक को लेकर यह नकरात्मक भ्रामक दृष्टिकोण न सिर्फ मुस्लिम भारतीय दर्शकों में था अपितु पाकिस्तानी जनता भी इसी तरह की सोच रखती थी। जिसका एक उदाहरण योगराज की पुस्तक में देखने को मिलता है। " **एक बार पृथ्वीराज कपूर विदेश से वापस आ रहे थे तो चन्द घंटो के लिए फ़्लाइट कराची हवाई अड्डे पर रुकी। वहाँ के लोग पृथ्वीराज कपूर के भक्त तो थे ही। उनसे मिलने भी आए बातों-बातों में गिला भी कर दिया, आप जैसे बेहतरीन कलाकार के लिए अच्छा नहीं कि आप हमारे सबसे बड़े नेता आदर्श व्यक्ति का अपमान करें। उनकी तस्वीर को पाँव के**

---

[173] वही, पृ. 93

[174] योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004,द्वितीय संस्करण,2012, पृ.125

नीचे मसलें। तो पृथ्वीराज ने बड़ी नम्रता से समझाते हुए उत्तर दिया , पहले तो यह सच नहीं है। मैं किसी के आदर्शों का विरोध कर सकता हूँ परन्तु मनुष्य का अपमान नहीं कर सकता। फिर एक थिएटर के प्रोड्यूसर की क्षमता के अनुसार बिल्कुल नहीं, क्योंकि मैं इस खर्च को ही सहन नहीं कर सकता, अगर हर शो पर मुझे तस्वीर को पाँव तले मसलना है फिर फेंकना है, तो मुझे हर शो के लिए नई तस्वीर की आवश्यकता रहेगी। सोचिए ये तस्वीर जो ऑयल पेटिंग है और अभी तक दो – ढाई सौ शो हो चुके हैं इस नाटक के, तो इतनी बड़ी धनराशि कैसे बरबाद कर सकता हूँ। फिर जिन्ना तो आपके नेता बहुत बाद की बात है पहले पूरे भारत के बहुत बड़े नेता थे। वो अब भी हमारे लिए सम्मान योग्य हैं। राजनीतिक विरोध अपनी जगह, अपमान और तौहीन तो नहीं, हरगिज़ नहीं, ये मेरे मिजाज में ही नहीं।"[175]

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने जिन तत्कालीन मुद्दों को अपने नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया था, वह क़ाबिले तारीफ है और उससे भी अधिक प्रशंसनीय यह है कि इन दोनों रंगमंडलियों ने नाटक को थिएटर हॉल तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि वहाँ से बाहर निकालते हुए नाट्यमंचन को खेत-खलिहान, गली-चौगान तक पहुँचाया। अब स्वाभाविक सी बात है कि खेत-खलिहान, गली-चौगान के दर्शक भी थिएटर हॉल के दर्शकों से थोड़ा भिन्न रहें होगें। ये दर्शक अमीर वर्ग नहीं अपितु खेती- किसानी और मजदूरी से जुड़े सामान्य लोग थे , जिन्हे प्रतिदिन अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी इत्यादि समस्याओं से दो – चार होना पड़ता था। अत:यदि यह कहा जाये कि इन दोनों रंगमंडलियों के दर्शक समाज के प्रत्येक वर्ग से आते थे तो बिल्कुल भी अनुचित नहीं होगा। फिर चाहे वह पैसे वाले धनी वर्ग हो, किसान हो, मजदूर हो, विद्यार्थी हो या महिलाएं इत्यादि हो।

अब स्वाभाविक सी बात है कि जब दर्शक प्रत्येक वर्ग के हैं तो नाटकों का अभिग्रहण भी भिन्न- भिन्न रुपों में किया गया होगा। प्रत्येक दर्शक अपनी- अपनी परिस्थिति के अनुसार नाटकों का अभिग्रहण किया करते थे। अकाल, भुखमरी, बाढ़ इत्यादि समस्याओं से जूझ रहे दर्शकों को इनके द्वारा एकत्रित किये धनराशि एक राहत अभियान दृष्टिगत होता था। ऐसे दर्शक इनके द्वारा मंचित नाटकों से स्वयं को दो प्रकार से जोड़ते थे। प्रथम तो ये था कि इन मंडलियों द्वारा मंचित नाटक इनको अपनी समस्याओं की प्रतिच्छाया प्रतीत होती थी जिससे दर्शकों को लगता था कि वो नाटक नहीं बल्कि अपनी स्वयं की कहानी से रुबरु हो

[175] वही, पृ. 125-126

रहे हैं। द्वितीय उम्मीद ये थी कि इन्ही नाट्य मंचन के बाद इन मंडलियों द्वारा झोली फैलाकर एकत्र किये गये धनराशि से उनकी समस्याओं का निराकरण भी होगा।

एक ओर ऐसे दर्शक जो साम्प्रदायिकता, विभाजन, दंगा इत्यादि के कारण अपने जन्मभूमि से विस्थापित होने का दंश को झेल रहे थे , उन्होने इनके नाटकों को अपने सगे- सम्बन्धियों से पुनर्मिलन तथा आपबीती के रुप में ग्रहण किया तो वहीं दूसरी ओर विद्यार्थी वर्ग ने इनके नाटकों के गीतों एवं कविताओं को प्रेरणास्रोत के रुप में अभिग्रहण किया। इतनी ही नहीं बुद्धिजीवी वर्गों ने भी अपनी आवश्यकतानुसार इनके द्वारा मंचित नाटकों से कुछ तत्व ग्रहण किया, जिसका प्रयोग उन्होने अपने क्षेत्र में किया। जैसे सिनेमा जगत के लोगों ने फिल्म निर्माण में यथार्थ शैली का अभिग्रहण इन्ही रंगमंडलियों द्वारा मंचित नाटकों से किया था तो लोकशैली भी इन्ही नाटकों के मंचन द्वारा प्रांतीयता के बंधन से मुक्त हो गई अर्थात् एक क्षेत्र की लोकशैली दूसरे क्षेत्र में भी अपना स्थान बनाने में काफी हद तक सफल रही है।

एक ओर जहाँ इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर द्वारा मंचित नाटकों को दर्शकों ने सकरात्मक रुप में अभिग्रहण किया तो वहीं दूसरी ओर मुस्लिम समुदाय के कुछ दर्शकों ने इन नाटकों को मुस्लिम विरोधी, इस्लाम विरोधी इत्यादि बताते हुए नकरात्मक रुप में भी अभिग्रहण किया।

उपसंहार

भारतीय नाट्य परम्परा के इतिहास को देखने के बाद यह ज्ञात होता है कि भारत में नाटक की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है। संस्कृत और प्राकृत नाटकों की सुदीर्घ एवं पुष्ट परम्परा इसके उदाहरण हैं। लेकिन नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद मुगल आगमन के साथ अनेक कारणवश यह परम्परा अवरुद्ध हो गई थी, जो लगभग आठ- नौ सौ वर्षों बाद भारत में ब्रिटिश आगमन के साथ पुनर्जीवित होता है और बहुभाषी भारत देश में भिन्न-भिन्न भाषाओं में अपना रुप ग्रहण करता है। नवीं-दसवीं शताब्दी से लेकर अठराहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक ये जो लम्बा अंतराल देखने को मिलता है ,इसका मतलब यह बिल्कुल भी नहीं है कि इस दौरान भारत में नाटक या रंगमंच निष्प्राण हो गया था। अपितु इस दौरान नाटक राजदरबार के गिने-चुने खास लोगों से बाहर निकलकर साधारण जन के मध्य लोकशैलियों में फलता-फूलता और विकसित होता रहा।

भारत में ब्रिटिश आगमन के साथ एक उन्नत नाट्य परम्परा भी आई जिससे प्रभावित होकर भारतीय भी नाटक के प्रति आकर्षित हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत में भी अनेक रंगमंडलियाँ बनी और अनेक नाट्य थिएटरों की स्थापना हुई।

हिन्दी भाषा में नाटक और रंगमंच का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से माना जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पारसी थिएटर के अश्लीलता के विरुद्ध अपनी स्वयं की रंगमंडली बनाते हुए नाटकों का मंचन करते थे, जो इनके बाद प्रसाद युग तक आते- आते अवरुद्ध हो गई। इस अवरोध का कारण जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित नाटक को माना जाता है। विद्वानों का कहना है कि प्रसाद जी के नाटकों के दृश्यों में अधिकतर महल, दुर्ग, जंगल, रणभूमि, बाजार, सभा इत्यादि स्थल आते हैं। काल और देश की कोई अन्विति नहीं होती है। युद्ध कई-कई स्थानों पर लड़े जाते हैं और घटनाओं में कई-कई वर्षों का अन्तराल पड़ जाता है जिससे इनके नाटकों का मंचन मुश्किल हो जाता है।

हिन्दी भाषा में रंगमंच की जो तीव्र लहर भारतेन्दु युग से शुरु हुई थी , वह प्रसाद तक आते-आते अवरुद्ध होती चली गई। हिन्दी रंगमंच के इस अवरोध का कारण सिर्फ प्रसाद के नाटक नहीं थे बल्कि हिन्दी क्षेत्र की अपनी कुछ अन्य समस्याएं भी थी। जो निम्नवत है –

अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी भाषा का क्षेत्र बहुत विस्तृत था और उसमे कोई एक बड़ा प्रमुख आधुनिक ढंग का केन्द्र नहीं था, जहाँ पर रंगकर्मी एकत्रित होकर नाटक और रंगमंच के विकास के लिए वार्तालाप कर सकें।

दूसरी समस्या यह थी कि ब्रिटिशों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा दिया परन्तु हिन्दी भाषी क्षेत्र में पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव भी बहुत देर से पहुँच सका। इसके अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश में यूरोप के साथ कोई बड़ा केन्द्र न बन सकने के कारण कलकत्ता, मुंबई एवं मद्रास जैसे कोई महानगर भी विकसित न हो पाया, जहाँ नए ढंग का शहरी रंगमंच स्थापित होकर पनप सकता।

तीसरी समस्या यह थी कि पारसी थिएटर के तड़क-भड़क और सस्ते दिल बहलाव वाले चमत्कारपूर्ण नाटकों के आकर्षण ने हिन्दी क्षेत्र में किसी अन्य समर्थ रंगमंच को स्वरुप ही ग्रहण नहीं करने दिया।

हिन्दी रंगमंच के विकास में अवरोध का एक कारण यह था कि हिन्दी प्रदेश में नाच- गाना और नाटक करने वालों को बहुत हेय दृष्टि से देखा जाता था, जिसके कारण कोई उच्च कुल का व्यक्ति इसमे हिस्सा नहीं लेता था।

जबकि अन्य भाषाओं के रंगमंच के साथ हिन्दी रंगमंच की भाँति ऐसी कोई समस्या नहीं थी इसीलिए अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी रंगमंच का विकास अनेक अवरोधों को झेलते हुए बहुत मंद गति से हुआ।

हिन्दी रंगमंच के विकास में हो रहे इस उथल-पुथल के मध्य जब 20वीं शताब्दी के पाँचवे दशक में इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर का उदय हुआ तो रंगमंच के क्षेत्र में एक क्रांति सी उत्पन्न हो गई और इसकी वजह थी इन दोनों रंगमंडलियों द्वारा तत्कालीन ज्वलंत मुद्दों को अपने नाटक के केन्द्र में रखते हुए रंगमंच को एक हथियार के रुप में देशहित के लिए प्रयोग करना।

अव्यावसायिक रंगमंच की परम्परा में 'इप्टा' तथा व्यावसायिक रंगमंच की परम्परा में 'पृथ्वी थिएटर' का अपना विशिष्ट स्थान है। इन दोनों रंगमंडलियों ने अपने – अपने सूत्रवाक्य के अनुसार रंगमंच को एक नया मुकाम प्रदान किया। जहाँ इप्टा का सूत्रवाक्य 'पीपुल्स थिएटर स्टार्स द पीपुल' अर्थात् 'जनता के रंगमंच का असली नायक जनता है' वहीं पृथ्वी थिएटर का उद्देश्य 'कला देश की सेवा में' है।

इप्टा के कलाकारों के लिए रंगमंच का असली नायक जनता है और यह केवल उच्च या अमीर वर्ग की जनता नहीं बल्कि इसके विपरीत समाज के हाशिए पर खड़ी गरीब जनता है। जिसके लिए टिकट खरीद कर थिएटर हॉल में नाटक देखना एक असंभव कार्य था। इप्टा के कलाकारों ने समाज के हाशिए पर खड़े

ऐसे लोगों के लिए असंभव कार्य को सम्भव बनाया अर्थात् यह रंगमंडली पहली बार नाटक को थिएटर से बाहर निकाल खेत-खलिहान, गली-चौगान इत्यादि स्थानों तक पहुँचाया, जो स्वयं में अति प्रशंसनीय कार्य है। अब जनता को नाटक के पास नहीं जाना पड़ता था बल्कि नाटक स्वयं चलकर जनता के मध्य पहुँचने लगा था।

इप्टा ने अपने सूत्रवाक्य 'पीपुल्स थिएटर स्टार्स द पीपुल' अर्थात् जनता के रंगमंच का असली नायक जनता है , का अनुसरण प्रारम्भ से अंत तक किया और उसे सदैव याद रखते हुए, उसी के मार्गदर्शन में अपने गीत, नृत्य और रचनाओं को प्रदर्शन स्थल पर जनता की आकांक्षाओं के अनुसार निर्मित किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इप्टा के कलाकार जिस भी क्षेत्र में नाट्य प्रदर्शन के लिए जाते थे, वहां की जनता से मिलकर उनकी समस्याओं को सुनते थे और फिर उसे नाटक के रुप में ढाल कर , अपने कलाकारों के माध्यम से प्रस्तुत करते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि वहाँ की जनता स्वयं को उस नाटक से जोड़ पाती थी।

वही दूसरी ओर पृथ्वी थिएटर एक व्यावसायिक रंगमंडली थी परन्तु इसका उद्देश्य अपने पूर्ववर्ती रंगमंडलियों की भाँति बिल्कुल भी नहीं था, जो सिर्फ आर्थिक लाभ कमाने हेतु जनता के समक्ष अश्लीलता एवं फूहड़पन को प्रदर्शित करती थी अपितु इसके ठीक विपरीत पृथ्वी थिएटर अपने उद्देश्य 'कला देश की सेवा में' को चरित्रार्थ कर रहा था। पृथ्वी थिएटर के लिए नाट्य मंचन मुख्य रुप से एक जुनून था, एक मिशन था। शायद इसीलिए व्यावसायिक होते हुए भी इसके नाटक के केन्द्र में अश्लीलता एवं फूहड़पन के स्थान पर देश के ज्वलंत मुद्दे थे। जो इसे अपने पूर्ववर्ती व्यावसायिक थिएटरों से अलग करते थे।

चूंकि ये दोनों रंगमंडली पूरे देश में भ्रमण करते हुए अपने नाटकों का मंचन करते थे इसलिए इनके समक्ष थिएटर को सुचारु एवं सुव्यवस्थित रुप से संचालित करना बहुत बड़ी चुनौती थी। शायद इसी समस्या का समाधान करते हुए इप्टा द्वारा अपने संगठन के सदस्यों के मध्य से पदाधिकारियों का चयन किया जाता था जैसे - अध्यक्ष, उपाध्यक्ष,कोषाध्यक्ष इत्यादि। जो अपने पद पर रहते हुए इस संगठन का पूरा कार्यभार देखते थे।

इसके विपरीत पृथ्वी थिएटर पूर्ण रुप से पृथ्वी राज कपूर का था अर्थात् इस थिएटर में सारी पूंजी पृथ्वीराज कपूर की लगी हुई थी। फिर भी पृथ्वीराज कपूर थिएटर के अन्य सदस्यों के साथ मालिकाना व्यवहार कभी भी नही करते थे। उन्होंने अपने थिएटर के आंतरिक ढाँचा को एक आदर्श परिवार के रुप में विकसित किया था। जहाँ पर न कोई मालिक होता था और न ही कोई नौकर था अपितु थिएटर के सभी सदस्य एक समान

थे। 1952 ई. मे जब भारत सरकार द्वारा पृथ्वीराज कपूर को राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया गया था तो इस पद के अनुसार उनके पास प्रथम श्रेणी का रेल पास हुआ करता था परन्तु पृथ्वीराज कपूर अपने प्रदर्शन यात्रा के दौरान कभी भी प्रथम श्रेणी में यात्रा नहीं करते थे बल्कि अपने थिएटर के अन्य साथियों के साथ तृतीय श्रेणी में ही यात्रा किया करते थे। पृथ्वीराज कपूर ने अपने थिएटर के लिए यह जो पारिवारिक ढाँचा विकसित किया था , ऐसा न कभी इसके पूर्ववर्ती मंडलियों में देखने को मिलता है और न ही परवर्ती रंगमंडलियों में। पृथ्वीराज द्वारा समानता की यह भावना वाकई काबिले तारीफ़ है।

एक अव्यावसायिक थिएटर होने के कारण इप्टा के आय का कोई स्रोत नहीं था। अत: इससे जो भी कलाकार जुड़ते थे, वो सिर्फ देशसेवा करने के उद्देश्य से जुड़ते थे क्योंकि उन्हें इसका कोई भी पारिश्रमिकी नहीं मिलता था। इससे जुड़े कलाकार अपने जीविकोपार्जन हेतु अन्य स्थानों पर कार्य करने के लिए स्वतंत्र हुआ करते थे। इप्टा से जुड़ने वाले कलाकार अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ होते थे इसलिए वो सभी अपने पसंद के अनुसार अपने क्षेत्रों का चयन स्वयं करते थे उनके ऊपर किसी प्रकार का कोई दबाव नहीं होता था। उदाहरण के लिए- नृत्य में विशेषज्ञ कलाकार नाटक में नृत्य के कार्यों को देखते थे तो गीतकार नाटक के लिए गीतों की रचना करते थे इत्यादि।

इसके ठीक विपरीत व्यावसायिक होने के कारण पृथ्वी थिएटर के पास आय का एक स्रोत था। इसमे काम करने वाले कलाकारों को पृथ्वीराज कपूर मासिक वेतन दिया करते थे। इसके कलाकार पारिश्रमिकी के रुप में वेतन तो प्राप्त करते थे परन्तु इप्टा के कलाकारों की भाँति ये कहीं भी कार्य करने को स्वंत्रत नही थे क्योंकि पृथ्वी थिएटर में भर्ती होने से पूर्व ही पृथ्वीराज उस कलाकार से एक अनुबंधन किया करते थे। इस अनुबंधन के अनुसार उनकी कुछ शर्ते हुआ करती थी। इस शर्त के अनुसार पृथ्वी थिएटर में कार्य करते हुए कोई भी कलाकार अन्यत्र कहीं, किसी और के लिए कार्य नहीं कर सकता था। इसके साथ ही साथ इस दौरान कलाकार के द्वारा जो कुछ भी लिखा या प्रस्तुत किया जायेगा, वह पृथ्वी थिएटर का होगा जिसका प्रयोग कोई दूसरा पृथ्वीराज कपूर के इजाजत के बिना नहीं कर सकता था, स्वयं वह कलाकार भी नहीं जो उसे रचा है।

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने निरंतर कई वर्षों तक अपने नाटकों का प्रदर्शन देश के विभिन्न क्षेत्रों में करते हुए एक 'राष्ट्रीय रंगमंच' को विकसित करने का प्रयास किया। इन दोनों को 'राष्ट्रीय रंगमंच' कहने के पीछे कई कारण हैं, जो निम्नवत् है –

पहला कारण यह है कि ये दोनों रंगमंडली देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपने नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे। इन दोनो ने प्रांतीयता का अतिक्रमण करते हुए एक प्रांत की समस्या को पूरे राष्ट्र की समस्या के रुप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। जिसका उदाहरण 'नवान्न' नाटक का प्रदर्शन है , जिसे इप्टा ने बंगाल के अकाल को और उससे उत्पन्न समस्या को सिर्फ बंगाल तक सीमित नहीं रखा अपितु उसे पूरे राष्ट्र की समस्या के रुप में लोगों के समक्ष रखा।

दूसरा कारण यह है कि इनके रंगमंडली में विभिन्न प्रांतों के कलाकार जुड़े हुए थे। जैसे – दशरथलाल जी बिहार से थे, उषा जी बंगाल से थी तो प्रेम धवन पंजाब से संबंध रखते थे। इतना ही नहीं इसके कलाकार विभिन्न कार्य क्षेत्र से भी जुड़े थे। जैसे – इसके पहले अध्यक्ष एन एम जोशी मजदूर नेता थे। महासचिव अनिल डी सिल्वा निर्देशिका थीं। संयुक्त सचिव विनय रॉय गीतकार और गायक थे तो कोषाध्यक्ष ख़्वाजा अहमद अब्बास लेखक थे।

तीसरा और मुख्य कारण यह है कि इनके नाटकों के केन्द्र में राष्ट्रीय महत्व के ज्वलंत मुद्दे हुआ करते थे ना कि अश्लीलता एवं फूहड़पन।

जहाँ इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर अपने नाट्य विषयों के स्तर पर एक- दूसरे से काफी समानता रखते थे वहीं दूसरी ओर ये दोनों रंगमंड़लियां शिल्प के स्तर पर एक – दूसरे से काफी भिन्नता रखते थे। इस भिन्नता के पीछे कहीं न कहीं एक कारण धन था। क्योंकि इप्टा एक अव्यावसायिक रंगमंडली थी इसलिए उसके पास धन का अभाव था। इस धनाभाव के कारण इप्टा अपने पूर्ववर्ती पारसी थिएटर के भाँति मंचसज्जा हेतु अधिक तड़क – भड़क और तामझाम नहीं करता था। इसके विपरीत इस धनाभाव की परिस्थिति में भी इप्टा ने खूब नये-नये प्रयोग किये। इसका अत्यधिक बल यथार्थवादी शैली को अपनाने पर था। इसलिए यह अपने मंचन के दौरान रंगमंच को खूब सजाने के बजाय नाटक के विषय के अनुसार उसके मर्म को जनता तक उसी रुप में पहुँचाने हेतु मंच को यथार्थ रुप प्रदान करता था। उदाहरण के लिए – इप्टा मँहगे पर्दे के स्थान पर जूट का बोरा तथा टाट – पट्टी, सादे काले पर्दे इत्यादि का प्रयोग मंच को सजाने के लिए करता था। जबकि पृथ्वी थिएटर के जनक पृथ्वीराज कपूर थिएटर के स्थापना के वक्त सिनेमा जगत की एक बड़ी हस्ती बन चुके थे। उनके पास इप्टा की भांति धन का अभाव नहीं था। इसके अतिरिक्त वह अपने पूर्ववर्ती पारसी थिएटर के तड़क – भड़क से थोड़ा प्रभावित भी थे इसलिए उन्होने मंचन के दौरान मंच को तड़क – भड़क रुप में सजाने पर अधिक बल दिया। इसका कारण यह भी था कि पृथ्वी थिएटर व्यावसायिक था

और उसे दर्शकों को आकर्षित करना था । शायद इसलिए भी पृथ्वी थिएटर ने मंच सज्जा पर विशेष ध्यान दिया।

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर ने रंगमंच को एक नया स्वरुप प्रदान किया। इन दोनों ने यह साबित कर दिया कि रंगमंच महज मनोरंजन का एक साधन नहीं है अपितु जनता तक अपनी बात को पहुँचाने का एक सशक्त माध्यम भी है। इन दोनों ने रंगमंच को समाज में एक सम्मानजनक स्थान दिलवाया। इनके स्थापना के पूर्व हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच के लिए कार्य करने वाले कलाकारों को नचनियाँ और गवैया समझा जाता था। समाज में उन्हे हेय दृष्टि से देखा जाता था। कुलीन घरों के लोग अपने बच्चों को इसमे नहीं भेजते थे। रंगकर्म में कार्य करने वाली लड़कियों को वेश्या तक समझा जाता था। इनके दृष्टि में रंगकर्म एक निम्न कोटि का कार्य था। पारसी थिएटर ने अपने कृत्यों से इनके इस अवधारणा को और बढ़ावा दिया। रंगकर्म के प्रति तत्कालीन समाज के इस नजरिये को बदलने का कार्य इन दोनों रंगमंडलियों के कलाकारों ने किया क्योंकि ये कलाकार अच्छे – अच्छे परिवार से जुड़े थे। कई कलाकार तो राजघराने परिवार से भी थे । इन रंगमंड़लियों के कलाकारों ने अपने परिवार की महिलाओं को भी रंगकर्म से जोड़ा और इस तरह रंगकर्म मे कार्य करने वाली महिला जो पूर्व में वेश्या समझी जाती थी, अब अपने अभिनय से स्वयं को एक बेहतरीन अदाकारा के रुप में स्थापित कर रही थी। ये महिलाएँ न सिर्फ साधारण परिवार से थी अपितु राजघराने से भी सम्बन्ध रखती थी। उदाहरण के लिए – ज़ोहरा सहगल, उज़रा मुमताज इत्यादि।

इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर की इन महत्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ – साथ इनकी कुछ कमजोरियाँ भी थी, जो आगे चलकर इन रंगमंडलियों के लिए घातक साबित हुई। इप्टा, जो एक अव्यावसायिक रंगमंडली थी । इससे जुड़े सभी कलाकार अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ थे। लेकिन यह इप्टा का दुर्भाग्य था कि इन विशेषज्ञ कलाकारों को देने के लिए उसके पास धन नहीं था। इप्टा पूर्व में ही घोषित कर चुका था कि जो भी कलाकार उससे जुड़ेगें, उन्हे देने के लिए उसके पास धन नहीं रहेगा। जो भी इस मंडली से जुड़े , वह देश सेवा के उद्देश्य से ही जुड़े। इससे जुड़ने के बाद कलाकारों को देश सेवा का अवसर तो प्राप्त हुआ परन्तु बिना धन के जीवनयापन करना कठिन हो गया। अत: इन कलाकारों को जीविकोपार्जन हेतु अन्य स्थानों पर भी कार्य करना पड़ता था जिसके कारण धीरे- धीरे इप्टा को कम समय दे पाते थे।

इप्टा की एक सीमा यह थी कि इसके कई कलाकार फिल्मों की दुनिया में काफी मशहूर हो चुके थे। अब उनमे कुछ प्राप्त किये बिना इप्टा में काम करने का जज्बा नहीं रह गया था। शायद इसीलिए वे कलाकार धीरे- धीरे इप्टा को छोड़ने लगे थे।

इप्टा के साथ एक समस्या यह हुई कि इसका मुख्य एजेंडा था – ब्रिटिश शोषण के विरुद्ध एक सांस्कृतिक आंदोलन करते हुए भारतीय जनता को जागरुक करना तथा ब्रिटिश गुलामी से उन्हे मुक्त करवाना लेकिन जब 15 अगस्त 1947 ई. को देश आजाद हुआ तो इप्टा का मुख्य एजेंडा ही समाप्त हो गया। शायद इसीलिए इप्टा स्वयं को लक्ष्य विहीन महसूस करने लगा।

रही बात पृथ्वी थिएटर की तो जहाँ एक ओर पृथ्वीराज कपूर इस थिएटर की ताकत थे, वहीं दूसरी ओर पृथ्वीराज कपूर ही इस थिएटर के लिए सबसे बड़ी कमजोरी साबित हुए। इसका कारण यह था कि पृथ्वीराज कपूर अपने समय के एक लोकप्रिय कलाकार थे। फ़िल्मों में काम करने के कारण ये बहुत बड़ी हस्ती बन चुके थे। जनता इनकी दीवानी थी, लोग इन्हे सामने से देखने के लिए हमेशा लालयित रहते थे। इसलिए पृथ्वीराज कपूर का कद अन्य कलाकारों की अपेक्षा अधिक बड़ा था। जनता पर इनकी बातों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों को अन्य लेखकों के साथ मिलकर स्वयं लिखते थे। इन्होने कलाकार नाटक का तीसरा अंक स्वयं लिखा था। वे अपने नाटकों के निर्माता, निर्देशक एवं मुख्य अभिनेता स्वयं हुआ करते थे। पृथ्वी थिएटर ने लगभग सोलह वर्षों तक अपने नाटकों का मंचन देश के कई प्रांतों में किया परन्तु इसकी विशेष बात यह थी कि उन नाटकों में मुख्य भूमिका पृथ्वीराज कपूर ने ही निभाया। जबकि पृथ्वी थिएटर नाटकों के अभ्यास के दौरान किसी एक भूमिका के लिए दो या तीन कलाकारों को तैयार करता था। इसका कारण यह था कि कभी किसी कारणवश वह कलाकार मंचन न कर सके तो दूसरा कलाकार उस भूमिका को निभा सके। लेकिन ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि जो भूमिका पृथ्वीराज कपूर द्वारा निभायी जा रही हो, उसकी तैयारी भी किसी अन्य कलाकार से करवायी गई हो।

पृथ्वी थिएटर की पृथ्वीराज कपूर पर इतनी अत्यधिक निर्भरता कहीं न कहीं थिएटर के बंद होने का एक कारण बनी। क्योंकि जब पृथ्वीराज कपूर का स्वास्थ्य खराब होने लगा और उनकी आवाज थिएटर करने की इजाजत नहीं दे रही थी तो उस समय थिएटर के पास पृथ्वीराज कपूर का स्थान लेने वाला कोई कलाकार नहीं था।

पृथ्वी थिएटर की दूसरी कमजोरी यह थी कि इसने निरंतर सोलह वर्षों तक सिर्फ आठ नाटकों का मंचन बार- बार किया। जिसके कारण इसमें एकरसता का समावेश हो गया। जनता बार – बार वहीं नाटक देखकर ऊबने लगी थी। जनता कुछ नया चाहती थी जोकि पृथ्वी थिएटर के पास नहीं था। इस बात को पृथ्वीराज

कपूर भी बेहतर तरीके से समझ रहे थे। शायद इसीलिए उन्होने अशोक और टीपू सुल्तान जैसे नाटक लिखवाने प्रारम्भ किये थे परन्तु यह थिएटर का दुर्भाग्य था कि इसका मंचन नहीं हो सका।

अपनी-अपनी कुछ सीमाओं और कमजोरियों के कारण इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर एक वक्त के पश्चात् शिथिल होने लगा था। परन्तु इनके द्वारा विकसित किये गये मूल्यों का प्रभाव कभी भी समाप्त नहीं हुआ।

यद्यपि इप्टा ने अपने कलाकारों को कोई पारिश्रमिकी नहीं प्रदान की परन्तु इसने राष्ट्र को बेहतरीन लेखक, गीतकार, संगीतकार, कवि इत्यादि प्रदान की। इप्टा देश की आजादी के बाद थोड़ा डगमगाया अवश्य था परन्तु उसके वंशजों ने आज तक उसकी मशाल को प्रज्वलित कर रखा है। आज भी इप्टा का सांस्कृतिक जागरण ढाई आखर प्रेम के नाम से अनेक प्रांतों में भ्रमण करते हुए नाट्य मंचन काव्यपाठ, इत्यादि प्रस्तुत कर रहे हैं।

उधर पृथ्वी थिएटर के संस्थापक पृथ्वीराज कपूर आर्थिक तंगी, अपनी बीमारी इत्यादि के कारण 1960 ई. में थिएटर को पूर्णत बंद करने की घोषणा तो कर दी परन्तु उनका कहना था कि थिएटर के कलाकारों के माध्यम से यह थिएटर हमेशा जीवित रहेगा। पृथ्वी थिएटर को पृथ्वीराज कपूर के छोटे बेटे शशि कपूर और बहू जेनिफर ने पुन: प्रारम्भ किया था। जिसे आगे चलकर इन दोनों की बेटी संजना कपूर सम्भालती थी और बाद में बेटा कुनाल कपूर ने सम्भाला। अभी हाल के वर्षों में पृथ्वी थिएटर कपूर परिवार द्वारा बेच दिया गया है परन्तु फिर भी इस थिएटर के नाम से भिन्न – भिन्न शहरों में नाट्य प्रदर्शन किये जाते हैं।

यद्यपि ये दोनों थिएटर वक्त के साथ डगमगाते हुए बनते बिगड़ते रहे परन्तु एक बात तो सत्य है कि इन दोनों ने अपने कलाकारों के भीतर रंगकर्म के प्रति जो लौ जलायी थी , वह आज भी किसी न किसी रुप में प्रज्वलित है .

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची

आधार ग्रन्थ सूची

1. ख़्वाज़ा अहमद अब्बास, मैं कौन हूँ (नाटक) , पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड प्रकाशन

2. नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2013

3. मोचिनेनि वेंकटेश्वर राव (मूल लेखक), विश्वमित्र आदिल एवं सब्बाराव(अनुवादक), दलम (नाटक) , एम्. बी. राव, जन प्रकाशन गृह , बम्बई

4. राजेन्द्र रघुवंशी , पहेली (नाटक) , विश्व साहित्य प्रकाशन, आगरा

5. हबीब तनवीर , जालीदार परदे (नाटक) (स्रोत – नटरंग प्रतिष्ठान)

6. हबीब तनवीर, शतरंज के खिलाड़ी (नाटक) (स्रोत – नटरंग प्रतिष्ठान)

7. पृथ्वीराज कपूर / रमेश सहगल / इन्द्रराज 'आनन्द' , दीवार (नाटक), पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई , प्रथम संस्करण. जुलाई 1952

8. रामानंद सागर / पृथ्वीराज कपूर , कलाकार (नाटक) , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई , प्रथम संस्करण. सितम्बर 1951

9. लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पठान (नाटक), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण.1974

10.लालचन्द्र बिस्मिल, आहुति (नाटक), पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई , प्रथम संस्करण.जून 1950

11.लालचन्द्र बिस्मिल / पृथ्वीराज कपूर , पैसा (नाटक) , पृथ्वी थिएटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण . जनवरी 1954

12. शील, किसान (नाटक) , संस्कार प्रकाशन, कानपुर , प्रथमावृत्ति . 1957

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अजित पुष्कल / हरीशचन्द्र अग्रवाल (सम्पादक) , नाटक के सौ बरस, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2004
2. अपूर्वानंद, साहित्य का एकांत, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण. जनवरी 2008
3. डॉ. गिरीश रस्तोगी, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण.2002
4. डॉ. गिरीश रस्तोगी, बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण. 2015
5. डॉ. गिरीश रस्तोगी, नाटक और रंग परिकल्पना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण. 1992
6. डॉ. गिरीश रस्तोगी, समकालीन हिन्दी नाटककार, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.1978

7. डॉ. चन्दूलाल दुबे, हिन्दी रंगमंच का इतिहास, जवाहर पुस्तकालय प्रकाशन, मथुरा, पहला भाग (हिंदी नाटक मंडलियों का इतिहास).1974
8. डॉ. जयदेव तनेजा, नई रंग- चेतना और हिन्दी नाटककार, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 1994
9. डॉ. जयदेव तनेजा, हिन्दी रंगकर्म दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.1998, द्वितीय संस्करण.2010
10. डॉ. जयदेव तनेजा, रंग – साक्षी : नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा – अनुवीक्षा – रपट, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण. 2015
11. प्रो. जयदयाल, आई गो साउथ विद पृथ्वीराज एंड हिज पृथ्वी थियेटर्स, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण. अक्टूबर 1950
12. जयकुमार जलज, संस्कृत और हिन्दी नाटक रचना और रंगकर्म, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2000
13. जानकीबल्लभ शास्त्री, नाट्यसम्राट श्रीपृथ्वीराज कपूर, निराला निकेतन प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण. अगस्त 1974
14. देवेन्द्र राज अंकुर, रंग कोलाज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2011.देवेन्द्र राज अंकुर, दर्शन प्रदर्शन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2002, दूसरी आवृत्ति . 2013
15. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच का सौन्दर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2006, पहली आवृत्ति.2012
16. देवेन्द्र राज अंकुर, पढ़ते सुनते देखते , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2008

17.डॉ. देवेश शर्मा, हिन्दी रंगमंच के इतिहास में बंबई का योगदान, बंबई हिन्दी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण . 1987

18.देवदत्त शास्त्री (संपादक), पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ, किसलय प्रकाशन, इलाहाबाद

19.डॉ. नरेन्द्र मोहन (संपादक), समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण. 2009

20.नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.1967, चौथी आवृत्ति.2014

21.नेमिचन्द्र जैन, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लि. , दिल्ली, प्रथम संस्करण. 1978

22.नारायण प्रसाद 'बेताब' , बेताब चरित, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.1937, द्वितीय संस्करण.2002, तृतीय संस्करण.2012

23.नसरीन मुन्नी कबीर, गुरुदत्त हिन्दी सिनेमा का एक कवि, प्रभात प्रकाशन. नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.2010

24.प्रतिभा अग्रवाल (संपादक) अभिताभ श्रीवास्तव (सहयोगी संपादक), भारतीय रंगकोश संदर्भ कोश, खण्ड – एक, रंग प्रस्तुतियाँ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, नाट्य शोध संस्थान,कोलकाता, प्रथम संस्करण. 2005

25.पं. राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक – काल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण. 2004, द्वितीय संस्करण.2012

26.ब्रजनंदन दास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली (भाग दो) नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन, प्रथम संस्करण.1935

27.बलराज साहनी, मेरी फिल्मी आत्मकथा, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.1974

28.बलवंत गार्गी, रंगमंच, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.1968

29.महेश आनन्द / देवेन्द्र राज अंकुर (संपादक) , रंगमंच के सिद्धान्त, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण.2008 , पहली आवृत्ति.2014

30.मधु जैन, कपूरनामा: कपूर खानदान का फ़िल्मी सफर (अनुवादक – शिवानी खरे), पेंगुइन बुक्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण.2005

31.महेश आनन्द , रंग दस्तावेज : सौ साल, खण्ड – एक (1850 – 1950), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.2007

32.महेश आनन्द, रंग व्यक्तित्व माला (रेखा जैन), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण. 2010

33.योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.2004, द्वितीय संस्करण.2012

34.रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.1984

35.रामविलास शर्मा, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण.1986, चौथी आवृत्ति.2011

36.लाल बहादुर वर्मा / शशि प्रकाश (संपादक), सांस्कृतिक आंदोलन की दिशा, राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा प्रकाशन, गोरखपुर

37.लक्ष्मीनारायण भारद्वाज, रंगमंच लोकधर्मी-नाट्यधर्मी, वी. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण.1992

38.विपिन चन्द्रा, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण . 2008

39.शेल्डोन चैनी (लेखक), श्रीकृष्ण दास (अनुवादक), रंगमंच, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्कण . 1995

40.सोमनाथ गुप्त , पारसी थिएटर उद्भव और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण.1981

41.डॉ. सुरेश अवस्थी, हे सामाजिक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2000

42.हृषीकेश सुलभ, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण . 2009

43.Subrata Bannerjee (ed.): Culture and Communication, Patriot Publishers, Delhi, 1985.

44.Sudhi Pradhan (ed.): Marxist Cultural Movement in India, volume – 1 (1936-1947), Santi Pradhan publisher, Calcutta, July 1979.

45.Sudhi Pradhan (ed.): Marxist Cultural Movement in India, volume – 2 (1947-1958), Kunal Kumar Roy publisher, Calcutta, first edition. November 1982.

46.Sudhi Pradhan (ed.): Marxist Cultural Movement in India, volume- 3 (1943-1964), Santi Pradhan publisher, Calcutta, first edition. January 1985.

पत्र – पत्रिकाएं एवं वेबसाइट

1. नटरंग, सम्पादक – नेमिचन्द्र जैन, सितम्बर – 2003, खंड – 18, अंक - 71
2. नटरंग, संस्थापक सम्पादक – नेमिचन्द्र जैन, सम्पादक – अशोक वाजपेयी / रश्मि वाजपेयी, जुलाई – दिसम्बर 2010, हबीब तनवीर विशेषांक, खंड – 22, अंक- 86-87
3. राजेन्द्र पांडे, लेख – नाटक द्वारा जनता से संवाद, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 9 अक्टूबर 1994
4. शम्सुल इस्लाम, लेख – एक सांस्कृतिक आंदोलन के पचास वर्ष, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 22 जनवरी 1995
5. Aruna Chakravorty, Article – Golden lights, The Indian express, 12 June 1994.
6. Deepa Gahlot, Article – Golden And Going Strong , The Sunday Times Of India , 31 May 1992.
7. G. Srihari, Article – A Great Cultural Revival, The Hindu , 11 January 1987.
8. Jyoti Punwani, Reports from Bombay – Chronicling a movement, The Pioneer, 25 May 1994
9. Nirupama Dutt, Rhythm in Water, Hindustan Times, 1 October 2000.
10. Piali Banerjee, Article – Happy Birthday, Dear IPTA, The Times of India, 13 May 2001.
11. Pritam Saini, Article – How Indian is our People's Theatre, The Tribune, 27 October 1996.

12. Vandana Kalra, Article – Capital's Stage Ready For First Prithvi Festival, The Indian Express, 2 december 2006.

13. http://hi.wikipedia.org/wiki / भारतीय जननाट्य संघ

14. Bharatdiscovery.org/India/ भारतीय जननाट्य संघ – भारतकोश

15. www.iptaindia.in

16. Rangwimarsh.blogspot.com/2015/12/ipta – introduction.html

17. http://www.outlookhindi.com/story/521

18. www.bbc.com/hindi/india/151116 - ipta-- main - production इप्टा के 11 दिलचस्प नाटकों की झलक

19. www.prithvitheatre.org